साहित्यका नया परिप्रेक्ष्य

डॉ० रघुवंश

*

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य

साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य

डॉ० रघुवंश

*

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक-१७४
सम्पादक एवं नियामक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन

Lokodaya Series : Title No. 174
SAHITYA KA NAYA PARIPREKSHYA
DR. RAGHUVANSH
(Literary Criticism)
Bharatiya Jnanpith Publication

Second Edition 1968
Price Rs. 5.00

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
प्रधान कार्यालय
९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५
विक्रय-केन्द्र
३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

द्वितीय संस्करण १९६८
मूल्य ५.००

सन्मति मुद्रणालय,
वाराणसी-५

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक इधर के वर्षों में लिखे गये मेरे लेखों का संकलन भी है और चिन्तन की एकसूत्रता तथा विषय-वस्तु की एकरूपता के कारण एक कार्य भी है। १९४२ में मैं इलाहाबाद आया। उस के पूर्व पाठक के रूप में हिन्दी साहित्य से व्यापक परिचय होने पर भी राजनीतिक चेतना तथा आन्दोलन से अधिक गहरे स्तर पर सम्बद्ध रहा था, पर इलाहाबाद के साहित्यिक वातावरण में मेरा समसामयिकता का बोध साहित्य के स्तर पर अधिकाधिक संघटित होता गया! यहाँ हिन्दी के सभी श्रेणी के लेखकों और आलोचकों से मिलने-जुलने तथा विचार-विनिमय करने का अवसर मिला। साथ ही युवक लेखकों का हमारा एक ऐसा वृत्त भी रहा है, जिस के साथ पिछले साहित्यिक चिन्तन के आन्दोलनों से मेरी भी गहरी संसक्ति रही है।

परिणाम स्वरूप समसामयिक साहित्य पर बहुत-कुछ सोचता-समझता रहा हूँ, प्रेरित किये जाने पर लिखता भी रहा हूँ। समसामयिकता का भाव-बोध क्योंकि समस्त आधुनिक युग से सम्बद्ध है, भारतेन्दु युग से हिन्दी का आधुनिक काल माना जाता है, इस लिए भूमिका-रूप में भारतेन्दु, द्विवेदी, छायावादी युगों का विवेचन-विश्लेषण इसी प्रसंग में यत्र-तत्र हुआ है। समसामयिक लेखकों तथा कवियों के भाव-बोध का ग्रहण

करना और उन की रचना-प्रक्रिया को समझ सकना एक प्रकार से आसान है, क्यों कि उन का यह भाव-बोध युग-बोध का अंग है और इस आधार पर रचना-प्रक्रिया का अनुभावन भी सरल हो जाता है। परन्तु इस सम्बन्ध में सब से बड़ी कठिनाई होती है वैयक्तिक आग्रह की, जिसे प्राय: पूर्वाग्रह के रूप में आरोपित किया जाता है।

समसामयिक लेखक और आलोचक का सम्पर्क, रुचि, मान्यता तथा पक्ष अधिक व्यक्तिगत और प्रत्यक्ष होता है। इस सम्बन्ध में सैद्धान्तिक चिन्तन का गम्भीर और सूक्ष्म ऊहापोह और समसामयिक साहित्यिक प्रतिमानों का अपेक्षाकृत शाश्वत साहित्यिक मूल्यों के सन्दर्भ में विवेचन तथा निर्धारण समीक्षक की दृष्टि को निर्वैयक्तिक बनाने में सहायक होता है। इस के अतिरिक्त विवेचन में निर्णय न ले कर विश्लेषण तथा व्याख्या कर के भी इस दायित्व का निर्वाह किया जा सकता है। प्रस्तुत अध्ययन के सभी अंशों में उपर्युक्त दोनों पद्धतियों से समसामयिक भाव-बोध के विवेचन का प्रयत्न किया गया है।

चिन्तन की एकसूत्रता और विषय-वस्तु की एकरूपता के बावजूद संयोजन तथा रचनात्मक संघटन के अभाव में इस पुस्तक में अनेक कमियाँ और दोष (एक कार्य के रूप में) देखे जा सकते हैं। पर इस का स्पष्ट कारण है अलग-अलग अंशों का भिन्न समयों में तथा मन:स्थितियों में स्वतन्त्र लेख के रूप में लिखा जाना। कुछ असंगतियाँ और विरोधाभास भी निकल आयें तो आश्चर्य नहीं, क्यों कि इस बीच मैं अपने चिन्तन में निरन्तर संलग्न रहा हूँ और मैं उन्हें अपनी आज की स्थिति तक पहुँचने के अनेक सोपानों के रूप में स्वीकार कर लेता हूँ।

— *रघुवंश*

इलाहाबाद

९ जुलाई १९६३

अनुक्रम

७

साहित्यिक मूल्य

मूल्यगत संक्रमण और समीक्षा का मानदण्ड ५
दायित्व और स्वतन्त्रता का अविच्छिन्न मूल्य १९
साहित्य का प्रगतिशील मानदण्ड ४१
साहित्य में प्रयोगवाद ५४
रस-सिद्धान्त और आधुनिक मनोविज्ञान ६४

आधुनिक काव्य

आधुनिक युग का पूर्वार्द्ध (१८५०-१९१८) ८९
छायावाद से प्रयोग-युग तक (१९१८-१९४७) १०४
स्वातन्त्र्योत्तर काव्य की दिशा १२६
नयी कविता की समसामयिक भावभूमि १५२
नयी कविता का सामाजिक परिवेश २०४

नयी प्रवृत्तियाँ

नकेन के प्रपद्य २१३
पुरानी कथा और नयी संवेदना २२४
नयी कविता की समस्या २३७
युगजीवन की सम्पृक्ति २४९
आधुनिक काव्य की ऐन्द्रजालिक परिणति २६०
आधुनिकता का नया स्वर २८९
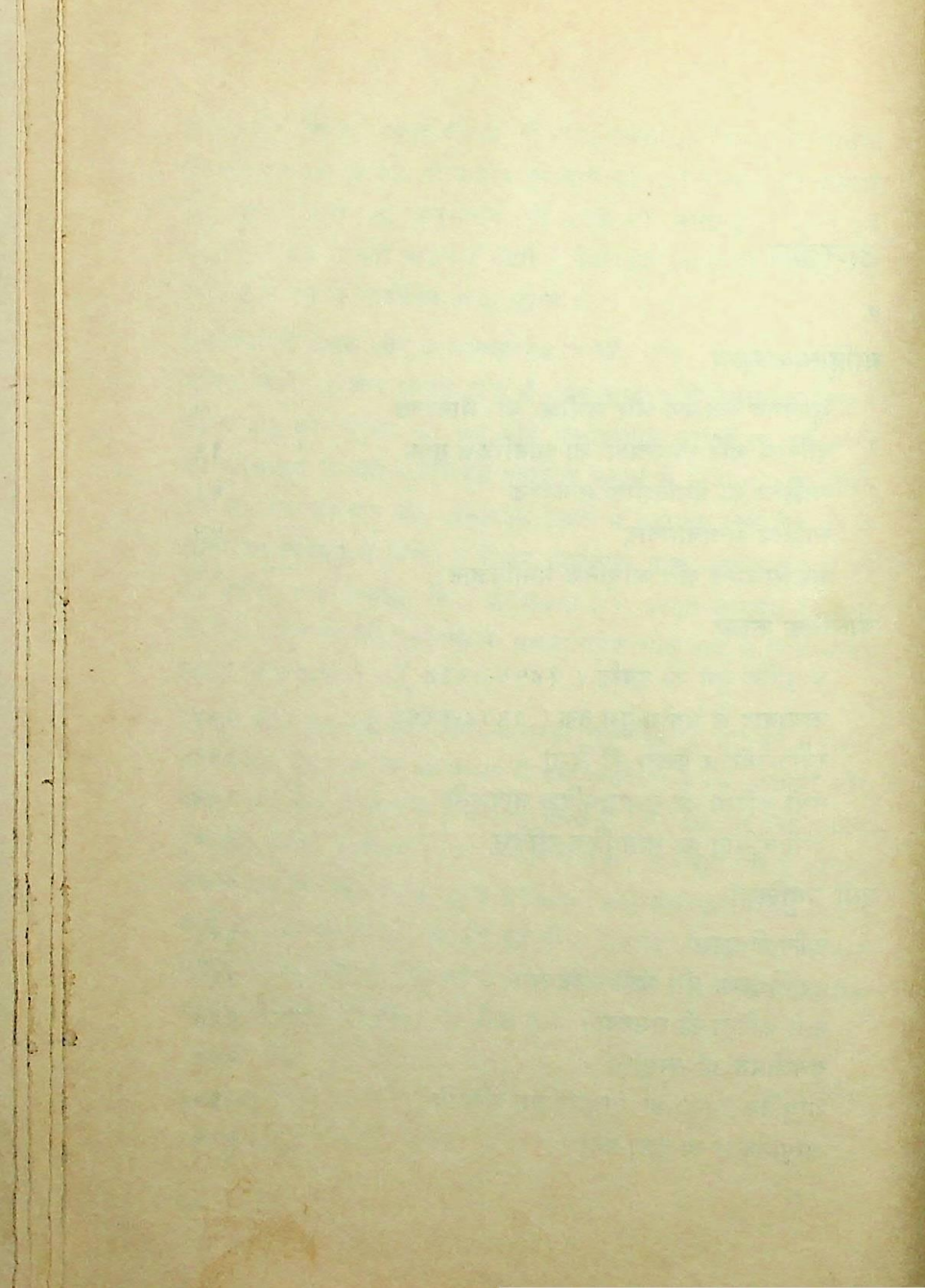
साहित्यका
नया परिप्रेक्ष्य

साहित्यिक मूल्य

मूल्यगत संक्रमण और समीक्षाका मानदण्ड

आजकी स्थितिमें जब हम यह कहते हैं कि साहित्यका दायित्व बढ़ गया है, उस समय यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इसमें समीक्षाके दायित्वका प्रश्न भी अन्तर्निहित है। अन्ततोगत्वा साहित्यके मूल्योंकी व्याख्या करना, पाठकको उन मूल्योंके विषयमें अन्तर्दृष्टि देना तथा साहित्यकारको उसके उपलब्ध मूल्योंके प्रति जागरूक करना ही समीक्षाका कर्त्तव्य है। समीक्षाके तीन आयामों और उनके सापेक्ष महत्त्वपर विचार करने-भरसे समीक्षाका दायित्व समाप्त नहीं हो जाता।[1] ये आयाम समीक्षात्मक पद्धतियोंसे सम्बन्धित हैं। इनसे केवल इतना ही समझा जा सकता है कि समीक्षाकी प्रणालीको किन-किन दृष्टि-बिन्दुओंसे नियोजित करना चाहिए। पर समीक्षाकी मूल समस्या आज भी ज्योंकी त्यों रह जाती है। प्रश्न है कि समीक्षा इस प्रकार साहित्यके किन मूल्योंकी व्याख्या या स्थापना करती है? ये मूल्य क्या हैं? ये मूल्य परिवर्तनशील हैं या स्थायी? इन मूल्योंके विषयमें, उनकी प्रकृतिके सम्बन्धमें विचार कर लेना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि इन मूल्योंके अनुसार ही समीक्षाका मानदण्ड निर्धारित किया जा सकता है। बिना साहित्यके मूल्योंकी स्थापनाके समीक्षात्मक मानदण्डका निरूपण भी नहीं किया जा सकता और यदि साहित्यके मूल्य युग-युगमें परिवर्तित होते रहते हैं, तो युग-युगकी समीक्षाके प्रतिमान एक-सा नहीं हो सकते। समीक्षाके मानदण्डके स्थायित्वसे यह भी सिद्ध होता है कि साहित्य-द्वारा अभिव्यक्त मूल्योंमें स्थायित्वका

---

१. आलोचना; अंक ७ के सम्पादकीयमें प्रतिपादित।

भावना है। परन्तु मूल्योंके प्रश्नको उठानेके पहले हम यहाँ बिना विवादमें पड़े साहित्यमें मूल्योंकी स्वीकृतिकी समस्यापर विचार कर लेना चाहेंगे।

स्वीकृति-अस्वीकृतिकी समस्या मूल्योंके सन्दर्भमें समीक्षाकी आधारभूत समस्या है। यह ठीक है कि प्लेटो और भरत मुनिसे लेकर १९वीं शतीके पहले तक साहित्यकी प्रयोजनीयतापर किसीने स्पष्ट रूपसे अविश्वास नहीं किया था। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि आधुनिक युरॅपकी १९वीं शतीके 'कला कलाके लिए' सिद्धान्तकी अवहेलना की जा सकती है या अन्य सौन्दर्यवादी सिद्धान्तोंकी महत्ताको भुलाया जा सकता है। यह युरॅप-की शताब्दी क्या ज्ञान-विज्ञानकी प्रगतिकी दृष्टिसे और क्या जीवन तथा साहित्य-सम्बन्धी गम्भीर चिन्तनकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है? आजके जीवनमें जो मूल्यगत संक्रमणकी स्थिति जान पड़ती है, उसका सूत्रपात या यों कहें कि उसके कारणोंका आविर्भाव इसी शताब्दीसे होता है, इस कारण भी इस युगके दृष्टिकोणकी "उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्लेटो, ऐरिस्टॉट्ल, एरस्टास्थनीज़ आदि ग्रीक विचारकोंसे लेकर मध्य युगके धार्मिक विचारकों तक और पुनरुत्थान युगके स्टीफ़न गोसन, स्पेन्सर, मिल्टनसे लेकर रोमैण्टिक युगके पीकाक, शेली आदि तक तथा आधुनिक युगमें मैथ्यू आर्नल्ड, तॉल्सतॉयसे लेकर बर्नर्ड शॉ, सॅमरसेट मॉम तकने साहित्यकी प्रयोजनीयकता स्वीकार की है। परन्तु प्रयोजनको स्वीकार करते हुए भी इन विभिन्न आलोचकोंके मूल्य-सम्बन्धी दृष्टिकोणमें भारी अन्तर है। प्लेटोने साहित्यको राज्यसे निष्कासित किया था, क्योंकि वह साहित्यको अपनी जीवन-सम्बन्धी स्थापनाओंके प्रतिकूल समझता था। इसी प्रकार डीगो रीवेरा और प्लेखानॅव-जैसे तानाशाही विचारधाराके समर्थक साहित्यकी प्रचारात्मक उपयोगिताको ही स्वीकृति देते हैं। इनके विपरीत ऐरिस्टॉट्लने अनुकरणात्मक अभिव्यक्तिके रूपमें साहित्यको जीवन-के यथार्थ-रूपमें स्वीकार किया, शेलीने उसे श्रेष्ठ और आनन्दित मनकी सर्वश्रेष्ठ आनन्दोल्लासके क्षणोंकी अभिव्यक्तिके रूपमें माना है, तॉल्सतॉयने

साहित्यके आचरणात्मक प्रभावपर बल दिया और सॅमरसेट मॉमने कलाका मूल्य सौन्दर्यमें स्वीकार न करके सुन्दर व्यवहार माना है। प्रयोजन-सम्बन्धी इस विभिन्नतामें इतनी समानता तो है ही कि पाठकको प्रभावित करनेकी शक्तिके आधारपर इन विचारकोंने साहित्यमें मूल्योंकी स्थापना की है।

'कला कलाके लिए' सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेवाले विचारकोंने साहित्यके प्रयोजनको अस्वीकार किया। विक्टर कॉज़न तथा विक्टर ह्यूगोके विचारको गातियरने स्पष्ट शब्दोंमें प्रतिपादित किया और बादमें गॉकूत, रेनान, फ़्लोबेअर, बॉदलेयर आदिने इस सिद्धान्तको किसी-न-किसी रूपमें स्वीकार किया तथा इंग्लैण्डमें इसके प्रवर्त्तक वॉल्टर पेटर तथा स्वेनबर्न आदि रहे हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रयोजनको अस्वीकार करके इन साहित्य-शास्त्रियों और साहित्यकारोंने साहित्यसे मूल्योंको बहिष्कृत कर दिया है। सामान्यतया इन्होंने प्रयोजनके रूपमें साहित्यमें किसी आचरणात्मक या सामाजिक मूल्यको स्वीकृति नहीं दी है। विद्वानोंका कहना है कि 'कला कलाके लिए' सिद्धान्तवादियोंने साहित्यमें आचरण-सम्बन्धी मूल्योंको अस्वीकार करनेमें या तो अनाचार (इम्मॉरल) अथवा निराचार (ऐमॉरल) का प्रतिपादन किया है और इस प्रकार उन्होंने एक तरहसे आचरणात्मक प्रयोजनको साहित्यमें मान्यता ही दी है। वास्तवमें महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन विचारकोंने इस प्रकार साहित्यके मूल्यको नैतिक मूल्यसे भिन्न करके देखनेका प्रयत्न किया। वैसे जब लॉंगिनस काव्यको आत्माकी प्रतिध्वनि कहता है अथवा क्रोचे अभिव्यंजनाके रूपमें काव्यकी व्याख्या करता है, उस समय यह भी नहीं कहा जा सकता कि अन्य सौन्दर्यवादी विचारकोंकी दृष्टिमें यह बात कभी आयी ही नहीं।

प्रयोजनकी दृष्टिसे साहित्यपर विचार करनेवाला समीक्षक या तो जीवनके बदले हुए मूल्योंके साथ अपने मानदण्डको बदलेगा, अथवा धार्मिक रूढ़िवादी और मार्क्सवादीके साथ सामाजिक नियमोंको अटल मानकर उनके अनुसार अपने मानदण्डको स्थायी स्वीकार करेगा। इसके

विपरीत अपनी समस्त सीमाओंके बावजूद कलावादी समीक्षक साहित्यके कुछ ऐसे मूल्योंका संकेत देता है, जो जीवनके साधारण मूल्योंसे असम्बद्ध और असम्पृक्त हैं। इस प्रकार यह सारा विवाद इस बिन्दुपर केन्द्रित हो जाता है कि साहित्यके स्थायी मूल्य नैतिक आचार तथा अन्य सामाजिक मर्यादाओंसे सम्बद्ध हैं अथवा नहीं ? सौन्दर्यवादियोंने अपने सिद्धान्तोंका प्रतिपादन अत्यन्त कुशलतासे किया है, किन्तु वे इस स्थापनाको निर्मूल नहीं कर पाये हैं कि साहित्य और जीवनका सम्बन्ध अक्षुण्ण रहा है। ऐसी स्थितिमें जीवनके बदलते हुए मूल्योंके साथ साहित्यके समीक्षात्मक मूल्योंके विकसित होनेकी सम्भावना बनी रहती है। ग्रीक-युगके जीवन्त समाज, सशक्त साहित्य, समुन्नत संस्कृति तथा सचेष्ट आलोचना-शास्त्रमें सन्तुलन है तो मध्य-युगके साधारण समाज, नीरस साहित्य, पतनोन्मुखी संस्कृतिके साथ आलोचनाका दृष्टिकोण रूढ़िवादी है। इसी प्रकारका अन्तर संस्कृतके महाकाव्योंके युग तथा हिन्दीके भक्ति-कालमें माना जा सकता है। एकमें तत्कालीन जीवनके अनुरूप अलंकरणका सौन्दर्यबोध है तो दूसरेमें साहित्यिक भक्ति-भावनाके अनुरूप रस-सिद्धान्तका प्रतिपादन हुआ है। इसी प्रकार रीतिकालीन अपमिश्रित समाज तथा साहित्यके अनुरूप उस कालकी रूढ़िबद्ध समीक्षा-पद्धति है। पर इस समानताको बहुत दूर तक सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि जैसा आगे देखा जायेगा, न जीवनके मूल्य मूलतः बदलते हैं (विकसित अवश्य होते हैं) और न साहित्यगत मूल्यों और तत्कालीन सामाजिक मूल्योंकी तद्रूपता ही अनिवार्य है। यह भ्रम युरॅपकी १९वीं शतीके क्रान्तिकारी युगके कारण पैदा हुआ है, जिसमें एकाएक पूँजीवाद, व्यक्तिवाद तथा विज्ञानवादी भौतिकवादके कारण मानवीय जीवनके मूल्योंमें अस्थिरता आ गयी थी। उस कालकी मूल्यगत अस्थिरता और संघर्षको देखकर उस युगका व्यक्ति समझने लगा था कि वह जीवनके मूल्योंका आमूल परिवर्तन करने जा रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि इसका प्रभाव उस युगके साहित्य और उनके समीक्षात्मक

दृष्टिकोण दोनोंपर समान रूपसे पड़ा है। वर्तमान युगके मूल्यगत संक्रमणको भूमिका विचारों और विश्वासोंके इस क्रान्तिकारी युगमें प्रारम्भ हो गयी थी, जिस संक्रान्तिकी परिस्थितिमें आज युरॅप पुनः स्थायी मूल्योंकी खोजमें है। यहाँ यह निश्चित रूपसे कह देना आवश्यक है कि हमारे देशमें न तो युरॅप-जैसा विश्वासहीनताका युग कभी रहा है और न आज यहाँ युरॅपके अर्थमें मूल्यगत संक्रमणकी स्थिति ही है। यह संक्रमण हमारे लिए भावावेशकी परिस्थिति नहीं है, बौद्धिक स्थिति-मात्र है। (सम्भवतः इसी कारण इस विषयमें हमारा दृष्टिबिन्दु अधिक असम्पृक्त रह सकेगा।) फिर भी युरॅपकी इस समस्याको हम निरपेक्ष भावसे नहीं देखते रह सकते, क्योंकि उसका समाधान हमारे और समस्त विश्व साहित्यके भविष्यके लिए उपयोगी सिद्ध होगा। इस दृष्टिसे युरॅपकी स्थितिका संक्षिप्त पर्यवेक्षण आवश्यक है।

युरॅपमें आधुनिक युग वैज्ञानिक उन्नतिके साथ प्रारम्भ हुआ। १९वीं शतीमें भौतिक विज्ञानकी आश्चर्यजनक सम्भावनाओंसे युरॅप चकित हो गया। उसी समय औद्योगिक क्रान्तिके साथ पूँजीवादी व्यवस्थाका युग प्रारम्भ हुआ, जिसके प्रभावमें सामन्ती सभ्यताका अन्त हो गया। राष्ट्रीयता तथा प्रजातन्त्रकी भावनाके विकासके साथ विचार-स्वातन्त्र्यकी ऐसी महत्ता हुई कि व्यक्तिने अपनेको प्रधानता देकर धर्म, दर्शन, समाज, संस्कृति और साहित्यके क्षेत्रमें वैज्ञानिक अथवा तार्किक दृष्टिसे विचार करना शुरू किया। भौतिक विज्ञानोंके साथ समाजशास्त्र, मनोविज्ञान तथा मानव-शास्त्र आदि क्षेत्रोंमें वैज्ञानिक दृष्टिकोणके विकसित होनेसे इस युगमें प्राचीन स्थापनाओं, मर्यादाओं और मूल्योंमें क्रान्ति उपस्थित हुई। यह आधुनिक युग अपनी वैज्ञानिक दृष्टि तथा मशीनी सभ्यताके साथ पिछले समस्त युगोंके सामने प्रश्न-चिह्न बन गया। नवीन सम्भावनाओंके इस वैज्ञानिक भौतिकवादने जीवन-सम्बन्धी मूल्योंकी परम्पराको अस्वीकार किया और मानवको भौतिक कार्य-कारण-शृंखलाकी कड़ीके रूपमें माना। उसके

अनुसार प्राणियोंके विकास-क्रममें अन्तिम परिणति होकर भी मानव अपनी बाह्य परिस्थितियोंसे मजबूर है; विषम भौतिक तत्त्वोंके संयोगसे उसका संगठन हुआ है; वह भौतिक नियमोंसे शासित है और उसका समस्त भावात्मक जीवन काम-वासना अथवा अहं-मूलक प्रवृत्तियोंपर आधारित है। इस प्रकार पुनर्जागरणके बाद युरॅपमें विचार-चिन्तनका जो उत्कृष्ट युग प्रारम्भ हुआ, जिसकी समता ग्रीकयुगके अतिरिक्त युरॅपका कोई युग नहीं कर सकता, वह वैज्ञानिक भौतिकवादकी मशीनी सभ्यताके बन्धनमें जकड़ कर छटपटाने लगा। वास्तवमें जीवनकी कोई भी दृष्टि रूढ़िबद्ध (डॉगमैटिक) तथा निश्चित नियतिगत (डिटरमिनिस्टिक) रूपमें स्वीकृत हो जानेपर स्वतः उसकी गतिके लिए बाधक हो जाती है। वैज्ञानिक उन्नतिके साथ भौतिकवादने रूढ़िवादी धार्मिक विश्वासों और स्थापनाओंके विरुद्ध अपना प्रहार किया था और उस समय यह आन्दोलन क्रान्तिकारी जान पड़ता था। पर शीघ्र ही वह अपनी रूढ़ियोंसे ग्रस्त हो गया, जो उसकी ही स्थापनाओंको जड़-मूलसे हिलाने लगीं। धार्मिक, सामाजिक, नैतिक-मर्यादाओं, परम्पराओं और आदर्शोंसे उसने विद्रोह कराना सिखाया था, पर इस युगके वैज्ञानिकों, समाज-शास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकोंकी स्थापनाओंने मनुष्यको भौतिक परिस्थितियोंका दास-मात्र बना डाला। प्रत्यक्षमें मशीनोंके विकासके साथ मनुष्य प्रकृतिपर विजय प्राप्त करता जा रहा था, पर विजय केवल भौतिक संघर्षके रूपमें थी; क्योंकि इसके पीछे प्रेरणा और प्रगतिका कोई अन्य स्रोत नहीं रह गया था। उस प्रकार व्यक्तिकी स्वतन्त्रताका स्वप्न अपने मूलगत अन्तर्विरोधके कारण नष्ट हो गया और वह नये विश्वासों और मूल्योंकी खोजमें पुरानोंको खोकर अविश्वासी बन गया। राष्ट्रोंकी स्पर्द्धाके कारण युरॅपमें जो भयानक युद्ध हुए, उन्होंने भी इस परिस्थितिमें सहायता दी।

कहा गया है कि मशीन युगकी बढ़ती हुई सभ्यता और सम्भावनाओंके साथ मूल्यगत आस्थाके अभावमें सांस्कृतिक उपलब्धियोंका सन्तुलन अस्थिर

हो गया है। युगकी परिस्थितिका यह स्वाभाविक परिणाम है। पर इस सन्तुलनकी रक्षाका प्रयत्न भी १९वीं शतीके मानववादियों (ह्यूमैनिस्ट्स) ने किया। इन्होंने वैज्ञानिक युगके साथ समझौता करते हुए तर्क, प्रयोजन आदिके आधारपर मानव-जीवनके आचरणात्मक मूल्योंको स्थापित करनेकी कोशिश की हैं। इन्होंने व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके साथ इन मूल्योंका आधार तर्क और व्यक्तिगत विवेक-मात्र स्वीकार किया है। पर बिना पर्याप्त प्रेरक शक्तिकी सही व्याख्या किये मानववादी मूल्योंकी स्थापनाएँ थोथी जान पड़ती हैं। आगे चलकर इस मानववादका एक दूसरा रूप सामने आया है, जिसने इस सन्तुलनके लिए एक भिन्न आधार स्वीकार किया है। ऐतिहासिक भौतिकवादी द्वन्द्वात्मक पद्धतिसे इसी सन्तुलनको पूँजीवादी व्यवस्थाकी समाजवादी परिणतिके रूपमें देखता है। उसने यथार्थवादी भौतिक व्याख्याके लिए सामाजिक मानवताको स्वीकार किया है। इस आदर्शने साम्यवादी देशोंमें समाजकी आर्थिक व्यवस्थाके सामंजस्यमें सचमुच अद्भुत सफलता प्राप्त की है। साथ ही इसका प्रभाव समस्त संसारपर पड़ रहा है। पर उस निश्चित दृष्टिसे समस्त मानव-इतिहासकी, समस्त देशोंके युग-युगके इतिहासकी तथा व्यक्तिके सूक्ष्म मनकी व्याख्या प्रस्तुत करनेका दावा भ्रामक और थोथा सिद्ध हो गया है। ऐसी स्थितिमें आजका युग संक्रान्तिका युग है, जिसमें जीवनके मूल्य हों या साहित्यके मानदण्डके मूल्य, सभीके विषयमें अनिश्चित स्थिति जान पड़ती है।

जिस प्रकार १९वीं शतीके युरॅपमें बदलते हुए मूल्योंका युग प्रारम्भ हुआ था, जिसकी चरम परिणति २०वीं शतीमें आज मूल्यगत संक्रान्तिमें परिलक्षित हो रही है, उसी प्रकार युरॅपमें १९वीं शतीके साहित्य और उसके समीक्षात्मक मानदण्डोंमें जो क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हुए थे उन सबके बीच (आजके संक्रान्ति कालमें) साहित्यके समुचित आलोचनात्मक दृष्टिकोणके लिए वर्तमान युग आकुल हो उठा है। वास्तवमें इस दृष्टिसे फ़ान्सने युरॅपका प्रतिनिधित्व किया है, इसीलिए उसको ही

विचारात्मक संघर्षका सबसे अधिक बोझा ढोना पड़ा है। इस युगके प्रारम्भमें बॉदलेयरकी स्थिति रोमैण्टिक तथा प्रतीकवादियोंके बीचकी है। भावनाओं तथा अनुभूतियोंकी अभिव्यक्तिके साथ उसका प्रधान स्वर रोमैण्टिक है। पर उसकी कवितामें आत्माकी अन्यमनस्कता, भ्रान्ति, आत्महत्याकी इच्छा, रोग, मृत्यु और सामान्य विरक्ति तीखेपनसे व्यक्त हुई है। उसने जीवनमें पीड़ा और अवसादको स्वीकार किया है और इस प्रकार अपने युगके टूटते हुए विश्वासोंको उसने साहित्यकी मान्यताके रूपमें स्वीकार कर लिया है। बअरलेन, रेम्ब्रो तथा मेलार्मे आदि प्रतीकवादियोंने साहित्यको शुद्ध अनुभूति, कल्पना और विचारके चरम संवेदक क्षणोंमें केन्द्रित करनेकी कोशिश की। चाहे बअरलेनकी निरुद्देश्य अनुभूतिको कल्पना-बिम्बोंमें ग्रहण करनेकी बात हो या रेम्ब्रो-द्वारा सागरकी लहरके समान आकस्मिक अनुभूतिके कल्पना-संकेतोंमें ग्रहण करनेका प्रश्न हो अथवा मेलार्मेके वैयक्तिक मानसिक तीव्र संवेदनाओंके ध्वन्यात्मक चित्रोंका प्रश्न हो, इतना निश्चित है कि प्रतीकवादके मूलमें युगका व्यक्तिवाद तथा तत्कालीन समस्यासे पलायनकी मनोवृत्ति परिलक्षित होती है। ज़ोलामें इस युगकी यथार्थवादी दृष्टि प्रतिबिम्बित हुई, जो वैज्ञानिक यथार्थवादकी स्थापनाओंको ग्रहण करके भी असफल रही है। ज़ारा और फ़िलिप सुपोलके दादाइज़्ममें सामाजिक मान्यताओंके विध्वंसकी प्रबल आकांक्षा और आन्द्रेब्रताँ तथा आन्द्रे ज़ीदके अतियथार्थवादमें प्रत्येक विश्वास, आस्थाके प्रति जो घृणा है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक उन्नतिके साथ वैज्ञानिक युगने किस प्रकार मनुष्यका विश्वास छीन लिया है। उसने भौतिक शक्तियोंपर विजय पायो है, उसने अपने अन्तर्मनको भी खोज डाला है, पर न तो उसने अपनेको जीता है और न अपने आपपर विश्वास करना ही सीखा है। वह चाहे किर्कगॉर्ड तथा हेडगर-द्वारा प्रतिपादित तथा सार्त्र-द्वारा स्थापित अस्तित्ववाद हो अथवा इलियट तथा एज़रा पाउण्डका निर्वैयक्तिकतावाद; सबमें आजके संक्रान्ति-युगकी छाया है। जैसे आजका

जीवन अपने मूल्योंकी दिशामें अनिश्चित, स्पष्ट और उलझा हुआ है, वैसी ही आजके साहित्यकी मान्यताएँ भी हैं।

मार्क्सवादने वैज्ञानिक भौतिकवादके अन्तर्द्वन्द्वमें सन्तुलन स्थापित करनेकी कोशिश की है और उसीके आधारपर साहित्यके क्षेत्रमें प्रगतिवादी (या सामाजिक यथार्थवादी) समीक्षात्मक मानदण्डकी स्थापनाका प्रयत्न किया गया है। मार्क्सने यद्यपि अपने सिद्धान्तको ऐतिहासिक (यथार्थवादी) भौतिकवाद कहा है, पर उसने विज्ञानवाद और भौतिकवाद दोनोंको स्वीकारा है। इस दृष्टिसे दार्शनिक विचार तथा नैतिक मर्यादा अथवा मूल्य समाजकी आर्थिक परिस्थितियोंकी प्रतिक्रियाके बदलते हुए पहलू हैं। नैतिक मूल्य वस्तु-स्थितियाँ-भर हैं, जो परिस्थितियोंकी विशेष प्रतिक्रियाके रूपमें सामने आते हैं। मार्क्सके अनुसार किसी भी देशके सांस्कृतिक अथवा साहित्यिक मूल्य उसकी बाह्य उपलब्धि-मात्र हैं, जो आर्थिक परिस्थितियों-की प्रवृत्तिसे निर्धारित बाहरी ढांचेके रूपमें सामाजिक व्यवस्थाको सहारा देते हैं। सामाजिक परिणतिकी दृष्टिसे मार्क्सने निश्चय ही मानवके किन्हीं शाश्वत मूल्योंको स्वीकार नहीं किया। पर साहित्य और संस्कृतिको केवल बाह्य उपलब्धियोंके रूपमें स्वीकार करके भी मार्क्स, एंजिल्स और एक सीमा तक लेनिन भी साहित्यके स्थायी तत्त्वको अस्वीकार नहीं कर सके हैं और यह उनके सिद्धान्तके अन्तर्विरोधका परिचायक है। जिस प्रकार रूढ़िगत धर्म तथा रूढ़िगत भौतिकवाद मानव-जीवनका सन्तुलित दृष्टिकोण प्रदान करनेमें असफल रहा, उसी पद्धतिको अपनाकर मार्क्सवाद भी अन्तर्विरोधसे बच नहीं सका और उसकी परिणति भी वही हुई। समाजकी अन्तिम स्वीकृतिमें इस प्रकार व्यक्तिका अपनत्व बिलकुल नष्ट हो गया। भौतिकवादने मनुष्यके समस्त आत्मिक मूल्योंको वस्तु तत्त्वके अन्तर्गत स्वीकार करके मानवीय अस्तित्वके स्तर-भेदको नहीं माना और वह यह भेद भी नहीं कर सका कि मनुष्यका एक प्राकृतिक जीवन है, जो प्राकृतिक तथा सामाजिक आवश्यकताओंसे निर्धारित होता है अथवा अन्त-

वृत्तियोंके सन्तोषमें अर्थ ग्रहण करता है और दूसरा एक भिन्न स्वतन्त्र जीवन है, जिसमें वह अपने सम्पूर्ण अस्तित्वको अर्थ और मूल्योंकी उपलब्धिमें संयोजित करता है। मार्क्सवादी व्याख्या इससे अधिक भिन्न नहीं है, क्योंकि इसमें सामाजिक जीवनकी परिस्थितियोंमें भौतिक मूल्योंको स्थापित करनेवाली 'उत्पादन-प्रणाली' को ऐतिहासिक विकासका महत्त्वपूर्ण और निर्णायक कारण माना है। इस प्रकार आजके मूल्यगत संक्रमण-युगमें द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद जीवनके साथ साहित्यमें मूल्योंकी स्थापनाके प्रयत्नमें असफल रहा है।

इस प्रकार रूढ़िगत धर्म, रूढ़िगत भौतिकवाद तथा रूढ़िगत समाजवाद तीनों ही आज मानवीय जीवनकी समस्याको सुलझानेमें असमर्थ हैं, परिणामस्वरूप साहित्यके समीक्षात्मक मूल्योंके विषयमें आज अनिश्चयकी स्थिति है। इन सभी समाधानोंमें जीवनको किसी एक विशेष दृष्टिसे ग्रहण किया गया है और सामान्यतः इनमें एक-सी ग़लती पायी जाती है। परम्परासे यह देखा गया है कि मानवीय विचारोंके समस्त आन्दोलनोंमें आंशिक सत्य रहता है और ये सब एक सीमा तक मानवीय जीवनको अग्रसर करनेमें सहायक हुए हैं। सम्भवतः जब कभी अन्वेषणका सत्य, चाहे भौतिक जीवनके क्षेत्रमें हो अथवा आध्यात्मिक जीवनके अर्थमें, परम्परामें पड़कर अन्तिम सत्य मान लिया जाता है, तभी वह अपनी गत्यात्मक शक्तिसे विच्छिन्न होकर मानवीय जीवनकी प्रगतिको अवरुद्ध कर लेता है और प्रत्येक संक्रान्तिका युग जीवनकी समस्त दिशाओंके लिए नयी सम्भावनाओंको लेकर उपस्थित होता है, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। कोई कारण नहीं कि इस संक्रान्तिमें जीवनके अधिक सन्तुलित, स्वस्थ और सुन्दर भविष्यके उद्‌भवकी कल्पनापर विश्वास न किया जाये। आजके युरॅपका आधुनिक युगकी उपलब्धियोंके प्रति विश्वास टूट रहा है। वास्तवमें एक लम्बे अरसेसे किसी-न-किसी रूपमें मानव व्यक्तिके अपनेपनको अस्वीकार किया जाता रहा है, जिसके कारण ऐसा जान पड़ने लगा है

कि युरॅपमें पुनः धार्मिक श्रद्धा और विश्वासकी लालसा जाग उठी है। पर इस नवीन धार्मिक तथा आध्यात्मिक उत्साहमें रूढ़िवादी धर्मकी स्थापनाकी सम्भावना भ्रामक है और यदि प्रतिक्रियाके रूपमें सम्भव हो, तो उसे एक नया दुर्भाग्य मानना चाहिए। निकोलस बर्दयीव, मार्टिन बूबर तथा लुइस मम्फ़ोर्ड आदिने आचरणात्मक, सांस्कृतिक, तथा कलात्मक मूल्योंके लिए धार्मिक विश्वासके आधारके रूपमें व्यक्तिकी नयी स्वतन्त्रताकी स्थापना की है। इसी प्रकार कार्ल मनहम तथा हैरॅल्ड लास्की आदि नव-मार्क्सवादियोंने व्यक्तिकी स्वतन्त्रताके लिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवादकी नयी व्याख्या प्रस्तुत की है। इन प्रयत्नोंसे इतना तो सिद्ध होता है कि यह संक्रान्तिका युग किसी सन्तुलनकी खोज कर रहा है। वर्तमान विभिन्न विज्ञानोंकी नवीन खोज भी इस समन्वयकी दृष्टिको प्राप्त करनेमें सहायक हो रही है, क्योंकि विज्ञानवादका वह युग अब बीत गया है जब उसकी दृष्टिमें भौतिक कार्य-कारणकी शृंखलामें मनुष्य असहाय रह गया था। आज जो वैज्ञानिक दृष्टि हमको जीवन और संस्कृति, साहित्य तथा कला आदिके क्षेत्रमें प्राप्त हुई है, वह समग्र और संश्लिष्ट चित्र उपस्थित कर सकेगी, ऐसा विश्वास है। आजकी वैज्ञानिकता १९वीं शतीके विज्ञान-वादसे भिन्न है और उसकी निरपेक्षता जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंके सन्तुलन तथा सामंजस्यमें अन्तर्निहित है। इसीलिए आज साहित्यके मूल्यांकनके लिए मानव-शास्त्र, समाज-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शन तथा संस्कृति आदिके व्यापक अध्ययनकी आवश्यकता है, जिससे मानव-जीवनकी सम्पूर्णताको दृष्टि-पथमें रखकर समीक्षात्मक मानदण्डकी स्थापना हो सके।

अभीतक यह मानकर चला गया है कि युग-युगमें जीवनके मूल्य बद-लते हैं और उन्हींके अनुसार साहित्यके समीक्षात्मक मानदण्ड भी बदलते हैं। पर जैसा कि कहा गया है, इस बातमें आंशिक सत्य ही है। जीवनका सामाजिक विकास हो या वैयक्तिक चेतनाका विकास हो, विच्छिन्न रूपसे उसकी सम्भावना नहीं मानी जा सकती। साहित्यकार जीवनके जिस

अंशको ग्रहण करता है, इस प्रकार वह अपने-आप भावमें निस्संग, असम्पृक्त अथवा निरपेक्ष नहीं होता। उस सामाजिक अथवा वैयक्तिक परिस्थिति (मानसिक) के पीछे समस्त जातिके (जिसे हम मानवताके अर्थमें भी ले सकते हैं) दुःख, सुख, संघर्ष, उत्थान, पतन, आदर्श, चिन्तन तथा अनुभूतिके हज़ारों वर्षका क्रमिक इतिहास रहा है। इस प्रकार साहित्यकार अपनी व्यक्तिगत अनुभूतिसे एक ओर अपने वर्तमान समाजसे सम्बद्ध है और दूसरी ओर उसके द्वारा अभिव्यक्त जीवन सम्पूर्ण ऐतिहासिक परम्पराकी कड़ीके रूपमें है। घोरसे घोर व्यक्तिवादी अपने चिन्तनके शुद्ध क्षण, अनुभूतिकी असम्पृक्त स्थिति या कल्पनाकी असम्बद्ध उड़ानके निरपेक्षसे निरपेक्ष क्षणको मानव-इतिहासकी चिरन्तन प्रवहमान धारासे असम्बद्ध करनेका दावा नहीं कर सकता। वास्तवमें सांस्कृतिक उपलब्धियोंके रूपमें प्राप्त मानव-जीवनके विभिन्न मूल्य युग-युगमें मूलतः परिवर्तित नहीं होते, इसका कारण यही है कि मानव-जीवनके अविच्छिन्न प्रवाहमें कोई समान आधार उसको ग्रहण किये है, जो देश-कालकी बदलती हुई परिस्थितियोंमें समान रूपसे अन्तर्निहित है। यह ठीक है कि ये सांस्कृतिक उपलब्धियाँ अर्थात् जीवनके मूल्योंकी प्राप्ति किसी क्रमिक रेखामें अग्रसर नहीं होतीं। जो युग-जीवनमें सन्तुलन तथा सामंजस्य स्थापित करनेके लिए जितना संघर्ष सहन करता है, वह उतना ही अधिक सांस्कृतिक दृष्टिसे समुन्नत होता है। सांस्कृतिक उत्थानके बादके युग कभी-कभी बड़े ही हीन और ओछे जान पड़ते हैं, यह ठीक है, कि विषमताकी दृष्टिसे आगेके युग विकास करते भले ही जान पड़ें। बादमें वही सन्तुलन व्यक्ति तथा समाजके अधिक विषम स्तरपर स्थापित किया जाता है। जीवनकी विषमताकी दृष्टिसे असमान होते हुए भी दो भिन्न सांस्कृतिक उत्थानके युग समान परम्पराके मूल्योंका प्रतिपादन करते हैं। साहित्य और संस्कृति इस दृष्टिसे समान हैं और साहित्यकी मान्यताओंके विषयमें भी यह कहा जा सकता है।

पर साहित्य जीवनकी अन्य उपलब्धियोंसे भिन्न भी है और यह स्थिति उसके मूल्यांकनके दृष्टिकोणको अधिक स्पष्ट कर देती है। सभीके मनमें यह प्रश्न बार-बार आता है कि अनेक पिछले युगोंका साहित्य, जिसकी अन्य मान्यताएँ हमारे लिए महत्त्व नहीं रखतीं, आज भी हमारे लिए क्यों आकर्षणकी वस्तु है? पर साहित्य, विशेषकर उच्च साहित्य, जीवनको जिस समग्रतामें ग्रहण करता है; अथवा पूर्णतामें अभिव्यक्त करता है, उसकी अपने-आपमें देश-कालसे निरपेक्ष स्थिति हो जाती है। युगीन जीवनकी सीमाएँ उसमें प्रत्यक्ष न हों ऐसी बात नहीं पर वह जीवनके सन्तुलनका जो आधार ग्रहण करता है, वह युग-युगके मानवमें एक प्रकारसे समान होता है और इसी सन्तुलनकी सम्पूर्णताको व्यापक अर्थोंमें सौन्दर्य-बोध भी कह सकते हैं, और यही नया सौन्दर्यबोध समीक्षाका स्थायी किन्तु निरन्तर विकासशील मानदण्ड बन सकता है, क्योंकि इसीमें प्रयोजन और प्रेषणीयताका सूक्ष्म समन्वय सम्पन्न हो सकता है।

सौन्दर्यबोधके प्रश्नको उठानेसे सम्भवतः यह भ्रम हो सकता है कि हम पिछले सौन्दर्यवादियोंकी पुनः स्थापना कर रहे हैं। इस प्रश्नका विस्तृत समाधान यहाँ सम्भव नहीं है। हम किसी ऐसे सौन्दर्यबोधको स्वीकार नहीं करते, जिसका प्रभाव नितान्त वैयक्तिक अथवा असामाजिक हो। साहित्यिक अथवा कलात्मक सौन्दर्यबोध सांस्कृतिक मूल्योंके समान, जीवनकी देश-कालकी बदलती हुई परिस्थितियोंमें सन्तुलनके व्यापक मान-दण्डके रूपमें विकसित होता है। साहित्यिक सौन्दर्यबोधके क्षेत्रमें अनुभूतिकी निर्भरता, अभिव्यक्तिकी निर्वैयक्तिकता अथवा प्रभावकी अलौकिकताको हम वैयक्तिक अनुभूतिके विशिष्ट क्षणों और सामाजिक जीवनके विशिष्ट मूल्योंको सन्तुलनके अर्थमें ही ग्रहण कर सकते हैं अन्यथा नहीं। वास्तवमें साहित्य अन्तर और बाह्य, व्यक्ति और समाजके समुचित सामंजस्यके साथ जीवनको ऐसी सम्पूर्णताके साथ ग्रहण करता है कि वह अपनी देश-कालगत सीमाओंके बावजूद भी सर्वदेशीय तथा सर्वकालीन बन जाता है। साहित्यके

इस स्थायी तत्त्वको प्रतिपादित करनेके लिए समीक्षाकी अनेक दृष्टियोंके साथ सौन्दर्यबोधका यह स्थायी (स्थिरके अर्थमें नहीं) मानदण्ड, किसी-न-किसी रूपमें अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, तो अपने-आपमें असम्पृक्त, निरपेक्ष न होकर, यदि मानवीय जीवनकी समस्त सीमाओंसे मर्यादित है, तो साथ ही युग-युगकी सांस्कृतिक उपलब्धियोंको अर्थवान भी करता है।

■

दायित्व और स्वातन्त्र्य : अविच्छिन्न मूल्य

हिन्दी-जगत्में साहित्यकारके वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्वको समस्यापर गम्भीर विचार-विनिमय चलता रहा है। इसे वाद-विवादके रूपमें नहीं लिया जा सकता, क्योंकि इस समस्याको लेकर भिन्न-भिन्न विचारधाराओंके साहित्यकारोंने ईमानदारीके साथ अपने विचार प्रकट किये हैं और उदारतापूर्वक दूसरोंके विचारोंका स्वागत किया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रश्नपर उन्होंने मनन किया है और इसने उनके मनको मथा है। इस विचार-विनिमयकी दो सीमाएँ रही हैं। इनमें-से प्रथम वैयक्तिक स्वातन्त्र्यके उस पक्षकी है, जिसमें इस बातपर बल जान पड़ता है कि प्रधान समस्या साहित्यके शासनके अंकुशसे मुक्त होनेकी बात है। यद्यपि यह पक्ष भी मूल प्रश्नके अन्तर्गत है, पर इसपर अधिक बल होनेसे बात अधिक स्पष्ट नहीं हो सकी है और भ्रमोंकी सम्भावना भी रही है।[1] दूसरी सीमा सामाजिक दायित्वके इस स्वरकी है जो एक प्रकारसे वैयक्तिक स्वतन्त्रताको किसी-न-किसी रूपमें सामाजिक दायित्वका विरोधी मानकर चलता है।[2] इन सीमा-रेखाओंके बीच अनेक विचारकोंने सामंजस्यकी स्थितिकी अपने-अपने ढंगसे व्याख्या की है।

---

१. इसी कारण कुछ विचारकोंने प्रजातन्त्र देशोंमें इस समस्याको स्वीकार नहीं किया है और कुछने इस प्रसंगमें बौद्धिक अराजकता, व्यक्तिगत उच्छृंखलता आदिकी चर्चा की है।

२. कुछको वैयक्तिक स्वतन्त्रताके रूपमें वैयक्तिक पृथकता और विलक्षणताकी आराधना-का भय है और किसीके अनुसार 'शिक्षा-दीक्षा तथा स्वार्थों और संस्कारोंसे सीमित समाजमें रहनेवाले लेखकको ही निरपेक्ष स्वतन्त्रता कैसे मिल सकती है?'

यहाँ किसी भी विचारसे सहमत या असहमत होनेके पूर्व कुछ मूल प्रश्नोंको उठाना अधिक आवश्यक होगा। वैसे किसी भी बातकी अपने अनुकूल अथवा प्रतिकूल व्याख्या करके उससे सहमत या असहमत होना सरल है। यहाँ इस प्रसंगको छोड़कर मौलिक (बेसिक) विचार-पद्धतिकी ओर ध्यान आकर्षित करनेका प्रयत्न महत्त्वपूर्ण है। प्रश्न है कि इस समस्याका सन्दर्भ क्या है? आजके व्यक्तिके सामने वह कौन-सा प्रतिबन्ध है, कौन-सी बाधा है, कौन-सा संकट है जिसके कारण यह प्रश्न उपस्थित हुआ है। अथवा आज मानव किस मोड़पर आ उपस्थित हुआ है, जिसके आगे बढ़नेके पहले नये ढंगसे सोच-विचार लेना अनिवार्य हो गया है।

दूसरा प्रश्न है कि सामाजिक परिवेशमें वैयक्तिक-स्वातन्त्र्यका अर्थ क्या है? यह समस्याका केन्द्र है, जिसके अन्तर्गत समाज और व्यक्तिकी व्याख्या, उनका सम्बन्ध और उनकी स्थिति आती है। अन्तिम प्रश्न है कि क्या साहित्यकारका व्यक्तित्व विशिष्ट है और क्या उसकी स्वतन्त्रता भिन्न परिस्थिति है। यहाँ साहित्यकारको उसकी सामाजिक स्थितिके अतिरिक्त रचनात्मक प्रकियामें भी स्वीकार करना होगा।[1]

वर्तमान युगमें रूढ़िवादी धर्म, रूढ़िवादी भौतिकवाद तथा रूढ़िगत समाजवाद तीनों ही मानव-भाग्यको अन्धकारके कुहासेसे निकालनेमें असमर्थ सिद्ध हुए हैं। इन सबने अपने-अपने रूपमें मानव-जीवनको भाग्य-वादी जड़ता और मूल्यगत निष्क्रियतामें दीक्षित किया है। विज्ञानकी भौतिकवादी दृष्टिने मनुष्यकी इस स्थितिमें बहुत बड़ा सहयोग दिया है। पिछले युगमें समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदिने भी मनुष्यको विश्लेष्य रूपमें निश्चित कार्य-कारणकी श्रृंखलामें स्थापित कर दिया।

---

१. आलोचनाके 'आलोचना-विशेषांक' (९ अंक) के सम्पादकीयमें प्रथम प्रश्नको एक दूसरे स्तरपर उठाया गया था। अगले अंकमें (१० अंक) 'वर्तमान संकट और मानव-मूल्योंका विघटन' शीर्षक प्रस्तुत प्रश्नके अन्तर्गत इस समस्याकी विस्तारसे लिया गया है।

परिणाम भी स्पष्ट है कि इस युगमें मानव व्यक्तिके स्थानपर आर्थिक व्यक्ति (इकॅनॉमिक मेन) और सामूहिक व्यक्तिकी कल्पना प्रधान हो गयी है। १९वीं शतीकी विकसित होती पूँजीवादी व्यवस्था और उन्नति करते विज्ञानवादने सब प्रकारसे यह सिद्ध किया है कि मनुष्य निरुपाय है और उसका भाग्य निश्चित है।[1] मार्क्सकी समाजवादी विचारधाराने प्रारम्भमें मनुष्यकी इस स्थितिसे विद्रोह किया था। वह मानवकी वैयक्तिक प्रतिष्ठाको स्थापित करनेकी भावनासे प्रेरित था। यही कारण है कि उसने हेगलकी 'विश्व आत्मा' की दार्शनिक भावनाको छोड़कर लुडविग फ़ायरबाखके दर्शनको अपनाया था, जिसके अनुसार मानव-व्यक्तित्व ही केन्द्र-बिन्दु है। इसी भावनासे प्रेरित होकर उसने कहा था, "मनुष्यका मूल मनुष्य स्वयं है।" प्रारम्भमें उसके मनमें स्पष्ट था कि "साम्यवादी समाज केवल अधिक व्यापक पूँजीवाद है, क्योंकि साम्यवादमें अर्थ-व्यवस्थाको शक्तिको अस्वीकार नहीं किया गया है; इसके विपरीत यह मनुष्यपर पूरा अधिकार प्राप्त कर लेता है और इस प्रकार मानव व्यक्तित्वके मूल्योंके विघटनका कारण बन जाता है।" पूँजीवादी व्यवस्थाके अन्तर्गत जिस व्यक्तिगत स्वतन्त्रताकी माँग अधिकार-शास्त्रने प्रस्तुत की थी, उसमें वस्तुतः व्यक्ति-स्वतन्त्रताकी सिद्धि नहीं वरन् सीमा ही अधिक प्रत्यक्ष था, पर मार्क्सकी समाजवादी समाज-रचनामें प्रत्येक व्यक्ति अन्योंमें अपनी स्वतन्त्रताकी सिद्धिका अनुभव कर सकेगा अर्थात् इस समाजमें प्रत्येक व्यक्तिका स्वतन्त्र विकास सभी व्यक्तियोंके स्वतन्त्र विकासके साथ सम्भव होगा, यह कल्पना विद्यमान थी। परन्तु अन्ततः इस विचार-धाराकी परिणति 'समाजकी मशीन'में व्यक्तिको पुरजेके रूपमें प्रतिष्ठित करती है, क्योंकि उसने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादकी ऐतिहासिक प्रक्रियामें समाजकी न केवल एक निश्चित

---

१. दार्शनिक दे-कार्त, हेगल, अर्थशास्त्री अदम स्मिथ, वैन्थम, वैज्ञानिक डार्विन, थामस हक्सले तथा मनोविज्ञानी फ्रॉयड आदिके तर्कों और खोजोंसे यही प्रतिपादित हुआ था।

दिशा स्वीकार कर ली वरन् मानव-भाग्यको निश्चित और निर्धारित मान लिया है।[1] इस प्रकार वर्तमान परिस्थितिमें प्रजातान्त्रिक तथा समाजवादी दोनों ही विचारधाराओंको स्वीकार करनेवाले देशोंमें समान रूपसे मानवव्यक्तित्वकी प्रतिष्ठापर संकट है।

देखनेमें तो जान पड़ता है कि प्रजातन्त्र देशोंमें व्यक्तिको मताधिकारकी स्वतन्त्रता है, न्यायकी माँगकी स्वतन्त्रता है, प्रकाशनकी स्वतन्त्रता है, धार्मिक स्वतन्त्रता है, व्यवसाय चुननेकी स्वतन्त्रता है और मत प्रकट करनेकी भी स्वतन्त्रता है और इन सबके साथ आवश्यकताओंकी सुविधाको भी स्वीकारा गया है। इन विभिन्न स्वतन्त्रताओंके बीच व्यक्तिकी आन्तरिक स्वतन्त्रताकी बात खो गयी है; जान पड़ता है उसका व्यक्तित्व बिखर गया है। इसके अभावमें आपसी प्रतिद्वन्द्विताका ऐसा रूप विकसित होता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रताको (व्यक्तिवादी) अर्थात् अपनी मान्यताको अधिकसे-अधिक व्यापक बनाना चाहता है। अपने इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिए वह दूसरोंको अधिक सुविधाओंकी सम्भावनाकी ओर आकर्षित करता है, उनको अपनी स्थितिके विषयमें शंकित और सन्देहशील रखकर विशेष मानसिक स्थितिमें उत्तेजित कर, उनपर अपना व्यक्तित्व आरोपित करनेका अवसर पा जाता है। इस प्रकार इन देशोंमें यह सम्भव हो जाता है कि कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्ति अपनी महत्त्वाकांक्षा, अपने निहित स्वार्थों तथा व्यक्तिगत कल्पनाओंकी पूर्तिके लिए जनताको एक विशेष मानसिक तनावकी स्थितिमें रखकर उससे अपने मनोनुकूल निर्णय ले लिया करें और जनता उसे अपनी मूल्य-मर्यादा समझकर मरने-मारनेको तत्पर हो जाये।

---

१. इगनातिसयो सिलोनेकी समाजवादकी इस व्याख्यामें भी यही ध्वनित होता है। "समाजवाद किसी एक पद्धतिका दास नहीं, वह तो एक आस्था है। समाजवादी मूल्य स्थायी है, सम्प्रदायके मूल्यके भेदसे उसे आँका नहीं जा सकता। सम्प्रदायका संगठन करके पन्थ चलाया जाता है, किन्तु मूल्योंके आधारपर सभ्यता तथा संस्कृतिका संगठन होता है, नवीन जीवनकी सृष्टि होती है।"

इससे कुछ ही भिन्न स्थिति साम्यवादी देशोंकी है जिनमें श्रमिक वर्गके समान उद्देश्योंको आदर्श रूपमें सामने रखकर सामूहिक संरक्षणका सिद्धान्त स्वीकृत है। यहाँके व्यक्तिने अपनी समस्त आवश्यकताओंसे मुक्ति प्राप्त कर ली है और इसके लिए उसने अपने विचार-स्वातन्त्र्य, रुचि-स्वातन्त्र्य तथा निर्णय-स्वातन्त्र्यके विषयमें निश्चित परिस्थिति स्वीकार कर ली है। इस प्रकार इन देशोंमें भी, एक दूसरे रूपमें, कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्तियोंके हाथमें ही जनताका भाग्य आ जाता है, जो अपने निर्णयके अनुसार उसके कल्याणकी व्याख्या करनेमें प्रायः उसी प्रकार स्वतन्त्र हैं, जिस प्रकार अपने मनोनुकूल उद्देश्यके लिए जनताको भावावेशमें ला सकते हैं।

ऐसी स्थितिमें संसारकी सारी संस्कृति, आजके युगमें कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों (शक्ति अथवा प्रतिभासम्पन्न), गुटों, दलोंके स्वार्थोंके संघर्षसे विशृंखल हो रही है, जिससे मानवीय मूल्योंका विघटन अनिवार्य हो उठा है। दो महायुद्धोंमें इसका प्रत्यक्ष और भयावह परिणाम भी सामने आ चुका है। परन्तु इस संक्रान्तिकालमें अनेक चिन्तकों, वैज्ञानिकों और साहित्यिकोंने इस विशृंखलता और विघटनका अनुभव किया है, उसके कारणोंपर विचार किया है और उससे मानवताको सतर्क करनेके लिए चुनौती भी दी है। विज्ञानके क्षेत्रमें आधुनिक प्रयोगों तथा अन्वेषणोंके आधारपर वैज्ञानिकोंने भौतिकवादको आज भाग्यवादी सम्प्रदायके रूपमें अन्धविश्वासकी कोटिमें घोषित किया है और जड़ भौतिकवादको मृत स्वीकार किया है। उन्होंने मनुष्य-जीवनको पदार्थ और शक्तिकी यान्त्रिक क्रियाओंमें सीमित न देखकर आत्मिक सिद्धान्तकी प्रक्रियाके रूपमें स्वीकार किया है।[1] कुछ विचारकोंने आधुनिक जीवनके आसन्न संकट तथा मूल्योंके

---

१. जे० बी० एस० हॉल्डेन, जेम्स जीन्स, एडिंग्टन, रॉबर्ट मिल्लिकन आदि अनेक वैज्ञानिकोंने यह सिद्ध किया है। जेम्स अपने 'मिस्टीरियस युनिवर्स' में लिखता है, "ज्ञानकी धारा एक अयान्त्रिक वास्तविकताकी ओर बढ़ रही है, ब्रह्माण्ड आज एक बड़ी मशीनके

विघटनका कारण मानवीय नैतिकताके चरम स्रोतके रूपमें ईश्वरकी अस्वीकृतिको माना है और नवीन मूल्यों तथा मानव-प्रतिष्ठाकी पुन:स्थापना-के लिए ईश्वरकी स्वीकृति अनिवार्य मानी है। परन्तु अब ईश्वरकी कल्पना मानवताकी आदर्श परिणतिके रूपमें ही की गयी है, जिससे व्यक्ति अपनी मूल्य-मर्यादाको ग्रहण करता है। संघबद्ध धर्म और उसके नियामक ईश्वरकी स्थिति भाग्यवादी परम्पराके नामपर नैतिक निष्क्रियताको ही पोषित करती है, जो आधुनिक भाग्यवादसे कम खतरनाक नहीं है। इतिहास-से यह सिद्ध है कि इस प्रकारकी धार्मिक भावनाने मानव-प्रगतिको निरन्तर कुण्ठित किया है। परन्तु जिस प्रकार नवीन विज्ञान मानव-व्यक्तित्वकी स्वतन्त्र सत्ता प्रतिष्ठित करता है, उसी प्रकार नवीन धर्म मानवीय ईश्वरकी गत्यात्मक (डॉयनमिक) कल्पनासे अनुप्राणित है।[1] नव-मार्क्सवादियोंने समाजवादकी व्याख्याके अन्तर्गत समाजको स्वत: गत्यात्मक सत्यके रूपमें स्वीकार किया है और व्यक्तिकी प्रतिष्ठाकी रक्षा करनेका प्रयत्न भी किया है।[2]

जिस व्यक्तित्व (पर्सन) के मेघाच्छन्न होनेकी चर्चा ऊपर की गयी है और जिसके स्वातन्त्र्यकी आकांक्षाका निर्देश किया है, आखिर उस वैयक्तिक स्वातन्त्र्यका अर्थ क्या है और सामाजिक परिवेशमें स्वातन्त्र्य दायित्वसे किस प्रकार अभिन्न है? हमने अपनी पिछली विवेचनाके प्रसंगमें

बजाय एक महान् विचार अधिक लगता है।" बर्ट्रेण्ड रसेलने अपने 'फ्री मैन्स वर्शिप' में लिखा है, "मनुष्यके लिए अनिवार्य है कि वह अपने मस्तिष्कको उस अपरिहार्य निर्दयतासे मुक्त रखे, जो उसके बाह्य जीवनका नियामक है।"

१. इनमें निकोलस, बर्डीव, मार्टिन, ल्बर तथा ग्रेहम ग्रीन-जैसे वैयक्तिकतावादी (पर्सन-लिस्ट) हैं। हर्मन लात्ज़के अनुसार "ईश्वरका अस्तित्व आत्मिक है, और इस प्रकार ईश्वरकी प्रकृति तथा मनुष्यके मानसिक जीवनमें सादृश्य है।" ब्रानिस्ला मालिनोव-स्कीने अपनी पुस्तक 'फ्रीडम एण्ड सिविलिज़ेशन' में स्वीकार किया है, "आजकी समस्याओंमें स्वतन्त्रता सबसे अधिक गत्यात्मक, अनिवार्य तथा व्यापक समस्या है। अन्तश्चेतनकी स्वतन्त्रता धर्मका मूलतत्त्व है और धर्म संस्कृतिका मूलभाव।"

२. कार्ल मन्हम, हेराल्ड लॉस्की तथा जेम्स बर्नहम इत्यादि।

देखा था कि आधुनिक व्यवस्थाओंके अन्तर्गत मूलतः सामान्य और महत्त्व-पूर्णका अन्तर विद्यमान है। इनमें कुछ व्यक्ति महत्त्वपूर्ण होकर सामान्य वर्गके प्रति अपने दायित्वका अनुभव करने लगते हैं। क्या इस प्रकार महत्त्वपूर्ण होना वैयक्तिक स्वातन्त्र्यके लिए बाधक हो सकता है? क्या इस प्रकार व्यक्तित्वके सम्बन्धमें कम-वेश महत्त्वका प्रश्न अप्रासंगिक है? साहित्यकारके प्रसंगमें भी दायित्वका प्रश्न इस ध्वनिके साथ उठाया गया है कि मानव-मूल्योंके सन्दर्भमें वह महत्त्वपूर्ण है और उसका व्यक्तित्व विशिष्ट है। उत्तर दिया जा सकता है कि महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्वोंकी कल्पना स्वाभाविक है। कुछ व्यक्ति अपने कार्योंसे, विचारोंसे, भावनाओंसे अधिक-से-अधिक लोगोंको प्रभावित करते हैं, सांस्कृतिक स्तरपर उनको अधिक दायित्वपूर्ण प्राणी माना जा सकता है। ऐसी स्थितिमें उनके व्यक्तित्व और उनकी स्वतन्त्रताकी बात भी प्रमुख हो जायेगी। स्पष्ट ही दूसरे सामान्य जनोंके स्वातन्त्र्यकी बात गौण भी हो जायेगी, जिसका परिणाम होगा कि महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व शासक, नियन्ता अथवा अधिनायकके रूपमें अपने स्वातन्त्र्यकी सापेक्षता अपनी समाजकी विशिष्ट स्थितिसे स्थापित करेगा, समग्र समाजकी गतिशीलतासे नहीं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस सन्दर्भमें विशिष्ट व्यक्तित्वकी समस्या न होकर सामान्य मानवके व्यक्तित्वकी समस्या है, प्रत्येक व्यक्तित्व मानव व्यक्ति है, उसकी मर्यादा तथा प्रतिष्ठा उससे भिन्न अथवा विशिष्ट (महत्त्वपूर्णके अर्थमें) कभी नहीं मानी जा सकती। अर्थात् दायित्वके प्रश्नपर विचार करते समय हम जिस सापेक्षताकी आशा नेता, अधिनायक, वैज्ञानिक, चिन्तक अथवा साहित्यकारसे करते हैं, उससे भिन्न सापेक्षताकी स्थिति किसान, मजदूर अथवा सैनिककी भी नहीं मानी जा सकती। प्रत्येकका दायित्व अपना है, पर उनका यह अपनापन समाज-सापेक्ष समान रूपसे है, इस कारण सबका दायित्व सामाजिक ही है। क्योंकि दायित्वको लेकर व्यक्तिकी सामाजिक स्थिति स्वतःसिद्ध है, इस कारण व्यक्तिके अपने

दायित्वके साथ सामाजिक दायित्व समाहित है। वैसे यह सामान्य स्वीकृति-की बात है कि व्यक्तिके सामने समाजकी जो प्रत्यक्ष इकाई रहती है, वह उसके कार्य-क्षेत्र और व्यवहार-क्षेत्रकी सीमा निर्धारित करती है। प्रत्यक्ष ही किसी व्यक्तिका दायित्व परिवारके प्रति है, किसीका नागरिक जीवनके प्रति, किसीका समस्त राष्ट्र सापेक्ष है : कभी उसकी भौगोलिक-ऐतिहासिक-सांस्कृतिक इकाईके प्रति और कभी प्रधानतः उसकी सामाजिक इकाईके प्रति। फिर संसारकी वर्तमान स्थितिमें और भी अधिक सम्भावना है कि विचारकों, वैज्ञानिकों तथा साहित्यिकोंका एक ऐसा भी वर्ग हो जो अपने दायित्वकी सापेक्षताकी इन सीमाओंका अतिक्रमण कर समस्त संसारकी मानवतासे अपनी सीमा निर्धारित करे और वह मानवताकी सीमा कभी संसार-व्यापी समाजके संगठनके रूपमें हो सकती है और कभी मानवीय मूल्योंपर आधारित और मर्यादित हो सकती है।

प्रश्न है कि इस प्रकार दायित्वके सीमा-विस्तारके साथ क्या किसीके महत्त्वको स्वीकार करनेकी अपेक्षा है। क्या यह आवश्यक है अथवा उचित है कि जिस व्यक्तिके दायित्वका जितनी बड़ी सीमा है, उतना ही उसके दायित्वको महत्त्वपूर्ण माना जाये? यहाँ यह कहना भी अनिवार्य है कि इस प्रकार उसके व्यक्तित्वकी विशिष्ट स्थिति स्वयंसिद्ध हो जायगी और यह स्पष्ट है कि दायित्वके साथ अधिकारोंका प्रश्न सन्निहित है। ऊपरसे यह सब बहुत सीधा जान पड़ता है। जिस व्यक्तिके दायित्वकी सीमा विस्तृत है, वह अपने-आप अधिकारोंके क्षेत्रमें महत्त्वपूर्ण है। स्टैलिन, रूज़वेल्ट तथा चर्चिल आदि ऐसे व्यक्तित्व रहे हैं, जिनके ऊपर दायित्वका अत्यधिक भार रहा है और उसके अनुरूप उनको महत्त्व भी प्राप्त था, अर्थात् अधिकार प्राप्त थे, किसी भी रूपमें क्यों न हों। इस साधारण बातमें बहुत बड़ा अन्तर्विरोध है जिसके कारण हमारी व्याख्या-पद्धतिमें बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है और इसके परिणामोंका संकेत दिया जा चुका है।

इस प्रश्नके दूसरे पक्षोंपर विचार करनेके पहले यह निश्चित कर लेना

है कि हम व्यक्तिको क्या समझते हैं, समाजको क्या मानते हैं। यदि समाज-शास्त्रके इस पुराने विचारको किसी भी रूपमें स्वीकार किया जाये कि मनुष्य (व्यक्ति) अपने जंगली और बर्बर रूपमें अपनी-अपनी सीमाओंके कारण समाज अर्थात् मनुष्योंके समूहमें संगठित हुआ है, तब इस निष्पत्तिमें कोई कठिनाई न होगी। क्योंकि इस स्थितिमें समाज ऐसा ढाँचा है जिसमें असमान व्यक्ति अपने हितों (स्वार्थों) के लिए एक-दूसरेके साथ संगठित हुए हैं और इसमें जो जितनी शक्ति, प्रभाव, प्रतिभाको प्राप्त कर सकेगा, वह अपने-आप उस सीमा तक सामाजिक जीवनको शासित, मर्यादित तथा नियन्त्रित करेगा। साथ ही इस प्रकारके समाजके विकासमें अपनी इच्छाको महत्त्व देनेवाले राजाओं, अपनी संगठित शक्तिके बलपर अधिनायकत्व करनेवाले डिक्टेटरों और पार्टीका संगठन करके अपनी नीति चलानेवाले नेताओंमें मौलिक अन्तर नहीं। ऐसा नहीं कि उनकी कार्यविधिमें कोई भेद नहीं होता या उनके व्यक्तित्वकी गठनमें अन्तर नहीं, केवल मानवीय मूल्योंके प्रति (दायित्व और स्वातन्त्र्य) अपनी समस्त घोषणाओंके बावजूद उनका समान दृष्टिकोण है। अर्थात् उनके लिए समस्त समाज शासित, मर्यादित और नियन्त्रित करनेकी वस्तु है, जिनके मूलमें वही समाजको विभिन्न व्यक्तियोंके समूह अथवा संगठनके रूपमें समझनेकी वृत्ति मौजूद है।

किन्तु आधुनिक मतके अनुसार समाज स्वतः मानव-विकास और संस्कृतिकी उपलब्धि है जिसमें मनुष्य अपने समस्त प्रयत्नोंको अपनी (मानव) पूर्णताकी ओर प्रेरित करता है। समाज व्यक्तिकी विवश स्वीकृति नहीं, वरन् अपनी ही पूर्णताकी प्रक्रिया है। ऐसी स्थितिमें व्यक्ति और समाजका सम्बन्ध सदस्य और समूहका नहीं रह जाता, वह अंश और अंशीका कहा जा सकता है। यह अंश-अंशीका रूपक मशीन और उसके पुर्ज़ों अथवा शरीर और उसके अवयवोंसे नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह प्रक्रिया सक्रिय, सचेतन तथा निश्चयसे समन्वित है। एक सीमा तक इसका रूपक विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों तथा मानसिक प्रक्रियासे

दिया जा सकता है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियका मानसिक स्थितिके संयोजनमें जितना हाथ रहता है, उतना ही उसकी (मानसकी) प्रक्रियामें उसका स्थान होता है। यदि हमारी मानसिक स्थिति दृश्य, श्रव्य, घ्राण, स्वाद तथा स्पर्श आदिसे संगठित है तो विचार, कल्पना आदि उसकी प्रक्रियाओंमें ज्ञानेन्द्रियोंकी स्थिति भी स्वीकृत है। फिर भी इस रूपकको अधिक दूर तक नहीं ले जाया जा सकता। वस्तुतः समाजकी कल्पना बहुत-कुछ मानवताके रूपमें की जाती है, क्योंकि इस समाजकी भावना किसी देश-कालगत सीमामें आबद्ध नहीं, वर्गोंमें विभाजित नहीं। यह समाज मानव-इतिहासकी समस्त परम्पराओंसे विकसित होते हुए क्षणोंमें परिव्याप्त है, इस समाजमें एक हज़ार वर्ष पहलेके व्यक्तिका योग उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना आजके किसी व्यक्तिका अथवा एक हज़ार वर्ष बादके व्यक्तिका। समाजकी साधारण भावनाके साथ देश-कालगत मनुष्योंके वर्गोंकी, संगठित समाजकी अथवा उद्देश्य-सिद्धके लिए किन्हीं लोगोंके समूहकी कल्पना प्रधान हो जाती है, इस कारण समाजकी व्यापक भावनाको मानवताकी संज्ञा दी जाती है। अन्यथा मानवता, सक्रिय गतिशील इच्छा-समन्वित समाजका ही रूप है। इधर प्रायः समाजको गतिहीन समूह अथवा प्राणहीन मशीनके रूपमें समझनेकी प्रवृत्ति रही है और इसलिए समाजकी इस भावनाको व्यक्त करनेके लिए मानवताका प्रयोग अधिक संगत माना गया है।

इस समाजमें, जिसे मानव-इतिहासके क्रममें मानवताकी संज्ञा प्राप्त हुई है, व्यक्तिकी एक निश्चित स्थिति है। ऊपरकी विवेचनाके प्रकाशमें व्यक्ति और समाजका यह सम्बन्ध भिन्न अर्थ ग्रहण कर लेता है। यह सम्बन्ध अभिन्न है, आन्तरिक (इण्टिग्रेट) है अर्थात् समाजके बिना व्यक्तिकी कल्पना नहीं की जा सकती और व्यक्तिकी स्थिति स्वीकार किये बिना समाजकी समग्रता (टोटलिटी) खण्डित होती है। पशु अलग-अलग (इण्डिविज़ुअल) होते हैं, पर उनको नामवाचक संज्ञा

(पर्सनल) से अभिहित नहीं किया जाता और उनका एक समूह होता है जिसे जातिवाचकके अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। पशुकी सामान्य जाति होती है। उनका न नाम है न समाज। कारण स्पष्ट है; पशुमें संख्या होती है व्यक्तित्व नहीं, इसीसे उनकी जातियाँ होती हैं समाज नहीं। सहस्रों वर्षके इतिहासमें पशु अपनी जातियोंमें ज्योंका-त्यों चला आया है, उनकी नस्लोंमें अभिवृद्धि अवश्य हुई है लेकिन उनका पशुत्व वैसाका वैसा है, उसके विकासकी कोई सम्भावना नहीं घटी।[1] मनुष्य पशुसे भिन्न है, क्योंकि उसमें व्यक्तित्व है अर्थात् उसमें क्रिया (ऐक्शन) और इच्छा (इण्टेन्शन) के साथ उद्देश्योन्मुखता है और इस व्यक्तित्वके साथ जब उसकी (मनुष्य) जातिका प्रश्न आता है, तो उसको जातीयता जाति-मात्र न रहकर समाजके विकासमे परिलक्षित होती है। सोद्देश्य प्रयोजन (पॅरपज़) के कारण उसका समाज गतिशील रहा है, तत्सम्बन्धी मूल्योंका विकास हुआ है। मनुष्य-समाजकी भावना (मूलतः एक होते हुए भी) बदलती रही है और साथ ही उसका व्यक्तित्व समाजकी समष्टिगत भावनासे संगठित होकर प्रत्येक युगमें अग्रसर करनेमें प्रयत्नशील रहा है। कहा गया है कि व्यक्तित्व समाजसे भिन्न नहीं। पर यह इस तरह नहीं है कि प्रत्येक पशु अपनी जातिके सामान्य स्वभावसे भिन्न नहीं होता। वस्तुतः जिस प्रकार मनुष्य संख्या-मात्र नहीं है, उसी प्रकार समाज जाति-मात्र नहीं है।

मानवताके निरन्तर प्रवाहके जिस सामाजिक देश-कालमें व्यक्ति जन्म लेता है, पलता है, बड़ा होता है, शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करता है, संस्कारोंसे दीक्षित होता है, पक्षपातों तथा पूर्वग्रहोंसे सम्बद्ध होता है, उसका उसके व्यक्तित्वके निर्माणमें बड़ा हाथ है। परन्तु यहाँ यह स्मरणीय है कि

---

१. लेकॉमते दुयेनोयेने अपनी पुस्तक 'ह्यूमनडेस्टिनी' में विस्तारसे इस प्रश्नपर विचार किया है।

समाज देश-कालकी मर्यादामें गत्यात्मक (डॉयनमिक) है, अर्थात् मानवताके गतिशील विकासोन्मुखी मूल्योंसे समन्वित है और व्यक्तिके व्यक्तित्वमें अन्य समस्त बातोंके बावजूद इच्छा-शक्तिकी स्वतन्त्रता (फ्री विल) स्वीकृत है। सामाजिक मूल्योंकी गत्यात्मकता इसी स्वतन्त्र इच्छा-शक्तिके कारण है। यहाँ मूल्योंके गत्यात्मक होनेका अर्थ यह नहीं है कि मानव-समाज सदा नये और भिन्न मूल्योंकी स्थापना करता है। इससे तो यही सिद्ध होगा कि देश-कालके विभिन्न समाजोंकी अलग सत्ता है। जिस प्रकार मानव-समाज अविच्छिन्न है, चाहे कितने ही विस्तार और रूपोंमें विकसित और प्रसारित रहे, उसी प्रकार मानव-मूल्योंका मूलभूत आधार एक है, यद्यपि वे विकसित होते रहे हैं। अतः समाजकी प्रक्रियामें अपने व्यक्तित्वको संगठित करके भी व्यक्ति समाजको पुनः नयी उपलब्धियोंके लिए सक्रिय करता है।

इस प्रकार समाज और व्यक्तिके सक्रिय गत्यात्मक सम्बन्धकी स्वीकृतिके पश्चात् हम पुनः इस प्रश्नकी ओर वापस आते हैं कि व्यक्तिका दायित्व उसके महत्त्वका निर्णायक हो अर्थात् उसके अधिकारोंकी सीमा दायित्वके अनुसार हो। जो मानव व्यक्तित्वको सामाजिक परिस्थितियोंकी उत्पत्ति मानकर चलते हैं,[1] उनके लिए व्यक्तिके दायित्वका प्रश्न भी गौण होना चाहिए, क्योंकि ऐसी स्थितिमें यह तो समाजका दायित्व होगा कि वह व्यक्तिका संगठन समुचित रूपसे करे। यही कारण है कि समाजको समुदायका विकसित रूप माननेवाले विचारक जाने-अनजाने व्यक्तिको अपनी आवश्यकताके अनुसार ढालनेका जिम्मा समाजको इस सीमा तक दे देना चाहते हैं कि इस परिस्थितिमें व्यक्तिके दायित्वका प्रश्न इच्छा, क्रिया तथा उद्देश्यमें-से किसीके सम्बन्धमें नहीं उठता। हमने समाजको

१. यहाँ पुनः समाजको संगठन, विशेषकर आर्थिक व्यवस्थाका संगठन माना जायेगा।

संगठन न मानकर मानव-मूल्योंका वाहक माना है, इस कारण उसका दायित्व व्यक्तिकी अलग सत्ताको स्वीकार कर, उसको शासित तथा संयोजित करनेका नहीं हो सकता। परन्तु जब समाज-द्वारा इस प्रकारका दायित्व वहन किया जाता है, उस स्थितिमें कोई समर्थ शासक, वर्गोंको संगठित करनेवाला अधिनायक अथवा भावावेशमें लाकर जनताका प्रतिनिधित्व करनेवाला नेता इस दायित्वको अपने हाथमें ले लेता है। मनुष्योंके समूह-रूपमें समाजके दायित्वका अर्थ और क्या हो सकता है, क्योंकि यदि यह कल्पना की जाये कि प्रत्येक व्यक्ति समाजके रूपमें स्वयं इस दायित्वको ग्रहण करता है, तब तो वह व्यक्तिका अपना स्वीकार किया हुआ दायित्व होगा और किसी समाजके अनुशासन तथा नियन्त्रणका प्रश्न इस प्रसंगमें उठता ही नहीं। लेकिन यह तभी संगत होगा जब समाजकी उपर्युक्त गत्यात्मक व्याख्या की जाये, उसमें समाजके इस दायित्वका अर्थ मनुष्यके व्यक्तित्वपर ही प्रतिफलित होगा, क्योंकि यहाँ सामाजिक समष्टि (सोशल टोटलिटी) को व्यक्तित्वोंकी सक्रियताके अर्थ-मात्रमें स्वीकार किया गया है।

अन्ततः सामाजिक दायित्वका अर्थ यह नहीं है कि समाजका व्यक्तिके निर्माणके प्रति क्या दृष्टिकोण है, वरन् यह है कि व्यक्ति समाजकी मूल्यगत उपलब्धियोंके प्रति क्या भाव रखता है या रखना चाहता है। फिर इसलिए भी यह व्यक्तिका दायित्व है कि वह अपनी स्व-प्रकृति तथा व्यक्तित्वमें स्वतन्त्रतापूर्वक अपने उद्देश्यके अनुकूल निश्चय तथा निर्णय करके कार्य करनेवाला प्राणी है। इसी तर्क-पद्धतिसे यह अपने-आप सिद्ध हो जाता है कि दायित्व आरोपित कर्तव्य नहीं है। हमको यह करना है, ऐसा करना ही है, वह चाहे समाजके हितके लिए ही क्यों न हो—दायित्व नहीं है, विवशता है, नियन्त्रण है। इस प्रकार सामाजिक दायित्वका अर्थ है वैयक्तिक दायित्व, जिसके अन्तर्गत सामाजिक सापेक्षता निहित है। कहा गया है कि समाजके रूपमें व्यक्ति कभी परिवारके प्रति, कभी पास-पड़ोसके प्रति, कभी जाति-बिरादरीके प्रति, कभी धार्मिक सम्प्रदायके प्रति और

कभी राष्ट्रके प्रति अपने दायित्वकी बात सोचता है। पर यह परिवार इसलिए है और इसी सीमा तक है कि वह हमारा है अर्थात् व्यक्तिसे भिन्न उसकी स्वीकृति नहीं। इस भावात्मक अभिन्नताके बिना व्यक्तिके लिए दायित्वका निर्वाह आरोपित रह जायेगा और ऐसे आरोपित दायित्वके मध्य परिवार भले ही चलता रहे, पर पारिवारिकताकी कल्पना असम्भव हो जायेगी। यही बात समाजके प्रत्येक रूपके विषयमें समान रूपसे लागू है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपनी उपलब्धिसे सामाजिक उपलब्धिको भिन्न नहीं मानता, साधारण स्तरपर अपने हितों और स्वार्थोंसे सामाजिक हितको अलग नहीं मान पाता। व्यक्तिकी प्रगति इसीमें है कि वह सामाजिक समष्टिको गतिशील कर सके, उसका कल्याण यही है कि वह सामाजिक कल्याणमें योग-दान दे सके। साथ ही उसको इसका अनुभव भी न हो कि वह कुछ दे रहा है या पा रहा है, क्योंकि समाज उससे अविच्छिन्न है और वह समाजकी पूर्णता है।

पुनः इस प्रश्नपर एक दूसरे दृष्टिकोणसे विचार करना भी अनिवार्य है। दायित्वका सवाल व्यक्तित्वका इसीलिए है कि सामाजिक चेतनामें वह सचेष्ट इकाईके रूपमें उद्देश्यकी आकांक्षा करनेमें समर्थ है। सामाजिक अर्थमें दायित्व मात्र उपलब्धि है उस मर्यादाकी, जो अपने-आपमें कार्य-कारणकी अपेक्षा स्थिति ही अधिक है। उदाहरणके लिए साहचर्य, प्रेम, सहानुभूति अथवा सौन्दर्य आदि ऐसे किसी भी दायित्वको जो सामाजिक कहा जा सकता है, वास्तवमें मूल्य ही माना जाना चाहिए जो व्यक्तिकी किसी अपेक्षाकी अपने-आपमें सार्थक प्रक्रिया है। जबतक दायित्व व्यक्तिके लिए समाजको देनेकी शर्त है अथवा समाजके लिए पानेकी बात है, तबतक यह उसकी चेतन-प्रक्रिया न होकर कार्य-परिणामके रूपमें अधिक संगत जान पड़ता है। यदि व्यक्ति सहानुभूति रखना समाजके प्रति अपना दायित्व मानता है अथवा समाज व्यक्तिसे सहानुभूतिकी माँग दायित्व रूपमें करता है, तो ऐसा जान पड़ता है कि सहानुभूति ऐसा कृत्य है जो व्यक्तिको करना

है अर्थात् वह कुछ ऐसा है जो उससे अलग है। इस प्रकारका दायित्व व्यक्तिकी स्वकीय इच्छाका प्रतिफलन न होकर आरोपित कार्यकी दिशाका संकेत-मात्र देता है। वस्तुतः सहानुभूति, प्रेम या कल्याणकी भावना जब व्यक्तिका स्वभाव बन सके तभी वह उसके दायित्वका सहज रूप है। इस रूपमें दायित्व उसके व्यक्तित्वकी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति है, क्योंकि उसकी अपनी स्वीकृति है। इसका अनुभव वह अलग आरोपित वस्तुके समान नहीं करता, वह तो उसकी अपनी प्रकृति, अपने स्वधर्मका अंग बन जाता है।

यहाँसे दायित्वका प्रश्न एक ऐसी सीमा निर्धारित कर लेता है, जहाँ वह व्यक्तिके व्यक्तित्वका अंग ही नहीं बन जाता, वरन् उससे स्वातन्त्र्यकी व्याख्या भी करता है। व्यक्तित्व यदि निर्माणकी स्थिति है, तो दायित्व उस प्रक्रियाकी दिशा है। पर इस दिशाको निर्धारित कौन करेगा ? इस निर्माणकी प्रक्रियाका साक्षी कौन है, उसकी सापेक्षता क्या है ? इन प्रश्नोंका उत्तर ऊपरकी व्याख्यामें अन्तर्निहित है। इस निर्माणकी प्रक्रियाकी सापेक्षता, निश्चय ही मानवताके रूपमें जिस समाजकी व्याख्या की गयी है, उसीसे निर्धारित होती रही है, क्योंकि मानव-मूल्योंकी उपलब्धि इसका उद्देश्य है। अपनी निर्णय करनेकी विवेक-शक्तिके कारण व्यक्ति इसका साक्षी है। परन्तु दायित्व जब स्वधर्म है, तब उसका निर्धारण 'स्व' (पर्सन) की अपनी प्रेरणा करेगी, किसी बाहरी आधारकी अपेक्षा उसे नहीं होगी। यह स्व-धर्म वैयक्तिक स्वातन्त्र्यके रूपमें उद्भासित होगा। इस विवेक-स्वातन्त्र्यसे ही व्यक्ति अपनी परम्परा, अपने पक्षपातों, पूर्वग्रहोंके बीच अपने दायित्व (स्वधर्मके रूपमें) के वास्तविक अर्थको ग्रहण करता है। यहाँ स्वातन्त्र्य-का अर्थ है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्वमें अन्तर्निहित मानवीयताको (मानव-मूल्योंके अर्थमें) समस्त संस्कारोंसे मुक्त होकर अर्थवान् करता है और चूँकि उसका व्यक्ति समस्त सामाजिक व्यक्तित्वोंकी समष्टिमें ही गतिशील है, इस कारण इस स्वातन्त्र्यके अन्तर्गत अन्य सभी व्यक्तियोंके स्वातन्त्र्यका

भाव समन्वित है। प्रत्येक व्यक्तिका स्वातन्त्र्य दूसरेके वैयक्तिक स्वातन्त्र्य-से इस प्रकार बाधित न होकर उसका पूरक ही सिद्ध होता है और स्वातन्त्र्य व्यक्तिके अपने स्वातन्त्र्यके साथ दूसरोंकी वैयक्तिक स्वतन्त्रताकी स्वीकृति भी है। इस प्रकार आन्तरिक स्वधर्मको अनुभूत सत्यके रूपमें स्वातन्त्र्य ही उपलब्ध कराता है, इस कारण इसे मौलिक मानवीय प्रति-मान (अर्थात् समाजके गत्यात्मक प्रतिमान) के रूपमें स्वीकार किया जा सकता है।

इस बातको अधिक स्पष्ट रूपमें सामने रखना अपेक्षित है। अनेक वार व्यक्तिवादी (इण्डिविजुअलिस्टिक) स्वतन्त्रता और वैयक्तिक (पर्सनल) स्वतन्त्रताको समान अर्थमें समझनेका भ्रम किया जाता है।[1] पूँजीवादी व्यवस्थाके अन्तर्गत व्यक्तिवादी स्वतन्त्रताका विकास हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्तिगत महत्त्वका आग्रह बढ़ा है। इस स्वतन्त्रता-में दूसरे अनेक व्यक्तियोंकी स्वतन्त्रताका अपहरण भी सम्मिलित था। नये प्रतिमानके रूपमें स्वीकृत वैयक्तिक स्वतन्त्रताका अर्थ है समाजके प्रत्येक व्यक्तिकी मुक्ति। इस स्थितिमें प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियोंकी मुक्तिमें अपनी मुक्तिको पा सकेगा। ऐसे समाजमें प्रत्येक व्यक्ति यह प्रयत्न करने-के बजाय कि दूसरे व्यक्ति उसका मत स्वीकार करें, उसके विचारको ग्रहण करें, उसका अनुकरण करें, अथवा उसके प्रभावमें रहें, उसका प्रयत्न होगा कि प्रत्येक दूसरा व्यक्ति स्वयं स्वतन्त्र रूपसे सोच-समझ सके, निर्णय ले सके, और स्वयं अपना स्वधर्म निर्धारित करनेमें समर्थ हो सके। व्यक्ति

---

१. बर्डेवके अनुसार "व्यक्तिवाद (इण्डिविजुअलिज़्म) एक सीमित मनोवृत्ति है जो असंस्कृत, असामाजिक, अन्ध प्रेरणाओंसे या एक विशेष सामाजिक स्थितिके प्रति मानसिक प्रक्रियाके रूपमें हमारे व्यक्तित्वमें उद्भूत हो जाती है और हमारे अपने स्वार्थों और सीमाओंकी ओर उन्मुख करती है। वैयक्तिकता (पर्सनलिज़्म) व्यक्तिका आन्तरिक धर्म है, विकासोन्मुखी सर्जनात्मक वृत्ति है जो स्थायी व्यापक मानवीय मूल्योंको उनकी सम्पूर्ण पूर्णतामें पहचान कर, उन्हें दायित्वके रूपमें स्वीकार करके अपने व्यवहारको मर्यादित करती है।"

अपने विचारमें स्वतन्त्र है, उसको प्रकट करनेमें उस सीमा तक स्वतन्त्र रहेगा, जिस सीमा तक दूसरोंकी विचार करनेकी पद्धतिको कुण्ठित न करे। पर कार्यरूपमें परिणत करनेके पूर्व उसे दूसरोंकी इच्छाओं, आकांक्षाओं, विचारों तथा भावनाओंका समादर करना होगा, क्योंकि उसे दूसरोंके व्यक्तित्वके स्वातन्त्र्यकी प्रतिष्ठा करनी है। वस्तुतः जिस गतिशील समाज-की स्थापना की गयी है, उसमें समष्टिगत भावनाके साथ वैयक्तिक स्वातन्त्र्यकी यह निर्बाध स्थिति सहज है, क्योंकि दायित्व (स्वधर्म)के रूपमें यह स्वतः मानवताका मौलिक प्रतिमान है, जिसमें विरोधकी सम्भावना नहीं है। इस प्रकार दायित्व और स्वातन्त्र्य एक ही प्रक्रियाकी (अथवा मूल्यकी) दो स्थितियाँ मात्र हैं और उनके साथ 'वैयक्तिक' लगाना उतना ही निरर्थक है जितना 'सामाजिक'। वे एक-दूसरेमें अविच्छिन्न मूल्य हैं।

अन्तमें साहित्यकारके दायित्वका प्रश्न आता है और इसके साथ ही उसके व्यक्तित्व तथा स्वातन्त्र्यका प्रश्न भी सन्निहित है। पूछा जा सकता है कि साहित्यकारके प्रश्नको इस प्रकार अलग क्यों रखा गया है। दायित्व-के क्षेत्रमें अथवा व्यक्तित्वकी दृष्टिसे उसका विशिष्ट महत्त्व क्या है? उसके महत्त्वके लिए तर्क देना कि साहित्यका प्रभाव-क्षेत्र विस्तृत है, अधिक तर्क-संगत नहीं है। इस दृष्टिसे अन्य अनेक व्यक्ति हैं (धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक नेता) जो बहुत बड़े जन-समाजको प्रभावित और नियन्त्रित करते हैं। पर इस प्रकारकी व्यक्तिगत महत्ताके विषयमें काफ़ी कहा जा चुका है। सामाजिक जीवनके अर्थमें साहित्यकारके व्यक्तित्वकी समस्या व्यक्तिमात्रकी समस्यासे भिन्न नहीं मानी जा सकती। वह अपनी प्रकृति-से ही व्यक्तिवादी महत्त्वाकांक्षासे पीड़ित नहीं होता, इस कारण उसमें शासक, अधिनायक अथवा नियन्ता होनेकी सम्भावनाएँ नहीं रहतीं। पर साथ ही उसकी स्थिति विशिष्ट अवश्य है और उसके व्यक्तित्वकी यह विशेषता उसकी रचनात्मक प्रक्रियाकी है। वह सामाजिक जीवनका

भोक्ता है, साथ ही उसका स्रष्टा भी है और यहींसे प्रश्न एक नवीन मोड़ लेता है। इसी स्थलसे उसके दायित्वकी व्यंजना और उसके स्वातन्त्र्यका अर्थ किंचित् बदलता है।

कहा गया है कि व्यक्ति महत्त्वपूर्ण होकर (शक्ति, प्रभाव अथवा प्रतिभाकी दृष्टिसे) समस्त समाजको शासित, मर्यादित अथवा नियन्त्रित करनेका अधिकार चाहते हैं। वे वस्तुतः विवेक तथा संयमसे हीन ही रहते हैं, क्योंकि उनके लिए विधि-बिधानोंका महत्त्व है, उनमें अपने मतको प्रतिपादित करनेका आग्रह होता है और दूसरोंको मनोनुकूल प्रेरित करनेकी वांछा विद्यमान रहती है। परन्तु साहित्यकार अपनी रचनात्मक प्रक्रियामें इस प्रकारके पक्षपातोंसे सहज ही अलग रह सकता है, क्योंकि वह समस्त जीवन (मानवता) के प्रति आस्थावान् है। वह अपने रचनात्मक क्षणोंमें यह नहीं सोचता कि उसका क्या मत है, उसका क्या पक्ष है, उसका क्या वर्ग है। वह बुद्धिसे अधिक अपने आन्तरिक विवेकसे जीवनको ग्रहण करता है। यदि वह अपनो आन्तरिक संवेदनासे हटकर बौद्धिक स्तरपर वस्तु-स्थितिके सत्यको ग्रहण करेगा तो वह जावनको उपलब्धिके रूपमें प्राप्त न करके अपने सारे पक्षपातों तथा पूर्वग्रहोंको ब्यक्त करनेके लिए विवश हो जाता है। यह सर्जनाकी प्रकृतिका सत्य है कि साहित्यकार अपने जीवनके स्थानपर दूसरोंके क्षणोंमें जीवित रहता है। वह वस्तुतः अपनी वैयक्तिक सीमामें समस्त समाजको आत्मसात् करनेकी प्रक्रियामें ही साहित्य-सर्जन करता है।

ऊपर कहा गया है कि व्यक्ति और समाज एक ही गत्यात्मक प्रक्रियाके रूप हैं, इस कारण उनकी उपलब्धियाँ एक हैं, उनके मूल्य एक हैं। साहित्यकार सामाजिक जीवनकी इसी गतिको ग्रहण करता है, इस कारण वह मानवके दायित्व अथवा स्वातन्त्र्य-सम्बन्धी मौलिक प्रतिमानको अनिवार्यतः महत्त्व देगा। यह स्थिति उसके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि साहित्य मनुष्यके सांस्कृतिक मूल्योंकी उपलब्धिके रूपमें स्वीकार

किया जाता है। साहित्यकार उसके प्रति तभी ईमानदार रह सकता है, जब वह स्वतन्त्र विवेक अर्थात् आन्तरिक संवेदनसे अपने दायित्वकी जाँच करे। इस स्थितिमें स्पष्टतः दायित्व (साहित्यिक) उसकी सर्जनात्मक प्रक्रियाका अंग बन जायेगा। आत्मोपलब्धिके बिना प्रक्रियाका अंग कुछ नहीं बन सकता, ऐसी स्थितिमें साहित्यकारके लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह समस्त सामाजिक दायित्वको आत्मोपलब्धिके रूपमें ग्रहण करे।

वाल्मीकि, कालिदास, होमर, गेटे, शेक्सपियर, मिल्टन, तुलसी या सूर किसीको भी लें, वे अपनी-अपनी सामाजिक परिस्थितिमें जीते हुए भी अपनी रचना-प्रकियामें अपने सीमित संस्कारों, अनुराग-विराग, ईर्ष्या-द्वेषसे ऊपर उठकर ही अपने युगकी सांस्कृतिक उपलब्धियोंके अनुकूल मानव-हृदयको चित्रित कर सके हैं। मानव-मूल्यके इसी महत्त्वके कारण आज भी उनके साहित्यमें हमारे लिए आकर्षण है। ऐसी नहीं है कि समस्त साहित्य और सारे साहित्यकार अपने पक्षपातों और पूर्वग्रहोंसे मुक्त हो जाते हैं। पर धर्म, सम्प्रदायपर लिखा गया, राजाश्रयमें राजाकी प्रशंसामें तथा शृंगारकी नानाविधियों और उद्दीपनोंपर लिखा गया और विभिन्न मतवादोंके प्रचारके लिए लिखा गया साहित्य वस्तुतः साहित्यकी संज्ञाका अधिकारी नहीं रहा है। इसी प्रकार कल्पनाको उद्दीप्त करनेवाला और व्यक्तिगत वासनाओंको उत्तेजित करनेवाला साहित्य भी साहित्यके अन्तर्गत नहीं आता, क्योंकि यह समस्त साहित्य लेखककी विचार-परतन्त्रता, संयमहीनता तथा स्वार्थपरताका द्योतक है और यह दूसरोंको भी इसी प्रकारकी प्रेरणा देता है। यह साहित्य वास्तवमें साहित्य नहीं माना जाता, परन्तु हमने इस कारण इसपर विचार किया है कि अनेक विचारकोंने इस प्रसंगमें अश्लीलता तथा उच्छृंखलता आदिके प्रश्नको उठाया है। इस प्रकारका साहित्य न तो साहित्यकारके वैयक्तिक स्वातन्त्र्यका द्योतक है और न यह दूसरोंकी मुक्तिमें किसी भी रूपमें

सहायक हो सकता है, क्योंकि ऐसा साहित्य व्यक्तिकी कुण्ठाओं, वासनाओं तथा आवेगोंको आक्रान्त करके उसे निष्क्रिय करता है। पर इस प्रकारके साहित्यके लिए सामाजिक चेतना ही सबसे बड़ा प्रतिरोध होती है।

जो साहित्य समयकी कसौटीपर खरा उतरा है, या जो युग-युगका साहित्य हो गया है, वह निश्चय ही लेखककी आत्मोपलब्धिका साहित्य है। इन साहित्यकारोंने अपने युगके सामाजिक जीवनको सांस्कृतिक चेतनाके रूपमें ग्रहण किया है। उन्होंने मात्र राजाओंका वर्णन, घटनाओंका चित्रण तथा विभिन्न अवस्थाओंका दिग्दर्शन रहीं कराया है और न मात्र मतों, सम्प्रदायों और विश्वासोंका प्रवर्त्तन किया है। उन्होंने युगजीवनको आत्मगत सत्यके रूपमें ग्रहण किया है और अपने साहित्यको युगीन सांस्कृतिक उपलब्धियोंका वाहक बनाया है। साहित्यकारकी आन्तरिक संवेदना उसके वैयक्तिक स्वातन्त्र्यकी शर्त है और इसीके माध्यमसे वह मानवीय मूल्योंकी प्रतिष्ठा करनेमें समर्थ हो पाता है। इस सन्दर्भमें यदि हम आजके साहित्यकारके व्यक्तित्वके प्रश्नको रखें, तो निश्चय ही उसके स्वातन्त्र्यका आग्रह उसके दायित्वकी माँग सिद्ध होगा। उसके इस विवेक स्वातन्त्र्यको अस्वीकार करनेका अर्थ होगा कि हम उसकी आन्तरिक संवेदनशीलताको नियन्त्रित करना चाहते हैं, अर्थात् उसकी रचना-प्रक्रिया-को शासित करना चाहते हैं। स्पष्ट ही जिसका अर्थ है कि उसको समाप्त करनेका आग्रह प्रकट करते हैं। इस स्वातन्त्र्यको दायित्वहीन, अराजक, उच्छृंखल तथा समाज-विरोधी कहना व्यक्ति और समाजके गत्यात्मक सम्बन्धको अस्वीकार करनेके साथ साहित्यकारकी रचनात्मक प्रक्रिया न समझना है।

साहित्यकी सर्जन-प्रक्रियाकी विशिष्ट स्थितिके कारण प्रत्येक युगमें यह सम्भव हो सका है कि साहित्यकार धार्मिक मतवादों, दार्शनिक चिन्तन-पद्धतियों तथा राजनीतिक संघर्षोंके विरोधके बीच भी सामंजस्य और समन्वयका मार्ग प्रशस्त करता आया है। उन सभी पिछले युगोंमें

जिनमें व्यक्तिकी सत्ता अपने व्यक्तिवादी रूपमें सारे समाजको नियन्त्रित करती रही है, साहित्यकारने अपने वैयक्तिक स्वातन्त्र्यकी रक्षा की है और सामाजिक (मानवीय) मूल्योंको गति प्रदान की है। इसका कारण यह है कि साहित्यकारका साहित्यिक-सर्जनके क्षेत्रमें व्यक्तिगत कुछ नहीं रहा है। साहित्य उपलब्धिके रूपमें भी प्रेषणीय है, इसलिए उसके साथ समष्टिका प्रश्न चिरन्तन है। साहित्यिक व्यक्तित्व और उसका स्वातन्त्र्य रचनाकी प्रेषणीयताके कारण व्यक्तिवादी होकर अपने-आपको कुण्ठित ही कर लेगा। उसके लिए स्वातन्त्र्य मात्र-दायित्वकी चेष्टा है और वह समाज (वर्गगत नहीं) की आन्तरिक मर्यादाको सापेक्षतामें प्रतिफलित होता है। मानवीय जीवनके अन्य क्षेत्रोंमें जो कुछ सांस्कृतिक उपलब्धियोंके रूपमें स्वीकृत होता रहा है, वह भी इसी आधारपर कि वह मानवीय प्रतिमानोंकी परम्पराको अग्रसर करनेमें अविरोधी तत्त्व है। उसने मानवीय मर्यादाको खण्डित न करके इतिहासके क्रममें आगे ही बढ़ाया है। मानवताको खण्डित रूपमें माननेवाले धर्म, दर्शन और नीतियाँ हमारे सांस्कृतिक विकासमें बाधक ही रही हैं। परन्तु साहित्यने, निरन्तर मानव-संस्कृतिको वहन किया है, युग-विशेषको उपलब्धियोंको आगत युगोंके लिए सुरक्षित रखा है और यह स्वातन्त्र्यका प्रतिमान साहित्यकी रचनात्मक प्रक्रियाकी आन्तरिक प्रकृतिसे उद्भूत है।

साहित्यकार जीवनके अन्दरसे जीवनका साक्षात्कार करता है। वह अन्य ज्ञानी-विज्ञानियोंके समान मानव-जीवनको वस्तु नहीं मानता और विश्लेषण करके उसकी परीक्षा नहीं करता। इन अनुभूत क्षणोंको वह दूसरोंके लिए प्रेषणीय बनाता है। इस संवेदन और सम्प्रेषणाकी स्थितिमें साहित्यकारका व्यक्तित्व इस सीमा तक सामाजिक गत्यात्मकताका अंग बन जाता है कि शायद दूसरा व्यक्ति अपने किसी क्षणमें कम ही उस सीमा तक पहुँच सकता है। इस प्रक्रियामें व्यक्ति तथा समाजकी सीमा अभिन्न हो जाती है, वह सामाजिक जीवनके माध्यमसे अपने व्यक्तित्वको व्यंजित

करता है । इस कारण यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं है कि साहित्य-कारका व्यक्तित्व सामान्य होकर भी, अपनी सर्जनशील प्रकृतिके कारण विशिष्ट है । ऐसी स्थितिमें उसके स्वातन्त्र्यकी आकांक्षा उसके दायित्वकी सबसे बड़ी स्वीकृति है, वस्तुतः यह स्वतन्त्रता उसके लिए सबसे महान् दायित्व है; क्योंकि उसका दायित्व किसी वर्ग, जाति अथवा राष्ट्र आदि देश-कालगत स्थिर रूपोंके प्रति न होकर सम्पूर्ण मानवताके प्रति है, जिसका निर्णय उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व ही कर सकता है ।

ऐसी स्थितिमें साहित्यकार (कलाकार) के वैयक्तिक स्वातन्त्र्यका प्रस्ताव मानव-मूल्यों और प्रतिमानोंको स्वीकृति तथा उसकी मर्यादाकी प्रतिष्ठाके लिए महत्त्वपूर्ण शर्त है । यहाँ यह भी समझना आवश्यक है कि यह स्वातन्त्र्य उसके व्यक्तिगत सामाजिक जीवनकी स्वतन्त्रतासे अभिन्न होकर भी विशिष्ट अवश्य है । परन्तु साहित्यकारका रचनात्मक परि-स्थितिके सम्बन्धमें स्वातन्त्र्यका प्रश्न मौलिक (बेसिक) और अनिवार्य है, क्योंकि जैसा कहा गया है कि इसका सम्बन्ध साहित्यकी मूल प्रकृतिसे है । समाजका सांस्कृतिक जीवन मानवीय मूल्योंकी श्रेष्ठतम अनुभूतियोंसे संचालित और उन्हींकी उपलब्धियोंपर आधारित और विकसित होता है । साहित्य इस सांस्कृतिक संचरणका समर्थ और महत्त्वपूर्ण वाहक है । अतः यदि साहित्यकार मानवीय स्वाधीनताको अपनी साहित्य रचनाका मौलिक प्रतिमान स्वीकार करता है, तो यह उसकी रचना-प्रक्रिया (क्रिएटिव प्रॉसेस) के मुक्त होनेकी स्वीकृतिके साथ अपने गम्भीर दायित्वके प्रति जागरूक होनेकी घोषणा भी है । इस प्रकार उसके लिए दायित्व और स्वातन्त्र्य अविच्छिन्न मूल्य हैं, एकका भाव दूसरेमें आ जाता है, एकमें ही दूसरेकी स्वीकृति हो जाती है ।

■

साहित्यका प्रगतिशील मानदण्ड

आज हम इस प्रश्नको क्यों उठा रहे हैं ? अनेक बार प्रश्नके उठते ही ऐसा जान पड़ता है कि यह कोई प्रश्न नहीं है। लगता है कि बीसवीं सदीके इस छठे दशकमें यह प्रश्न बिलकुल थोथा है। परन्तु सम्भवतः इस विषयको लेकर ही साहित्यमें सबसे अधिक उलझन और अस्पष्टता है। अनेक बार 'जन' शब्दके समान जनवादी साहित्यके अर्थको अत्यन्त व्यापक रूपमें लिया जाने लगता है और उस समय सामान्य जनताके लोक-साहित्यके रूपमें इसे स्वीकार करनेका भ्रम किया जाता है। इस अति-व्याप्तिके विपरीत एक सीमा अव्याप्ति दोषकी भी है, जहाँपर कुछ विचारक साहित्यमें प्राचीन आचार्योंके साधारणीकरणकी व्याख्या इस रूपमें करनेका प्रयत्न करते हैं। परन्तु साधारणीकरण साहित्यके अभिव्यक्त अर्थको ग्रहण करनेकी प्रक्रिया है, जिसका सम्बन्ध विषय-वस्तुसे निर्धारित नहीं होता, जबकि प्रस्तुत प्रश्नका मन्तव्य साहित्यकी प्रयोजनीयता और विषय-वस्तुसे अनिवार्यतः सम्बद्ध है। अभिव्यक्तिका प्रश्न सभी स्तरों, वर्गों और कोटियों-के साहित्यके विषयमें समान रूपसे लागू होता है। जो कुछ भी साहित्यमें अभिव्यक्त होता है, वह यदि कलाकृति है, तो निश्चय ही कोई पाठक या श्रोतावर्ग उस अभिव्यक्तिका लक्ष्य होगा। उस वर्गके लिए वह कृति साधारणीकरणकी सहज प्रक्रिया-द्वारा ही अनुभवका विषय बन सकती है। पर इससे एक तथ्य अवश्य हाथ लगता है कि साहित्य अभिव्यक्तिके रूपमें ही मानवीय सहानुभूतिके व्यापक और सहज तत्त्वको स्वीकार करता है। एक व्यक्तिका अनुभव दूसरेकी अनुमतिका विषय तभी बन सकता है, जब दोनोंमें कोई सामान्य भावभूमि हो। और साहित्य अपने ही युगके

लिए नहीं युग-युगके लिए अर्थवान् है।

इस विषयमें एक सामान्य भ्रम लोकप्रियताका भी है। कुछ लोगोंका मत ऐसा जान पड़ता है कि जो लेखक जनता-द्वारा जितना अधिक पसन्द किया जाता है या जिसकी कृतियोंकी जनतामें जितनी अधिक खपत है, वह उतना ही जनवादी होगा। उदाहरणके लिए तुलसीदास और प्रेमचन्दको लिया जा सकता है। ऊपरसे यह मत जितना सीधा है, उतना ही खतरनाक भी। पुस्तकोंकी बिक्रीके आँकड़े रखनेवाला फ़ौरन टोक सकता है कि इस क्रमसे तो ऐसे लेखक भी हैं जो प्रेमचन्दसे अधिक जनवादी लेखक सिद्ध हो सकते हैं और इस तर्क-द्वारा 'रामचरितमानस'से तो 'क़िस्सा तोता-मैना' कहीं अधिक जनवादी कृति सिद्ध हो सकती है। लेकिन इस विवादमें क्षण-भरके लिए भी किसीको भ्रम नहीं होता। यहाँ एक तर्क-पद्धतिकी अवतारणा की जा सकती है, जो किसीके द्वारा अभीतक प्रस्तुत नहीं की गयी है। भारतवर्षका आजका समाज भी वर्ग-चेतनाके उस स्तर-पर है जहाँपर पौराणिकताका मोह बना हुआ है और ऐसी स्थितिमें जबतक ऐतिहासिक क्रममें वर्ग-चेतनाका विकसित स्तर यहाँ उपस्थित नहीं होगा, उस समय तक जनताकी रुचिका स्तर भी नहीं बदलेगा। पर यह हम निश्चित रूपसे जानते हैं कि इतिहासके वैज्ञानिक व्याख्याकारोंने अलग-अलग देशोंमें इतिहासके भिन्न युगोंकी कल्पना नहीं की है और न ऐसा सम्भव है कि इतिहासकी गतिको कोई चुपचाप शान्त भावसे देखा करे कि द्वन्द्वात्मक प्रक्रियाओंसे हमारे सामाजिक जीवनमें वर्गोंकी स्थिति अधिक स्पष्ट और तीखी हो रही है। उसके लिए सामन्ती वातावरणसे पूँजीवादी शक्तियोंका जन्म हो रहा है। फिर अपने अन्तर्विरोधकी स्थितिसे विनष्ट होती पूँजीवादी संस्कृतिको ध्वस्तकर शोषित वर्ग अपनी शक्तियोंको संगठित करनेके लिए संघर्षशील है और जब यह सब हो जायेगा, तब जो साहित्य लिखा जायेगा वह जनताका अपना साहित्य होगा; जिसमें वर्ग-संघर्ष और शोषित वर्गकी आशाओं और महत्त्वाकांक्षाओंका प्रतिबिम्ब होगा।

परन्तु जैसा कहा गया है यह तर्क पद्धति मात्र है, ऐसा स्वीकारनेका साहस तथा धैर्य किसीमें नहीं है।

फिर लोकप्रियता जनसाहित्यका मानदण्ड नहीं हो सकती। उसके साथ किसी अन्य 'मान' को स्वीकार करना पड़ेगा। तुलसीदासका प्रश्न उठा था, इस कारण नैतिकताका प्रश्न भी उठाया जा सकता है। आचार्य रामचन्द्रने मर्यादाकी दृष्टिसे ही तुलसीको हिन्दीका सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित किया है। इस प्रकार लोकप्रियताके साथ नैतिक आचरणकी मर्यादाको भी साहित्यिक 'मान' के रूपमें स्वीकार किया जा सकता है। यहाँ पुनः दो प्रश्न उठते हैं। क्या साहित्यके लिए नैतिक मर्यादा अनिवार्य है? और यदि है, तो क्या उसको शुद्धतावादी होना चाहिए? कठोर शुद्धतावादी दृष्टिसे तो तुलसीकी भी रक्षा करनी कठिन होगी, फिर कालिदास, शेक्स-पियर और हिन्दीके सूरकी क्या स्थिति होगी? और साथ ही संसारके समस्त यथार्थवादी साहित्यकी क्या परिणति होगी? सामान्य नैतिकताके विषयमें भी यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि किस नैतिकताको साहित्य-का 'मान' स्वीकार किया जायेगा। उसका दृष्टिकोण तो युग, समाज, देश और यहाँतक कि विभिन्न वर्गोंमें अलग-अलग स्वीकृत होता है।

इसके बाद जनकी भावनाके साथ साहित्यमें कल्याणका प्रश्न उठता है। साहित्यमें कल्याणकी समस्याको अनेक स्तरोंपर उठाया गया है, पर यहाँ 'जन कल्याण' का अर्थ ही प्रधान है। वस्तुतः जनतन्त्रके अन्तर्गत 'जन' शब्दको ही समस्त जनताके उस कल्याण अथवा हितका अर्थ दे दिया गया है, जिसे बहुसंख्यक स्वीकार भी करें। शायद साहित्यके क्षेत्र-में राजनीतिके इस अर्थका विशेष महत्त्व नहीं है। परन्तु इससे हम एक स्वाभाविक परिणाम तक पहुँच सकते हैं। साहित्यकी प्रगतिशील व्याख्याने जन शब्दको प्रमुखता प्रदान की है और 'जन' से उनका अर्थ होता है, जनताके उस वर्गसे जो शोषित है और जो संघर्ष-द्वारा भविष्यके वर्गहीन समाजकी नींव डाल रहा है। इस प्रकार यहाँ जनवादी साहित्यका अर्थ

हुआ, जाग्रत् शोषित वर्गके संघर्षका तथा उसकी आकांक्षाओंका साहित्य। अगर बात यहीं समाप्त हो जाती, तो समझाना सरल था कि प्रत्येक साहित्य वर्गका साहित्य है और क्योंकि आज शोषित मज़दूर किसानोंमें जागरण है, वे अपनी स्वतन्त्रताके लिए लड़ रहे हैं, इसलिए इसी वर्गके साहित्यको जनसाहित्य कहा जायेगा। परन्तु इस सरल तर्क-शैलीकी स्वाभाविक परिणति यह होगी कि साहित्यकी पिछली परम्परा जनवादी साहित्य नहीं कही जा सकेगी और दूसरे इस प्रकारके वर्गोंमें विभाजित साहित्यके 'मान' का प्रश्न तो बना ही रहेगा। अन्यथा यह भी अनिवार्य परिणति स्वीकार की जायेगी कि आजके इस वर्गका साहित्य ही एक मात्र उच्च साहित्य है, प्रगतिशील साहित्य है और पिछले युगोंका साहित्य जो निश्चय ही श्रमिक वर्गके विरुद्ध शासक वर्गका साहित्य है तथा आधुनिक युगका वह समस्त साहित्य जो किसी-न-किसी रूपमें इस वर्ग-संघर्षमें श्रमिक जनताके पक्षमें नहीं है अथवा श्रमिक संस्कृतिके निर्माणमें सहायक नहीं है, ह्रासोन्मुखी साहित्य है, प्रतिक्रियावादी साहित्य है। इस प्रकार साहित्यका जनवादी होना मात्र एक साहित्यिक धाराका द्योतक न होकर उसका एक स्वतन्त्र 'मान' भी प्रस्तुत करता है और यहीं साहित्यके विवेचनकी सबसे बड़ी कठिनाई उत्पन्न होती है। कठिनाई यह नहीं है कि मार्क्सवादी दृष्टिने साहित्यकी यथार्थवादी सामाजिक व्याख्या की है, वरन् यह कि वह अपनी पद्धतिमें एक ऐसा 'मान' स्थापित करता है, जिसके अनुसार 'साहित्यिकका श्रमिक जनताके जीवनके अनुसार सज्जित होना' अनिवार्य शर्त हो जाती है; फलतः साहित्यका समाजवादी निर्माण और सामाजिक दीक्षाका सेवक[1] बनना भी निश्चित है।

साहित्य और समाजके सम्बन्धपर अनेक पूर्ववर्ती साहित्यशास्त्रियों और चिन्तकोंने प्रकाश डाला है, उसे स्वीकार किया है। परन्तु साहित्यकी

१. लूकाक्स और सामाजिक यथार्थवाद: जोज़ेफ़ रेवाई (१९५०)।

समाजवादी व्याख्याका एक अभूतपूर्व आधार प्रगतिशील विचारधाराने प्रस्तुत किया है। साहित्यालोचनके क्षेत्रमें उसका महत्त्वपूर्ण योग है। उसका दावा यह भी है कि व्याख्याकी यह पद्धति साहित्यके वास्तविक 'मानों' को स्थापित करनेमें पूर्ण सफल हुई है। विचारशील व्यक्तिके लिए इसका मान लेना थोड़ा कठिन है। मार्क्स तथा एँगेल्सने अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके अन्तर्गत कला और साहित्य आदिके विषयमें पहली स्थापना की है कि 'समस्त मानवीय भौतिक जीवन उसके भौतिक जीवनकी उत्पादन प्रणाली-से नियमित होता है। मनुष्यकी चेतना उसकी अवस्थाका नियमन नहीं करती, वरन् उसका अस्तित्व उसकी चेतनाका नियमन करता है।'[1] समाजके आर्थिक आधार (बेसिस) के साथ उसपर खड़े हुए प्रासाद (सुपरस्ट्रक्चर) का रूप भी कम-बेश बदलता जाता है, अर्थात् मनुष्यका समस्त चिन्तन तथा सर्जन उसके अपने युगकी स्थितिसे निर्धारित है, और क्योंकि युग अपने समाजके उत्पादनसम्बन्धी आर्थिक नियमोंसे शासित है, इस कारण सब-कुछ सामाजिक वर्गोंकी स्थितिपर निर्भर हो जाता है। परन्तु स्वतः मार्क्सने 'उत्पादनकी आर्थिक परिस्थितियोंके भौतिक परिवर्तन तथा इन वैज्ञानिक, राजनीतिक, धार्मिक, कलात्मक तथा दार्शनिक अर्थात् समस्त बौद्धिक प्रक्रियाओंके बीच'[2] अन्तर माना है। और इस विषयमें फ़ेण्डरिक एँगेलसने भी स्वीकार किया है कि "बौद्धिक चेतना आर्थिक जगत्से जितनी दूर और शुद्ध कल्पनात्मक विचारधारासे जितनी निकट होगी, उतना हमें उसके विकासमें आकस्मिक घटनाओंका आधिक्य दिखाई पड़ेगा और उतनी ही रेखा वक्र दिखाई देगी।"[3] आगे चलकर यह भी कहा गया है कि अनेक बार ये बौद्धिक प्रक्रियाएँ अपने मौलिक नियमपर गतिशील होती हैं और सामाजिक संघर्षोंके स्वरूप निर्णयोंमें भी प्रमुख भाग लेती हैं।[4]

---

१. क्रिटिक ऑव पोलिटिकल एकानमी : मार्क्स। २. वही। ३. हांज-स्टार्केंम वर्गके नाम पत्र। ४. सेलेक्टेड् करेस्पाण्डेन्स : मार्क्स एँगेल्स।

स्पष्ट है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके प्रथम आचार्योंके मनमें कला तथा साहित्यसम्बन्धी सांस्कृतिक उपलब्धियोंके विषयमें सीधी और सरल बात नहीं है। उनके मनमें इस बातका निरन्तर आभास रहा है कि इन बौद्धिक प्रक्रियाओंके स्वरूप-निर्माणमें आर्थिक परिस्थितियों तथा आवश्यकताओंका प्रतिबिम्ब नहीं है। प्रश्न उठता है कि 'वह और' क्या है जो समाजकी आर्थिक व्यवस्थासे निर्धारित चेतनाको मुक्त रूपसे अपने नियमोंपर संचालित होनेकी छूट देता है और फिर इस चेतनाको सामाजिक प्रगतिमें निर्णायक भाग प्रदान करता है। इसका उत्तर हमको इन आचार्यों से नहीं मिलता, वे तो अन्तर्विरोध उत्पन्न करनेवाली इन सम्भावनाओंकी ओर संकेत कर पुनः अपनी स्थापनापर लौट आते हैं। मार्क्स अपनी बातको सँभालते हुए कहते हैं कि 'किसी परिवर्तित होते युगके बारेमें हम उस युगकी बौद्धिक चेतनाके आधारपर ही निर्णय नहीं कर सकते। इसके विपरीत इस चेतनाके विषयमें भी हमें भौतिक जीवन और उत्पादन सम्बन्धोंके अन्तर्विरोधोंको दृष्टिमें रखकर सोचना-समझना चाहिए।'[1] यहाँ 'ही' और 'भी' शब्दोंसे मार्क्सके मनकी द्विविधा ही पोषित होती है। एँगेल्सने अधिक स्पष्टताके कारण स्वीकार किया कि आर्थिक प्रगतिका सूत्र अन्ततः अपनेको अनिवार्य सिद्ध कर देता है।[2] इस प्रकार इतिहासकी द्वन्द्वात्मक प्रगतिके क्रममें यह चेतनाकी दरार इस सिद्धान्तमें अन्तर्विरोधकी परिचायक है, क्योंकि बौद्धिक प्रक्रियाओं और उपलब्धियोंको कुछ भी छूट देनेसे इतिहासकी गति सीधी रेखामें प्रवाहित होनके स्थानपर न जाने कब कौन मोड़ ले सकती है।

इस आधारपर साहित्यमें जो जनवादी दृष्टिकोण विकसित हुआ है, उसमें प्रारम्भिक गत्यात्मकताके स्थानपर, जो मार्क्स, एँगेल्स, गोर्की तथा

---

१. क्रिटिक ऑव पोलिटिकल एकानमी: मार्क्स। २. सेलेक्टेड करेस्पाण्डेन्स: मार्क्स: एँगेल्स।

एक सीमा तक लेनिनमें मिलती है, विकासकालीन सैद्धान्तिक रूढ़िवादिता-का रूप ही अधिक मिलता है। जिस प्रकार सामन्तयुगीन रूढ़िवादो धर्म और दर्शनके प्रति विद्रोह करते समय वैज्ञानिक भौतिकवादमें काफ़ी गति परिलक्षित होती थी, उसी तरह रूढ़िवादी भौतिकवादसे विद्रोह करते हुए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (समाजवाद) में जीवन और गतिकी पकड़ थी, ऊपरको विवेचनासे भी यह स्पष्ट है। पर ज्यों-ज्यों इसकी प्रक्रिया आगे बढ़ती गयी, इसका अन्तर्विरोध भी प्रत्यक्ष होता गया है। साथ ही साहित्यके क्षेत्रमें अपनी पद्धतिके अन्तर्गत व्यापक तत्त्वोंको स्वीकृति देनेका अथक प्रयत्न भी चलता रहा है और साहित्यको शासक वर्ग (श्रमिक-वर्ग) का अस्त्र होनेका निर्णय भी दिया जाता रहा है। ऐसी परिस्थितिके बीच जनवादी साहित्यकी एक सीमा वह रही है, जिसपर साहित्यकी विषय-वस्तु सामाजिक यथार्थसे सजीव तथा स्पन्दित होकर ही राजनीतिक मूल्योंका मूलस्रोत बन सकती है। इस दृष्टिसे साहित्य यथार्थकी उन समस्त युगीन जटिलताओं और विषमताओंको प्रतिबिम्बित करता है, जिनके द्वारा और जिनके माध्यमसे समाजको आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था स्वयं गतिशील होती है। परन्तु यहाँ इस सामाजिक यथार्थके प्रतिबिम्बके सिद्धान्तसे जनवादी साहित्यके किसी स्वतन्त्र 'मान' की कल्पना न की जाने लगे, इसलिए स्पष्ट करना आवश्यक है कि ये साहित्यशास्त्री इसके साथ ही स्वीकार करते हैं कि 'यथार्थ सामाजिक प्रतिबन्धमें कलाकार अनजाने ही वर्ग-संघर्षकी उन शक्तियोंको प्रस्तुत कर सकता है, जो सचेत रूपसे मान्य और सामाजिक दर्शन-द्वारा उत्पन्न उसकी अपनी आशा-आकांक्षाओंको मिटा देंगे।' और इसके साथ हम जनवादी साहित्यकी दूसरी सीमा वह मान सकते हैं, जिसका निर्धारण वर्तमान साम्यवादो रूसके निर्माताओंने समय-समयपर किया है, जिसका संकेत जोज़ेफ़ रेवाईके कथनमें पहले ही दिया गया है। इस सीमापर साहित्य जनताकी शक्तिका अस्त्र स्वीकार किया गया है।

परन्तु क्या सचमुच इन दोनों सीमाओंके बीच कोई मौलिक अन्तर है, और यदि नहीं तो इनका मुख्य उद्देश्य क्या रहा है ? इधर प्लेखनावके सिद्धान्तोंको कुत्सित समाजशास्त्री कहकर उसकी कड़ी आलोचना करनेवालोंमें माइकल लीफ़ाशित्सका नाम अधिक आया है, वे 'लेनिनवादी' साहित्यिक दृष्टिका प्रतिपादन करते हुए जहाँ अपनी तान तोड़ते हैं, वहाँ आधार रूपसे अपने प्रतिपक्षीसे अलग नहीं हो पाते । "मार्क्सवादी समाजशास्त्रीका यह लक्ष्य है कि वह विश्व-संस्कृतिकी समस्त प्रगतिके इतिहासमें श्रमजीवी क्रान्ति और समाजवादी विचारधाराकी ओर प्रगति करनेवाले जनान्दोलनके विकास-क्रमको खोज निकाले, जो दबे-पिसे वर्गोंके जीवनकी परिस्थितियोंको प्रतिबिम्बित करता है, साथ ही संस्कृतिके उन समस्त प्रगतिशील और जनवादी तत्त्वोंसे प्रतिक्रियावादी तत्त्वोंको अलग करता है ।"[१] क्या यह निष्कर्ष प्लेखनावके इस निष्कर्षसे अधिक भिन्न है "विचारोंका अभियान वर्गोंके इतिहास और उसके पारस्परिक संघर्षोंका प्रतिबिम्ब है ।"[२]

विचार करनेसे मौलिक स्थापनाओंमें कोई अन्तर नहीं जान पड़ता। अन्तर केवल इतना है कि एक कहता है सेबसे सेब पैदा होता है और ह्रासयुगीन कला अनिवार्यतः पतनोन्मुखी होगी—इस प्रकार समस्त उन्नत तथा सशक्त साहित्यिक परम्परासे अपनेको विच्छिन्न कर लेता है । जबकि दूसरा इस परम्पराकी ओर लोभकी दृष्टिसे देखता हुआ उसमें अनजान रूपसे शोषित वर्गकी इच्छा-आकांक्षाओंके प्रतिबिम्बित होनेकी सम्भावनाकी कल्पनाका करता है । पहला तुलसीदासको सामन्तयुगीन संस्कृतिकी उपज कहेगा और उनके साहित्यको उसी ह्रासयुगीन संस्कृतिका परिचायक और उसका अनिवार्य अंग मानकर पतनोन्मुखी सिद्ध कर देगा । इसके विपरीत

---

१. साहित्य और मार्क्सवाद । सम्पा० ऐंजोल-फ्लोरेस । २. १०वीं शतीमें फ्रेंच साहित्य और चित्र-कला : प्लेख़नाव ।

दूसरा तुलसीको सामन्ती शासकवर्गकी चेतनाका प्रतिनिधि मानकर भी, उनके साहित्यमें उन 'सूक्ष्म' तत्त्वोंको ढूँढ़ निकालनेका अथक प्रयत्न करेगा, जिनमें उसके अनुसार तुलसीने शोषित श्रमिक वर्गके स्वार्थों तथा आकांक्षाओंको अनजाने ही ग्रहण कर लिया है।[1] पर इन दोनों ही स्थितियोंमें यह स्पष्ट है कि समाजके आर्थिक नियमोंकी अनिवार्यताके बीच सांस्कृतिक उपलब्धियों और प्रतिमानोंका सम्बन्ध वर्गगत होता है और वे सदा शासक वर्गके ही होते हैं, यह बात दूसरी है कि साहित्यकार-द्वारा प्रतिबिम्बित यथार्थमें अन्य पक्ष भी उभर आयें।

इस प्रकार मार्क्सवादी चिन्तकों-द्वारा की गयी साहित्यकी जनवादी व्याख्या अपने चक्रमें विरोधाभासोंको उत्पन्न करती रही है। साहित्यका मूल्य अपने-आपमें पूर्ण है अथवा उसका सामाजिक दायित्व है साहित्यकारका अपना कोई स्वतन्त्र दायित्व है अथवा वह केवल इतिहासकी विराट् शक्तिकी इच्छा मात्र है, साहित्य प्रगतिशील है या प्रतिक्रियाशील और अन्तमें यह भी कि साहित्य जनवादी है अथवा प्रतिगामी ? ये प्रश्न इस प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं, जिनसे ध्वनित हो कि यह विरोधी स्थिति अनिवार्य है, जब कि अपनी अन्तर्विरोधी स्थितिकी ओर उनका कभी ध्यान नहीं गया। यद्यपि इस चक्रमें पड़कर अनेक रोचक परिणतियाँ देखी जा सकती हैं। 'मानव आत्माके शिल्पी' के रूपमें साहित्यकारको प्रोत्साहित करते हुए ज्यानोवने कहा था कि "कलात्मक बिम्बका सत्य और यथार्थवादी सैद्धान्तिक परिशोधन तथा श्रमिक जनताको समाजवादकी मनोवृत्तिमें दीक्षित करनेके लिए उन्हें काममें जुट जाना चाहिए।"[2] और वह इस साहित्य आलोचनाको सामाजिक यथार्थवादके रूपमें स्वीकार करता है। अब इस शिल्पकारके हाथमें मानव आत्माको गढ़नेके लिए छेनी-हथौड़ीके

---

१. इस प्रकारकी आलोचनाकी दोनों सीमाओंसे हिन्दीके पाठक परिचित हैं।
२. लेखक संघमें भाषण, ३४।

स्थानपर साहित्यको स्थापित किया जा सकता है। इस विषयमें सबसे रोचक तर्क-पद्धति उन लीफ़ाशित्सकी है, जिनकी चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है। उनका कहना है कि आज विकसित वर्गके युगमें लेखकोंपर वर्गोंका आधिपत्य अधिक है, इस कारण ये प्राचीन लेखकोंके समान, प्रतिगामी शक्तियोंके साथ रहकर भी शाश्वत और स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत कर सकते।[1] क्या अन्ततः इस बातको इस प्रकार नहीं रखा जा सकता कि प्राचीनोंकी परम्पराको स्वीकार कर लिया जाये, उससे क्या बनता-बिगड़ता है, लेकिन आजके साहित्यिकको किसी प्रकार मुक्त नहीं किया जा सकता है।[2] आजके साहित्यकारके सामने स्पष्ट दो राहें हैं : प्रगतिशील, प्रतिक्रियावादी; जनवादी, प्रतिगामी आदि।

यहाँ हम फिर उस बातको स्पष्ट करना चाहेंगे कि कठिनाई यह नहीं है कि वर्ग-संघर्षकी स्थितिमें हम साहित्यकारको किस पंक्तिमें देखना चाहते हैं। निश्चय ही साहित्यकारकी पंक्ति शोषितोंकी है, श्रमिकोंकी है और साथ ही उनकी है जो इतिहासकी गतिको चुनौती देकर अविभाज्य मानवताकी कल्पनाको यथार्थ बनानेमें तत्पर हैं। हम मानव इतिहासकी किसी भी निश्चित नियतिगत व्याख्याको अन्ततः स्वीकार नहीं करते। लेकिन वास्तविक कठिनाई उठती है, साहित्यके जनवादी मानदण्डकी स्थापनाके सम्बन्धमें। और सबसे अधिक उस समय जब युग-युगके श्रेष्ठ तथा उच्च साहित्यकी व्याख्या वर्ग-संघर्षके आधारपर की जाये। पिछली विवेचनासे यह स्पष्ट हो गया है, परन्तु इसके बीच कुछ ऐसे तथ्य भी हाथ लगे हैं, जिनके आधारपर हम किन्हीं निष्कर्षों तक पहुँच सकते हैं। साहित्यकी प्रवृत्तिमूलक (टेण्डेन्सियस) व्याख्याका आधार प्रस्तुत करके भी मार्क्स, एंगेल्स और एक सीमा तक लेनिनने भी साहित्यमें सार्वभौमिकताका तत्त्व

---

१. लिट्रेचर एण्ड मार्क्सिज़्म : आलेज फ्लोर। २. असाम्यवादी देशोंमें तो वर्तमानोंके साथ भी इस प्रकारका विवेक बरता जाता है।

स्वीकारा है। अनेक स्थलोंपर उन्होंने प्राचीन महान् साहित्यकारों और कृतियोंके विषयमें जो कुछ कहा है और उनकी श्रेष्ठताको स्वीकार किया है, उससे यह सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त 'उस और' का भी, जिसका उल्लेख पहले किया गया है, सूत्र मिल जाता है। सैद्धान्तिक विवेचनाएँ प्रायः अपने तर्कके आवेगमें सत्यके एक पक्षपर अधिकाधिक बल देती जाती हैं, इसी कारण अनेक बार महान् चिन्तकोंके जीवन और जीवन-दर्शनमें विरोध दिखाई पड़ता है, जो उनके गत्यात्मक व्यक्तित्वमें तो सँभल जाता है, पर आगे चलकर अनुयायियोंकी रूढ़िवादी व्याख्या-शैलीमें अधिकाधिक उभरकर सिद्धान्तकी जीवन-शक्तिको नष्ट कर देता है।[1]

यह सार्वभौमिकताका तत्त्व इस 'और' को मानवतावाद (१९वीं शतीका मानववाद नहीं) के रूपमें प्रतिष्ठित कर सकता है। आगे "समग्र सामाजिक जीवनको प्रतिबिम्बित करने" की बातसे इस बातको अधिक बल मिलता है। यह भी माना गया है कि वर्ग-संघर्षके दौरान साहित्यकार अपने वर्गसे अपनी समस्त सर्जनात्मक प्रेरणा ग्रहण करके दूसरे वर्गोंकी इच्छा-आकांक्षाओंको भी अभिव्यक्त (प्रतिबिम्बित) करता है। स्पष्टतः अपनी चेतनाके मूल स्रोतकी अवहेलना करके वह समस्त सामाजिक इकाई-को प्रतिबिम्बित करनेमें सक्षम हो सकता है। 'अनजाने ही' का प्रश्न उठता नहीं, क्योंकि इस प्रकार सर्जनात्मक प्रक्रियाके सम्बन्धमें कठिनाई उपस्थित हो जायेगी, वैसी स्थितिमें सवाल उठेगा कि क्या साहित्यिक रचना साहित्यकारके मनकी अवचेतन प्रक्रिया है। और इस सवालपर हमारे साथ वे ही अधिक चौंकेंगे जिन्होंने इसका प्रयोग किया है। इस समग्र

---

१. शंकरने शून्यवादी नागार्जुनके तर्कोंसे ही उसके शून्यके नकारात्मक सिद्धान्तको काटकर स्वीकारात्मक अद्वैत ब्रह्मकी स्थापना की थी, और यह भी है कि वे हृदयसे भक्त थे, 'सौन्दर्यलहरी' (भले ही अप्रामाणिक हो) का प्रमाण माना जाता है। अद्वैतवादकी इसी अन्तर्विरोधी स्थितिने बादके समन्वयवादी तत्त्व-वादों और साहित्यको उत्पन्न किया है।

सामाजिक जीवनको प्रस्तुत करते समय साहित्य वर्ग-संघर्षकी वाह्य परिस्थितियोंसे निर्धारित और प्रभावित होते हुए भी (यद्यपि उसके अपने आन्तरिक नियम भी हैं, ऐसा स्वीकार किया गया है), वर्गों तथा जातियोंमें विभाजित समाजके मानवीय सम्बन्धोंको ही अधिक व्यक्त करेगा। दूसरे वर्ग अर्थात् श्रमिक वर्गके स्वार्थोंको प्रतिबिम्बित करनेकी बात भी हमको एक नये निष्कर्ष तक पहुँचनेमें सहायक होती है। अर्थात् मानवीय सम्बन्धोंको साहित्य व्यापक सहानुभूतिके आधारपर ही ग्रहण करनेमें समर्थ हो सकता है। अन्तमें एँगेलसकी 'संघर्षोंके स्वरूप निर्णयमें प्रमुख भाग लेनेवाली' बात हमारी स्थापनाओंके लिए महत्त्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करती है। उसमें परिलक्षित होनेवाली द्विविधा तो अन्तर्विरोधकी परिस्थिति मात्र है। अन्यथा हम कह सकते हैं कि इस प्रकार साहित्य मानवीय सम्बन्धोंकी व्यापक सहानुभूतिसे शासक तथा शासित दोनों वर्गों, उच्च तथा नीच दोनों जातियोंमें परिवर्तन उपस्थित कर सकता है, करता भी है, यद्यपि समस्त सामाजिक युगकी अपनी सीमाएँ और मर्यादाएँ उसमें विद्यमान रहेंगी।

वस्तुतः साहित्यका कोई भी जनवादी सिद्धान्त पर्याप्त नहीं हो सकता है, जो वर्तमान अथवा अतीतके गहन और महान् साहित्यकी समुचित व्याख्या न कर सके, उसकी श्रेष्ठताके रहस्यको उद्घाटित न कर सके। संसारके महान् साहित्यकी परम्पराकी व्याख्या न तत्कालीन गतिशील शक्तियोंकी प्रतिक्रियाओंके रूपमें हो सकती है और न उनके संघर्षोंको प्रतिबिम्बित करनेके अर्थमें। व्यासकी यथार्थकी विराट् कल्पना, शेक्सपियरकी मानव-जीवनमें सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और तुलसीकी व्यापक वैष्णव भावना इसलिए महान् नहीं है कि उन्होंने मात्र अपने युगकी प्रतिच्छायाको ग्रहण किया था अथवा उनमें वर्ग-चेतनाके संघर्षशील वे स्तर परिलक्षित हुए हैं जो मानव इतिहासके निश्चित विकास-क्रमके द्योतक हैं। उनकी वास्तविक महानताका अर्थ है : वह व्यापक मानवीय सहानुभूति जिसने

उनकी कृतियोंमें युग-जीवनको वर्गों और जातियोंमें विभक्त प्रतिबिम्बित करनेके स्थानपर समग्र और अविभाज्य मानवताके रूपमें ग्रहण किया है। इस सूत्रके सहारे, वैज्ञानिक भौतिकवाद और पूँजीवादी व्यवस्थामें विघटित होते मानवीय प्रतिमानोंके बीच उत्पन्न होनेवाले ह्यूगो, दॉस्तवस्की तथा ताल्स्ताय-जैसे प्रतिभाशाली लेखकोंकी महानताका रहस्य भी खुल जाता है। वे युग-समाजके विराट् कन्वेसपर व्यापक मानवताकी गहरी आन्तरिक सहानुभूतिसे भित्र प्रस्तुत कर सके, यही उनकी महानता है। प्रेमचन्दके 'गोदान'की श्रेष्ठता और महानता इसी सत्यमें निहित है कि वे इसमें सम्पूर्ण मानव इकाईको अपने हृदयकी सच्ची और गहरी सहानुभूति दे सके हैं। कौन ऐसा वर्ग है, कौन ऐसा पात्र है जो उनकी सहानुभूतिसे पूर्णतः अभिभूत नहीं है, यह बात तो गौण है कि वे अपने युगके वर्गसंघर्षको प्रतिबिम्बित कर सके और इस बातका भी कोई महत्त्व नहीं कि उनका श्रमिक-वर्ग हारा-थका है। वास्तवमें ये दोनों बातें उनकी यथार्थ दृष्टिके अन्तर्गत स्वतः आ जाती हैं।

अन्तमें जनवादी साहित्यकी दृष्टिमें सम्पूर्ण सामाजिक जीवन मानवताकी अविभक्त और वर्गहीन कल्पनाको लेकर ही उपस्थित होता है। इसके विस्तारमें वर्ग, जाति, व्यक्ति और उनके प्रत्येक स्तरके संघर्ष अन्तर्निहित हैं। इस आधारपर साहित्य किसी युगवर्ती समाजके सांस्कृतिक मूल्योंको अर्थवान् करता है और साथ ही उसकी युग-युगकी सांस्कृतिक परम्पराको गति प्रदान करता है। और इसका माध्यम है साहित्यकारकी व्यापक और गहन सहानुभूति, उसका संवेदनशील तथा स्वतन्त्र व्यक्तित्व जो उसे इस कठिन दायित्वको वहन करनेका विवेक और शक्ति प्रदान करता है।

■

साहित्यमें प्रयोगवाद

जाने-अनजाने हमारे साहित्यके आधुनिकतम काव्यको प्रयोगवादी काव्यकी संज्ञा दी जाने लगी है। और अनचाहे ही अज्ञेयको इसका नेतृत्व मिल गया है। वे कई अवसरोंपर कह चुके हैं और 'दूसरा सप्तक'-की भूमिकामें लिख भी चुके हैं : "प्रयोगका कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे। प्रयोग न अपने-आपमें इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविताका कोई वाद नहीं है, कविता अपने-आपमें इष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें 'प्रयोगवादी' कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है, जितना हमें 'कवितावादी' कहना।" प्रयोगको अज्ञेयवाद मानें या न मानें, पर विवाद उन्होंने अवश्य खड़ा किया है—'तार-सप्तक' और 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशनकी आयोजना-द्वारा। प्रयोगवादी न कहकर प्रयोगशील ही कहिए, (मैं इसी पक्षमें हूँ) परन्तु आजकी कविताने एक नया मोड़ लिया है, यह तो मानना ही पड़ेगा। और प्रयोगकी यह दिशा न केवल भाषा, शैली तथा व्यंजनाकी दृष्टिसे निर्दिष्ट है, वरन् वस्तु-सत्यका एक नया रूप भी उसके सामने आ रहा है। इस नये मोड़से आगे बढ़नेके लिए अज्ञेयने इस पीढ़ीके कवियोंको प्रोत्साहित किया है। वे मानते हैं कि ये सभी प्रयोगशील अन्वेषीके रूपमें भिन्न-भिन्न मार्गके पथिक हैं और उनमें आपसी भारी मतभेद हैं। पर इस काव्यमें अभिव्यक्ति (भाषा-शैली) और काव्य-वस्तु (जीवन-जगत्) के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोणका आभास, इसकी सामान्य विशेषता भी है। अज्ञेय इस युगके सशक्त कलाकार हैं, इस कारण वे वाद-विवादके केन्द्र बन गये हैं। परन्तु इस युगके सभी कवि न तो अज्ञेयके दृष्टिकोणसे सहमत हैं और न स्वतः

अज्ञेय ही इस सीमा तक व्यक्तिवादी हैं जितना उनपर आरोप किया जाता है। इस प्रश्नपर कई प्रकारसे विचार किया जा सकता है, और काफ़ी वाद-विवाद इस विषयमें हुआ भी है। परन्तु मैं यहाँ सिद्धान्त-पक्ष तक ही अपनी सीमा निश्चित करना चाहता हूँ।

अनेक विचारकोंका मत है कि काव्यमें युगोंसे प्रयोग होते आये हैं। मैं इनकार नहीं कर सकता। हज़ारों वर्षकी आदमीकी ज़िन्दगी उसके प्रयोगोंका इतिहास ही तो है, फिर साहित्य प्रयोगोंसे कैसे बचेगा! मेरे मनमें अनायास एक उदाहरण याद आ रहा है: मन्दाक्रान्ताकी मन्द-मन्थर गति और 'मेघदूत' काव्यकी कोमल कल्पना। क्या 'मेघदूत' कालिदासके लिए एक प्रयोग न होगा। भाग्यकी बात है कि वह एक सफल कविका सफल-प्रयोग हो गया। युगोंके इतिहासके साथ इस प्रकार न जाने कितने कवियोंके नाम लिये जा सकते हैं, परन्तु यहाँ उसका लेखा-जोखा नहीं देना है। यह तो कवियोंके व्यक्तिगत प्रयोगोंकी बात हुई। कभी-कभी युगोंके संघर्षसे नवीन साहित्यिक चेतना जन्म लेती है। इस युग-चेतनाका साहित्य अपने पिछले युगकी समस्त मान्यताओं और परम्पराओंको तोड़कर नवीन स्थापनाएँ करता है। वास्तवमें भारतीय मध्ययुगके साहित्यमें इस प्रकारकी विद्रोहकी भावना मिलती है। इस युगके साधकोंने सामन्ती सौन्दर्य-बोधकी चली आती परम्पराओंके प्रति विद्रोह करके अपने साहित्यमें जीवन और जगत्के प्रति एक नया दृष्टिबिन्दु उपस्थित किया। इस युगमें सौन्दर्य-बोधके स्तरके साथ संवेदनाओंका क्षेत्र बदल रहा था और साधारणीकरणकी परिस्थितियाँ भी बहुत कुछ भिन्न हो चुकी थीं। सब मिलाकर मध्ययुगका साधना-काव्य जन-भावनाके निकट आ रहा था। परन्तु भारतीय साहित्य और कलाका बहुत बड़ा आदर्श इस युगमें बहुत दूर तक स्वीकृत रहा है। भारतीय दृष्टि कलाके अभिव्यक्तिके क्षेत्रमें कविके व्यक्तित्वको महत्त्व नहीं देती। कविका व्यक्तित्व अपने काव्यमें पूर्ण रूपसे सामाजिक होकर ही स्वीकार किया जाता है। यद्यपि मध्ययुगके साधक

अपनी साधनामें व्यक्तिवादी हैं, परन्तु उनकी साधनाकी अभिव्यक्तिका अधिकांश सामाजिक ही है। इसी प्रकार इस युगके बदलते हुए दृष्टिकोणमें पिछली परम्पराओंकी बहुत-सी बातें सम्मिलित हो गयी थीं और इस काव्यकी अपनी साम्प्रदायिक परम्पराएँ भी साथ ही विकसित हो गयी थीं। यही कारण है कि इस युगके प्रयोगशील साहित्यमें रोमैण्टिक भावनाएँ तथा जनवादी प्रवृत्तियाँ आकर भी पूर्ण रूपसे नहीं आ सकीं।

इसके बाद पुरातनके प्रति विद्रोहका तथा वस्तु-सत्यके प्रति बदलते हुए दृष्टि-बिन्दुका एक नया युग फिर आता है। यह युग छायावादका युग है। भारतीय साहित्यमें पहले-पहल कविके व्यक्तित्वकी विजय हुई। इस विषयमें पश्चिमके सम्पर्क और प्रभावको भुलाया नहीं जा सकता। परन्तु इतने बड़े आकस्मिक आन्दोलनके पीछे इस देशकी सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितिका बहुत बड़ा हाथ रहा है। इन बदलती हुई परिस्थितियोंके साथ मध्यवर्गकी स्थिति इस काव्यकी सबसे बड़ी प्रेरणा रही है। द्विवेदी-युगके अनेक कवियोंमें हमको व्यक्तिपरक स्वच्छन्दताकी अभिव्यक्ति मिलती है, जिसमें रोमैण्टिक भावनाका स्वस्थ विकास दिखाई दे रहा था। परन्तु छायावादकी अनेक कुण्ठाओंसे ग्रस्त छायाने एक प्रकारसे इस मनोवृत्तिको ग्रस लिया। यह दूसरी बात है कि छायावादमें रोमैण्टिक प्रवृत्तियोंने अनेक प्रकारसे प्रवेश पा लिया है। रोमैण्टिक प्रकृति-प्रेम और कुछ कवियोंमें रोमैण्टिक प्रेमकी स्वस्थ अभिव्यक्ति इस युगके काव्यमें मिलती है, परन्तु अधिकांश काव्यमें मुक्त अभिव्यंजना नहीं हो सकी। छायावादमें पिछले युगोंकी नितान्त वस्तु-परकताके प्रति गहरा विद्रोह छिपा है और अपने व्यक्तित्वकी स्वीकृतिके लिए खुला हुआ एलान भी है। और इस प्रतिक्रियामें उसकी अपनी वैयक्तिकता इतनी अन्तर्मुखी हो गयी कि कवि वस्तु-जगत्‌की नितान्त अवहेलना करके स्वप्नों और आशाके रंगीन चित्रोंमें अपनेको भटकाता रहा। इस काव्यमें भाव-जगत्‌के रंगोंका सौन्दर्य है। परन्तु वस्तु-जगत्‌की प्रतिक्रियासे उत्पन्न होनेवाली

संवेदनाओंका रूप इन छायाओंमें कहीं दिखाई नहीं देता। इस कारण इस सौन्दर्य-काव्यमें शक्तिका नितान्त अभाव है। इन कवियोंने काल्पनिक सौन्दर्य-विधानके साथ साहित्यको भाषा, व्यंजना-शैली तथा छन्दके क्षेत्रमें अपने प्रयोगोंके आधारपर अनेकानेक नवीन रूप दिये हैं। मुक्त छन्दोंके क्षेत्रमें निरालाके प्रयोग नयी पीढ़ीका मार्ग प्रशस्त करनेकी क्षमता रखते हैं। वस्तु-विषयकी दृष्टिसे भी निराला और पन्त दोनोंने छायावादमें एक नये स्वरका योग किया है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि छायावादी सौन्दर्य-बोधके प्रति उन्हें स्वयं अधिक आस्था नहीं रह गयी है।

छायावादकी स्थिति बहुत दिनोंतक सम्भव नहीं थी। जीवनकी अस्वीकृतियोंको लेकर मानसिक कुण्ठाओंको छिपाकर कल्पना-लोकके छाया-भास-वैभवमें अपने-आपको भुलाये रखना अधिक सम्भव नहीं था। और न सामाजिक भावनाओंके लिए अज्ञातका रहस्यात्मक आधार ही अधिक टिकाऊ सिद्ध हो सका। और परिणामस्वरूप आजके काव्यमें एक नया मोड़ स्वाभाविक था। उसकी सबसे बड़ी विशेषता है कि यह काव्य भाव-जगत्के काल्पनिक कुहासेसे निकलकर वास्तविकताकी ओर बढ़नेका प्रयास कर रहा है। कमसे कम नयी वास्तविक भूमिको पहचाननेका प्रयास तो कर ही रहा है। अपनी समस्त भिन्नताओंके साथ भी आजके प्रयोगशील काव्यकी यह सामान्य विशेषता स्वीकारी जा सकती है। किन्तु साथ ही इसमें छायावादी वैयक्तिकताको भी विकास मिल रहा है। अपनी शैली और सौन्दर्यबोधके क्षेत्रमें यह काव्य अति-वैयक्तिक ही अधिक है। और यदि वास्तविक यथार्थके प्रति जागरूक होना, नयी परिस्थितियोंके संघर्षके प्रति सचेष्ट होना इस काव्यके व्यापक दृष्टिकोण तथा शक्तिपूर्ण स्वास्थ्यके लक्षण हैं; तो साथ ही व्यक्तित्वकी अति-प्रधानता इस युगके कविको व्यक्तिवादी दुरूहता और कुण्ठाओंमें भी फँसा सकती है।

इन दो विशिष्ट सीमाओंके बीच इस प्रयोगशील काव्यमें अनेक प्रकार-की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं; जो एक-दूसरेसे भिन्न ही नहीं, विरोधी भी हैं।

भिन्न कवियोंमें ही यह विभेद हो, ऐसा भी नहीं है। एक कविकी विभिन्न कविताओं और कभी एक ही कवितामें इस प्रकारका विरोधाभास जान पड़ता है। जान पड़ता है, इसलिए कहता हूँ कि काव्यात्मक अभिव्यक्तिमें इस प्रकारके विरोधोंका होना सहज है। कविकी जागरूकता उसकी अपनी संवेदनाओंसे सम्बद्ध है। और यह संवेदना वस्तु तथा स्थितिके साथ बदल सकती है और कविकी मानसिक स्थितिसे भी प्रभावित होती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मैं सदा काव्यमें अस्थिरता और विरोधोंका पक्षपाती हूँ। आधुनिक काव्यमें यह स्थिति इस युगके कवियोंकी मानसिक स्थितिकी परिचायक है। इस युगका कवि भी मध्यवर्गका है और वह उसीसे अपनी प्रेरणा ग्रहण करता है। मध्यवर्गकी आजकी अस्थिर मानसिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थितिका संघर्ष इस काव्यमें प्रत्यक्ष है। आधुनिक कवि अपनेको एकाएक विरोधी संघर्षोंकी परिस्थितिमें पाता है और अपना मार्ग निश्चित नहीं कर पा रहा है। पिछले युगमें मध्यवर्गका व्यक्ति सामाजिक कुण्ठाओंसे अधिक पीड़ित था, पर आज उसके मनपर आर्थिक और सामाजिक वैषम्यका प्रभाव भी तीव्र रूपसे पड़ रहा है। उसे महत्त्वाकांक्षाओंको बढ़ानेका अवसर मिला है, पर उन्हें परितृप्त करनेका रास्ता नहीं। वह अधिक संवेदनशील है, इस कारण अपनी परिस्थितिको लेकर वह संसारकी अनेक विरोधी मान्यताओंको एकाएक सोचने-समझने लगा है। परिणाम स्पष्ट है: एक ओर उसकी संवेदनाएँ अधिक वैयक्तिक होती जाती हैं और दूसरी ओर वह अपनेको अपने समयकी सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओंसे अलग नहीं कर पाता है। आधुनिक कविके सामने यही सबसे बड़ी समस्या है। उसके मनमें यही समस्या संघर्ष बन गयी है कि वह अपने अधिकाधिक संवेदक व्यक्तित्वसे आजके युगकी विषम समस्याओंका सन्तुलन किस प्रकार स्थापित कर सके। फ़िलहाल आजके काव्यको प्रेरणा यही संघर्ष है। मार्ग खोजनेका संघर्ष महत्त्वपूर्ण है, परन्तु वह आगे बढ़नेकी प्रेरणा देनेवाले

संघर्षसे बड़ा नहीं। इस कारण इस संक्रान्ति-कालमें हमारे कवियोंके मनमें यह धारणा स्पष्ट होनी चाहिए कि उन्हें अपने मनको आगामी संघर्षके लिए तैयार करना है।

यह सब मैंने अपनी ओरसे आरोप किया हो, ऐसी बात नहीं है। दोनों सप्तकोंके कवियोंने जो अपनी कविताके सम्बन्धमें वक्तव्यके रूपमें कहा है तथा आधुनिक युगकी कविताके स्वरोंसे भी यही प्रत्यक्ष होता है। एक प्रकारसे सभी कविताके सामाजिक मूल्यको स्वीकार करते हैं। एक भी कवि ऐसा नहीं है जो अपनी कविताके सामाजिक मूल्यके आँकनेके पक्षमें नहीं है। साथ ही ऐसा भी कोई कवि नहीं है जो अपने व्यक्तित्वके प्रति सचेष्ट नहीं है। यहाँतक कि जो कवि अपनेको खुले ढंगसे मार्क्सवादी मानते हैं, वे भी अपने विचारोंमें तथा कविताओंमें वैयक्तिक मोहको नहीं छोड़ सके हैं। जब मैं मोह कहता हूँ तब उसका मतलब आवश्यक रूपसे ग़लत या खतरनाक होना नहीं है। आधुनिक कवियोंमें कतिपयने व्यक्ति-वादको ज़रा खुले ढंगसे प्रतिपादित करनेका साहस किया है, परन्तु वे भी सामाजिक मूल्योंको अस्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि व्यष्टि समष्टिकी ही इकाई है और व्यक्तिके बिना समाजकी सिद्धि होगी कैसे! इसलिए व्यक्तिगत अनुभूतियोंका महत्त्व है; हाँ, उनको समष्टि तक पहुँचाने-की समस्या हो सकती है। मैं समझता हूँ समस्या इतनी नहीं है, वरन् व्यक्ति और समाजके सन्तुलनकी समस्या उससे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह सन्तुलन व्यक्ति और समाजकी क्रिया-प्रतिक्रिया-भर नहीं है, इसके पीछे व्यक्तिके समस्त सामाजिक उत्तरदायित्वका प्रश्न भी छिपा है।

इस युगके काव्यकी विभिन्न प्रवृत्तियोंके विश्लेषण-द्वारा कुछ सिद्ध करनेके पहले मैं यहाँ कह देना चाहता हूँ कि इन प्रयोगशील कवियोंसे हमको पूरी आशा रखनी चाहिए। क्योंकि जैसा कहा गया है कि इन सभी कवियोंमें सामाजिक चेतनाके प्रति जागरूकता है। इनमें-से कोई भी उस कोटिका असामाजिक व्यक्तिवादी नहीं है, जिस कोटिके कवि और

कलाकार युरॅपके पिछले युगसे ही भिन्न वादोंके अन्तर्गत हुए हैं। युरॅपमें १८५० ई० के बादसे ज्ञान-विज्ञानके क्षेत्रमें भारी परिवर्तन हुए हैं। डारविन, फ्रायड तथा मार्क्स आदिने पुरानी आस्थाओंको जड़-मूलसे हिला दिया। भौतिक विज्ञानकी उन्नतिसे युरॅप चमत्कृत हो उठा। इसी बीच अनेक महासंहारक युद्ध भी हुए। इन सब बातोंका प्रभाव वहांके काव्यमें अनेक रूपोंमें देखा जा सकता है। जो बात युरॅपमें क्रमशः हुई थी, वह हमारे युगके सामने जैसे एकाएक एक साथ उपस्थित हो गयी है। यही कारण है, आधुनिक काव्यमें वस्तु-सत्यको लेकर या शैलीको लेकर अनेक प्रवृत्तियाँ युरॅप तथा इंगलैण्डके पिछले काव्यके समान मिल जाती हैं। इस काव्यमें विचारोंका तीव्र संघर्ष, भावोंका संकुलित उलझाव, उपचेतनके प्रभावोंका वर्णन हमको वैयक्तिक दृष्टिकोणकी प्रमुखताके कारण मिल जाता है। साथ ही इसमें नवीन अनुभूतियों, सत्यों तथा विचारोंको व्यक्त करनेके लिए पुरानी व्यंजना-शैलीके प्रति विद्रोह उसी प्रकारका है। परन्तु असामाजिक तथा अस्वस्थ व्यक्तिवादी दृष्टिकोण इन कवियोंका युरॅपके कवियोंके समान नहीं है। इस कारण इस तरहका खतरा इन कवियोंसे हमारे साहित्यको नहीं है।

बदलती हुई परिस्थितिके अनुकूल अपनी अभिव्यक्तिका माध्यम खोजना आजके कविके लिए अनिवार्य है। आजके युगमें पुरातन साधारणीकरणकी स्थिति बदल गयी है, इसमें भी कुछ सन्देह नहीं। व्यक्ति और समाजकी प्रतिक्रियाओंको व्यापक आधार देना ही तो साधारणीकरण है। और कविता केवल रसकी सिद्धि नहीं खोजती, मनको संवेदनमात्रका प्रभाव देकर भी सिद्ध होती है। ऐसे लोगोंसे मुझे बहस नहीं, जो सभी बातोंके लिए आप्त-वाक्यका प्रमाण चाहते हैं। परन्तु भारतीय काव्यशास्त्रमें भी ध्वनि-सिद्धान्त सर्वमान्य रहा है। यदि जीवन और जगत्में नवीन सम्बन्धोंकी स्थिति उत्पन्न हो जायेगी, तो कविको निश्चय ही ध्वनिके रूपमें अर्थ तथा प्रभावकी व्यंजनाके लिए नयी शब्द-शक्ति, नयी

व्यंजना-शैली तथा नये छन्द-विधानकी योजना करनी होगी। कवितामें जबतक प्रभावको अधिक संवेदक रूपमें डालनेकी बात स्वीकृत रहेगी, तबतक किसी-न-किसी प्रकारकी छन्द-योजनाकी बात स्वीकृत होगी, भले ही वह मुक्त छन्द हो। मैं अज्ञेयके साथ कहना चाहता हूँ कि मुक्त छन्द कविता छन्द-मुक्त कविता नहीं हो सकती। किसी भी प्रकारके शब्द, वर्ण, ध्वनि, लय, ताल या स्वरका आश्रय लेकर कविता चलेगी ही। मानसिक संवेदनाओं, प्रभावों, कल्पनाओं तथा तीव्र विचारोंको एक साथ उपस्थित करनेके लिए मुक्त-छन्दोंका प्रयोग नितान्त अनिवार्य हो गया है, यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

अबतक मैंने प्रयोगशील काव्यकी परिस्थिति तथा आवश्यकताके पक्षमें कहा है। परन्तु अब प्रश्न उठता है इस काव्यकी सफलता तथा उपयोगिताका। सामाजिक महत्त्व स्वीकार कर लेनेके बाद काव्यकी उपयोगिताके प्रश्नपर कोई आपत्ति नहीं कर सकता। जहाँतक सफलताका प्रश्न है, यह सापेक्ष्य है। परन्तु सापेक्ष्य सीमाओंसे पूर्व मैं कविकी व्यक्तिगत प्रतिभाका महत्त्व भी अधिक मानता हूँ। कभी असामाजिक भावनाओंका कवि भी अपनी प्रतिभाका लोहा मनवा ही लेता है और यह उसकी अपनी सफलता कही जायेगी। पर केवल सामाजिक भावना या आदर्शके बलपर कोई कवि महान् नहीं हो सकता। परन्तु यह भी सत्य है कि कोई कितना ही व्यक्तिवादी हो, सौन्दर्यवादी हो, स्वान्तःसुखायका भक्त हो; परन्तु उसकी कविताकी सफलताको आँकनेवाला कोई दूसरा ही व्यक्ति होगा। अर्थात् कविका काव्य न उसतक सीमित होकर महान् है और न उसके स्वान्तःसुखायका ही कुछ मूल्य है। यह स्पष्ट है कि कवि अपनी किसी अनुभूतिको किसी रूपमें और किसी शैलीसे व्यक्त करनेमें स्वतन्त्र हो सकता है, परन्तु उसके काव्यके अर्थकी सिद्धि सामाजिकोंको लेकर ही होगी। अभिव्यक्तिमें प्रेषणीयताका गुण अपने-आपमें सन्निहित है।

इसके बाद ही सवाल उठता है उपयोगिताका। अभिव्यक्तिकी प्रेषणी-

यताके क्षेत्रसे इसका अत्यधिक सम्बन्ध है। यदि कविकी तीव्रतम संवेदनाओं और विशुद्ध विचारोंके प्रभावके सार तक दस-पाँच व्यक्ति अपनी समान मानसिक स्थिति अथवा जागरूक सहानुभूतिके कारण पहुँच सकें, तो भी कविके काव्यकी स्वीकृति मानी जायेगी। इस प्रकारसे काव्यके विभिन्न स्तरोंकी स्वीकृति हो जाती है; और यह मैं मानता हूँ। काव्य कितना ही व्यक्तिवादी क्यों न हो, यदि उसे काव्यकी संज्ञा मिल गयी तो कविकी स्थिति भी किसी-न-किसी स्तरपर स्वीकार की जायेगी। फिर प्रतिभाके अनुसार काव्यमें शक्ति भी होगी। लेकिन आज इस सवालको यहीं नहीं छोड़ सकते। आजका साहित्य केवल अभिव्यक्तिके सौन्दर्य-मात्रको अपना लक्ष्य मानकर नहीं चलता, वह अधिक गम्भीर सामाजिक उत्तरदायित्वके निर्वाह करनेका हामी भी है; और यहींसे जवाबका पहलू भी बदल जाता है। मनुष्यके लिए उसके आनन्दकी उपलब्धि बड़ी हो चाहे न भी हो, पर उसकी निजकी स्थिति अधिक सत्य अवश्य है। आज प्रश्नके इस अंगको छोड़नेवाला व्यक्ति या तो अपनी दमित कुण्ठाओंसे पागल माना जायेगा या अपने अहंकारसे आत्म-विस्मृत। यही संघर्षकी स्थिति युरॅपके अनेक व्यक्तिवादी कलाकारोंके सामने आयी है। लुई अरागों, पॉल एलुमा, पवलो नरूदा, लोर्का, ए ओडेन तथा स्पेण्डर आदि अनेक कवियोंने अपना मार्ग इसी प्रकारके संघर्षके बीचसे निकाला है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर भी प्रयोगशील कवियोंसे शंकित या निराश होनेकी बात नहीं है। यद्यपि ये अभी बहुत कुछ अपने व्यक्तित्व और अहंमें उलझे हुए जान पड़ते हैं, परन्तु इनके मनमें मार्ग खोज निकालनेकी उत्कट इच्छा भी है। वे भाषा और शैलीको नये युगके अनुकूल बनानेका प्रयास कर रहे हैं, जो आगत जागरण युगकी भावनाओंको सहज रूपमें बहन कर सकेगी। हमारे इन कवियोंके व्यक्तित्वके विकासमें सबसे बड़ी बाधा अहंके विस्तारमें हो सकती है। यदि वे अपने अन्दरके ऊपर उल्लेखित संघर्षके प्रति जागरूक हैं और अपने सामाजिक दायित्वके प्रति ईमानदार हैं (मैं

मानता हूँ वे हैं), तो निश्चय ही वे अपने मार्गमें आगे बढ़ सकेंगे । नवीन वैचित्र्यकी भावनासे आकर्षित होनेवाले कवियोंके हाथमें प्रयोगशील कविता नये जापानी खिलौनेसे अधिक शोभाकी वस्तु नहीं हो सकती । फिर भी खिलौनेका आकर्षण बच्चोंके लिए कम नहीं होता । परन्तु मुझे अपने युगकी नयी प्रतिभाओंके प्रति पूरा भरोसा है ।

रस-सिद्धान्त और आधुनिक मनोविज्ञान

विषय-प्रवेशके पूर्व यह कह देना उचित है कि यह अध्ययन ऐतिहासिक क्रमसे प्रस्तुत नहीं किया गया है। यद्यपि विषयका पूर्ण निर्वाह तभी सम्भव था, पर विषयसे अधिक यहाँ निबन्धकी सीमाओंका ध्यान रखना आवश्यक हो गया है। इतिहासके नामपर यहाँ केवल आधारकी ओर संकेत-भर किया जायेगा, पर जिन विभिन्न सिद्धान्तोंकी इस अध्ययनमें व्याख्या की गयी है, वे अपने ऐतिहासिक क्रममें उपस्थित होंगे। भारतीय काव्य-शास्त्रकी परम्परामें रस-सिद्धान्तका महत्त्वपूर्ण स्थान है। पहले इस सिद्धान्तका विकास काव्यशास्त्रसे स्वतन्त्र नाट्य-शास्त्रके अन्तर्गत होता रहा है। बादमें क्रमशः काव्यशास्त्रमें भी उसे प्रमुख स्थान मिलता गया। जिस समय भट्ट लोल्लट और श्रीशंकुकने भरतके रस-सिद्धान्तकी व्याख्या की है, उनके समकालीन काव्य-शास्त्री अलंकार और रीतिका प्रतिपादन कर रहे थे। फिर भी भामह और दण्डीको रस-सिद्धान्तका ज्ञान कदाचित् था, क्योंकि उन्होंने रसवत् अलंकारके अन्तर्गत रसोंको स्वीकार किया है। बादमें क्रमशः वामन, रुद्रट और उद्भटने रसोंका अधिकाधिक उल्लेख किया, पर काव्य-सिद्धान्तमें उसके स्पष्ट स्थानकी व्याख्या नहीं की है। सबसे पूर्व ध्वनिकारने अपने ध्वनि-सिद्धान्तके अन्तर्गत अभिधामूलक असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनिरूप रसको स्वीकार किया है, और इस प्रकार उसे काव्यमें महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। भट्टनायकका समय ध्वनिकारके बादका है, क्योंकि उन्होंने व्यंजनाको भी अन्य रस-सिद्धान्तोंके साथ अस्वीकार किया है। इनके दृष्टिबिन्दुमें नाटकके साथ काव्य भी था। बादमें

अभिनवगुप्तने ध्वनिके अन्तर्गत रस-सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए उसकी विशद व्याख्या की है। उनकी 'अभिनव भारती' (नाटचशास्त्रकी टीका) और 'लोचन' (ध्वन्यालोककी टीका) दोनोंमें यह सिद्धान्त निरूपित है। वास्तवमें प्रथम आचार्योंका मत भी इन्हीं ग्रन्थोंसे प्राप्त होता है, क्योंकि उनके ग्रन्थोंका पता नहीं है। बादके आचार्योंमें मम्मट और हेमचन्द्रने इनका पूरा अनुसरण किया है। पिछले कई आचार्य रसको काव्यका प्रमुख तत्त्व मानकर चलते हैं, परन्तु उनकी विवेचनाओंमें सिद्धान्त-सम्बन्धी विशेषता नहीं है। आधुनिक युगमें डॉ० सुशीलकुमार, पी० पी० शास्त्री, डॉ० श्यामसुन्दरदास और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[1]ने भी रस-सिद्धान्तका अध्ययन प्रस्तुत किया है। परन्तु इन सबकी प्रतिपादनकी शैली पिछले आचार्योंके समान तार्किक और आधार अधिकांशमें दार्शनिक और काव्यात्मक ही है। आचार्य शुक्लने अपनी विवेचनामें इस विषयको मनोवैज्ञानिक आधार देनेका प्रयास किया है; पर यह मनोविज्ञान निश्चित अर्थमें आधुनिक मनोविज्ञान न होकर उनकी अपनी व्याख्यापर आधारित है। साथ ही उन्होंने साधारणीकरणके दो पक्षोंमें, आश्रयसे पाठकके तादात्म्यका जो प्रश्न उपस्थित किया है वह मूल रूपसे भ्रामक है। दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य इस दिशामें डॉ० राकेशका है। आपका 'साइक्लॉजिकल स्टडीज़ इन रसाज़' नामक अध्ययन अभी हमारे सामने आया है। उन्होंने प्रमुखतः आधुनिक मनोविज्ञान (पाश्चात्त्यसे तात्पर्य है) को अपने अध्ययनका आधार स्वीकार किया है। हम अगले अनुच्छेदमें कुछ मूलगत बातोंके आधारपर डॉ० राकेशके अध्ययनकी परीक्षा करके देखेंगे कि वह इस दिशामें कहाँ तक हमारी सहायता कर सका है।

रस-सिद्धान्त काव्यकी पूर्ण व्याख्या नहीं कर सका, फिर भी काव्यमें

---

१. 'दि थिअरी ऑव रस' (डॉ० डे), 'फिलासफ़ी ऑव एस्थिटिक प्लेज़र' (शास्त्री, 'साहित्यालोचन' (डॉ० श्यामसुन्दरदास); 'चिन्तामणि' भाग १ (रामचन्द्र शुक्ल)।

उसका महत्त्व काफ़ी है। ध्वनिके अन्तर्गत इसको महत्त्वपूर्ण स्थान इसी कारण मिला है। कारण इसका प्रत्यक्ष है। काव्यमें मानव-जीवनकी अभिव्यक्ति प्रधान है, और इसलिए मानवके भावना-जगत्का आधार उसमें प्रमुखतः स्वीकार किया जायेगा। मानव-जीवन काव्यमें चरित्र और घटनाओंके द्वारा ही उपस्थित होता है। ये चरित्र और घटनाएँ क्या हैं? इनको हम व्यक्तिकी निश्चित भाव-स्थितियों और मनोवृत्तियोंकी विभिन्न स्थिति-परिस्थितियोंमें प्रतिक्रियाके रूपमें ही समझ सकते हैं। इस प्रकार काव्यमें यदि हम मानव-जीवनको महत्त्व देंगे, तो हमको काव्यमें रस-सिद्धान्तकी स्वीकृति माननी होगी। पर साथ ही काव्यके अन्य रूपोंको न हम अस्वीकार कर सकते हैं और न उनकी उपेक्षा ही कर सकेंगे। अब एक स्वाभाविक प्रश्न है, जिसकी ओर अनेक विद्वानोंका ध्यान आकर्षित हुआ है। यह रस-सिद्धान्त मानवीय भावनाओं (मनोभावों) के आधार-पर काव्यकी व्याख्या करनेका प्रयास करता रहा है, तो क्या इसके आधार-में कुछ ऐसे तथ्योंका समन्वय हुआ है, जिनकी पुष्टि हम आधुनिक मनोविज्ञानसे कर सकें? इस विषयमें एक-दूसरे दृष्टिकोणका संकेत भी किया जा सकता है। इधर भारतीय दर्शन और तर्कके आधारपर भारतीय मनोविज्ञानपर कार्य हुआ है, जो विशेषकर ज्ञान और प्रत्यक्ष-बोधके सिद्धान्तोंकी व्याख्या करता है। हम निश्चित रूपसे रस-सिद्धान्तकी सम्पूर्ण परम्पराके आधारपर भारतीय मनोविज्ञानके मनोभाव पक्षका अध्ययन प्रस्तुत कर सकेंगे, ऐसी मेरी धारणा है। पर यह विषयान्तर है। मैं प्रश्नके पहले पक्षको भी इसी प्रकार स्वीकार करता हूँ। पर रस-सिद्धान्तका आधुनिक मनोविज्ञानके आधारपर अध्ययन करनेके लिए कुछ पूर्व-सिद्धियाँ भी हैं, जिन्हें हमको मानकर चलना होगा। यह माना जा सकता है कि रस-सिद्धान्तोंको विभिन्न व्याख्याओंमें काव्य (दृश्य भी) के सौन्दर्य-बोधसे सम्बन्धित मानवीय भावनात्मक प्रक्रियाका व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि इन आचार्योंने जो शब्दावली

प्रस्तुत की है, उससे हम आजके मनोवैज्ञानिक अर्थकी सिद्धि कर सकते हैं। इसलिए अध्ययनके विस्तारमें जानेके पूर्व हमारे लिए तीन बातोंपर ध्यान रखना आवश्यक है—(१) प्राचीन आचार्योंके सिद्धान्तोंका उनकी समस्त प्रक्रियाके साथ सम्यक् ज्ञान; यह ज्ञान ऐतिहासिक क्रममें होना आवश्यक है। साथ ही काव्य, कवि तथा पाठकके विषयमें जो उनकी मान्यताएँ हैं, उनका भी व्यापक ज्ञान आवश्यक है। (२) आधुनिक मनोविज्ञानके सिद्धान्तोंका नवीनतम और पूर्ण पाण्डित्य। (३) साथ ही सामंजस्य-पूर्ण अध्ययनके लिए यह भी आवश्यक है कि आचार्यों-द्वारा प्रस्तुत सामग्री-को हम इस रूपमें प्रस्तुत कर सकें, जिससे काव्यगत सत्योंकी मनोविज्ञानके स्तरपर अर्थ-सिद्धि हो सके। कुछ अपनी सीमाओंके कारण तथा कुछ निबन्धकी सीमाके कारण मैं इस व्यापक और गम्भीर अध्ययनमें दिशा-संकेत मात्र कर सका हूँ।

हम डॉ० राकेशके अध्ययनका उल्लेख कर चुके हैं। इस अध्ययनमें ऊपर प्रस्तुत की गयी किसी भी पूर्व-सिद्धिका दृढ़ आधार नहीं है। डॉ० राकेशने इस विवेचनामें जिस शैलीका प्रयोग किया है, वह तार्किक शैली न तो काव्य-शास्त्रके विषयमें उपयोगी है और न मनोविज्ञानके क्षेत्रमें। और दोनोंको एक धरातलपर लाकर व्याख्या करनेके लिए तो नितान्त भ्रामक है। तर्क कहता है ठीक या ग़लत, वह कार्य-कारणकी परम्पराएँ ढूँढ़ता है जो ऐसे अध्ययनोंमें युक्ति-संगत नहीं। आचार्योंके मतको मनो-वैज्ञानिक कहना (निश्चित अर्थमें) उतना ही भ्रमपूर्ण है जितना अवैज्ञा-निक। क्योंकि इससे उनके अनुभवज्ञान (मानसिक अनुभव प्रक्रिया) को हम बिलकुल अस्वीकार करेंगे। फिर डॉ० राकेशने आचार्योंकी काव्य, कवि तथा भावक विषयक सीमाओंको समझनेका कहीं प्रयास नहीं किया है। वे स्वयं अपनी काव्यकी परिभाषाके आधारपर विचार करते हैं, जो स्वतः अतिव्याप्ति दोषसे दूषित है। डॉ० राकेश उनकी काव्य-विषयक परिभाषाओं-को अस्वीकार कर सकते हैं, पर उनके सिद्धान्तोंकी मनोवैज्ञानिक आधार-

पर व्याख्या करनेके लिए उनको दृष्टिमें रखना आवश्यक था। डॉ० राकेश-ने आचार्यके मतोंको उनकी शुद्ध प्रक्रियामें समझा है, इसमें भी मुझे पूरा सन्देह है। वे भट्ट लोल्लटके उत्पत्तिवादके 'अनुसन्धान बलात्' को, जिसे पिछले आचार्योंने आरोपके रूपमें स्वीकार किया है, किस प्रकार भ्रम मानते हैं। डॉ० राकेशका आधार अवश्य भ्रममूलक है। अगले आचार्यों-ने शुक्ति-रजत, रज्जु-सर्प-द्वारा (डॉ० राकेशने यह लोल्लटका मत माना है) आरोपवादको स्पष्ट किया है। डॉ० राकेशने 'रज्जुमें सर्पका भ्रम' ऐसी व्याख्या की है, जब कि आचार्योंके मतमें सादृश्यके कारण रज्जुमें सर्प-के आरोप (मानसिक) की बात ही कही गयो है। इसी प्रकार उन्होंने चित्रतुरग न्याय (श्री शंकुक) को प्रत्यक्ष-बोध (पर्सेप्शन) के आधार-पर समझनेका प्रयास किया है। सच बात तो यह है कि उन्होंने समस्त काव्य (नाट्य) वस्तुको प्रत्यक्ष-बोधके आधारपर ही समझनेका प्रयास किया है। इस मूल भ्रमके कारण वे साधारणीकरण, अलौकिक, संकल्प-विकल्प शून्यता आदि किसीके भी अर्थ तक नहीं पहुँच सके हैं। यह साधारण मनोविज्ञानकी बात है कि काव्य वस्तुको हम प्रत्यक्ष-बोधके आधारपर न मानकर कल्पना-ग्रहीत स्वीकार करते हैं। जिस काव्यात्मक उत्सुकता (इण्टेरेस्ट) को डॉ० राकेशने स्वीकार किया है, उसको आचार्योंने अपनी काव्य-परिभाषामें वैचित्र्यके रूपमें ग्रहण किया है, परन्तु आपने जो उसे ही एक मात्र सत्य माना है, उससे एक ओर काव्य-कलामें भावोद्रेकपूर्ण चित्रपटों और नटोंकी बाज़ीगरीका समावेश हो जायेगा, दूसरी ओर पाठक या प्रेक्षकमें वे सभी वर्ग आ जायेंगे, जिनको आचार्य संस्कृत भावक नहीं मानते हैं। इस प्रकार डॉ० राकेशका यह अध्ययन हमको इस दिशामें एक पग आगे न बढ़ाकर भ्रममें डालता है। उनके मतोंकी विस्तृत विवेचनाकी यहाँ न आवश्यकता है और न उप-योगिता ही।

रस भावनात्मक प्रक्रियामें स्थायी भावके उद्बोधनकी स्थितिके रूपमें

भरत मुनिके रस-निष्पत्तिके लिए विभाव, अनुभाव तथा संचारियोंके संयोगको स्वीकार किया है। उन्होंने काव्यके पाठक या नाटकके प्रेक्षकके मानसमें इस रस-निष्पत्तिकी स्थितिका रूप स्पष्ट नहीं किया है। पर उनकी व्याख्यासे यह स्पष्ट है कि उनके समयसे ही मानसकी भावनात्मक प्रक्रिया (इमोशनल टेण्डेन्सी एण्ड एक्सप्रेशन) का रूप स्पष्ट था। और यह रूप आधुनिक मनोविज्ञानसे अपनी प्रक्रियात्मक स्थितिके विस्तारमें समान है। इस वास्तविक मानसिक घटनाको परम्परासे सभी आचार्योंने स्वीकार किया है। कुछ आधुनिक विद्वानोंने आचार्यों-द्वारा निर्दिष्ट स्थायी भावोंको स्थायी मनोवृत्तियों (सेण्टीमेण्ट्स) के रूपमें समझनेका भ्रम किया है। विचार करनेसे यह सत्य नहीं लगता, क्योंकि उससे बहुत-सी उलझनें पड़ जाती हैं। आगे चलकर स्थायी भाव वासना रूपसे मानव-मनमें रक्षित है, यह बात साधारणीकरणकी व्याख्यामें और भी स्पष्ट की गयी है। इन सबसे यही सिद्ध होता है कि ये स्थायी भाव सहज-वृत्तियों (इस्टिंक्ट्स्) के संस्कारके रूपमें मानवमें रक्षित हैं, भाव-नात्मक प्रक्रिया इसीकी ओर संकेत करती है। इस विषयमें मनोविज्ञान-का नवीनतम मत यही है। आचार्य जब कहते हैं कि रति आदिक भाव वासना रूपमें मानवके संस्कारमें स्थित हैं, तो उसका मनोवैज्ञानिक अर्थ यही है कि मनोवृत्तियोंके आधारपर मानस मनोभावात्मक प्रक्रियाका अनु-भव ज्ञान एकत्र करता है। फिर मनोभावात्मक प्रक्रियाकी घटनामें जिस बोध, अनुभूति तथा चिकीर्षाका विषम संयोग आजका मनोविज्ञान स्वीकार करता है, उनकी व्याख्या हमको आचार्योंके द्वारा उल्लिखित विभावादिमें मिल सकती है। मनोविज्ञान मनोभावनाकी प्रक्रियामें वस्तु-जगत्के प्रत्यक्ष बोध, मानसिक इच्छा-शक्ति तथा सहचारी भावों और शारीरिक अनु-

भावोंका संयोग स्वीकार करता है। इस मानसिक घटनामें इन्द्रिय-बोध (सेन्सेशन्स) के विरुद्ध वस्तुका प्रत्यक्ष-बोध मानसिक है, यद्यपि वस्तुको अपेक्षा इसमें अस्वीकार नहीं को जा सकती। इस प्रकार वस्तु-स्थिति (परप्रत्यक्षके स्तरपर भी) हमारी भावनात्मक प्रक्रियाकी घटनाका कारक-हेतु वैज्ञानिक अर्थोंमें स्वीकार नहीं की जा सकती। और अनुभाव भी उसके ज्ञापक-हेतु (भाव-स्थितिके परिणाम) नहीं हैं। इस सारी प्रक्रियाकी घटनामें इच्छा-शक्तिकी प्रेरणा स्वीकृत है, जो उसे निश्चित अभिव्यक्तिका स्वरूप प्रदान करती है। अब यदि हम आचार्यों-द्वारा ग्रहीत विभावोंपर विचार करें, तो उसके अन्तर्गत आलम्बन तथा उद्दीपनके रूपमें सम्पूर्ण वस्तु अपनो स्थिति-परिस्थितिमें आ जाती है। और क्योंकि वे इन विभावोंका मानसिक घटनामें संयोग मानते हैं, इस कारण इससे यह प्रत्यक्ष है कि उन्होंने अपने मतमें विभावोंको मानसिक प्रक्रियामें (विशेष-कर भावनात्मक घटनाके विषयमें) वस्तु-परक न मानकर मनस्-परक ही स्वीकार किया है। इन्द्रिय-बोध (सेन्सेशन) से नितान्त भिन्न यह प्रत्यक्ष-बोध (पर्सेप्शन) (जिसके साथ परप्रत्यक्ष (कन्सेप्शन) सदा लगा रहता है) ही मानसमें प्रतिघटित होता है, और इस कारण यह वस्तु-जगत्से सम्बन्धित होकर भी मनस्-परक है। मेकडूगल इस मनस्-परक पक्षको भावनात्मक घटनाकी विशेषता स्वीकार करते हैं। इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि आचार्योंने जो विभावोंको रसका व्यावहारिक रूपसे कारण माना है तत्त्वतः नहीं, वह वैज्ञानिक दृष्टिसे उचित है।

जैसा कहा गया है, आधुनिक मनोविज्ञान भावनात्मक प्रक्रियामें इच्छा-शक्तिकी प्रेरणाको महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। रसकी व्याख्याके अन्तर्गत आचार्योंने इसका भी विश्लेषण किया है। परम्परामें अनुभावोंके तीन भेद किये गये हैं : कायिक, मानसिक और सात्त्विक। इनपर विचार करनेसे हम देखेंगे कि सात्त्विक अनुभाव शारीरिक विकारोंसे सम्बन्धित हैं; पर कायिक और मानसिक अनुभावोंको मनोवैज्ञानिक अर्थ-सिद्धिके लिए हम

इच्छा-शक्तिको मानसिक और शारीरिक अभिव्यक्तियाँ स्वीकार कर सकते हैं, इसलिए अनुभावोंको भावोंके पीछे चलनेवाले व्यवहारमें कहा जाता है। मेकडूगल आदि मनोवैज्ञानिकोंके अनुसार भी इस मानसिक भावात्मक घटनामें इच्छा-शक्ति शारीरिक तथा विशुद्ध मानसिक क्रियाओंमें अपना लक्ष्य खोजती है। यही नहीं इस चिकीर्षाका रूप हमको व्यभिचारी भावोंके संचरणमें भी मिलता है, जिनको मनोवैज्ञानिक अध्यन्तरित भाव कहते हैं। चिन्ता, उत्सुकता, आशा, निराशा आदिका सम्बन्ध हमारी भाव-स्थिति (इमोशनल टेण्डेन्सी) से इच्छा-शक्तिकी प्रेरणा-द्वारा निर्धारित होता है। आचार्योंने संचारियोंकी जो संख्या और रूप निर्धारित किया है, वह बहुत दूर तक वैज्ञानिक दृष्टिसे सम्मत नहीं है। पर संचारियोंकी व्यापक प्रवृत्तिका विश्लेषण मनोवैज्ञानिक है। संचारी भावोंमें दो प्रकारके भावोंका उल्लेख है, प्रथम तो स्थायी भाव ही हैं और दूसरे जिनको हमने अध्यन्तरित भाव माना है। स्थायी भाव संचारी भावोंकी कोटिमें तब आते हैं, जब वे किसी अन्य स्थायी-भावके उद्बोधनमें सहचरण करें। मनोविज्ञानकी भाषामें यह भावोंका सम्मिश्रण है या माध्यमिक है। दूसरे प्रकारके संचारियोंमें वे आते हैं, जिनको ऊपर अध्यन्तरित कहा गया है। वे भावनात्मक घटनामें इच्छा-शक्तिकी उद्देश्यात्मक अथवा भविष्योन्मुखी प्रेरणासे इनका सम्बन्ध है। कदाचित् इसलिए आशा, निराशा, चिन्ता, विश्वास, शंका, धृति, खेद, पश्चात्ताप, हर्ष आदिको काव्य-शास्त्रमें संचारी माना गया है, क्योंकि इनकी गणना अध्यन्तरित भावोंमें जिन चार भेदोंका उल्लेख किया है, उनसे आचार्यों-द्वारा अध्यन्तरित भावोंमें जिन चार भेदोंका उल्लेख किया है, उनसे आचार्यों-द्वारा प्रतिपादित स्थायी भाव (जो प्राथमिक भावके मूलमें है) और संचारी भावोंका सम्बन्ध ही प्रकट होता है। (१) प्राथमिक मनोभाव किसी वस्तुस्थितिके निकट परिणामके चिन्तनसे उत्पन्न होते हैं, इनमें न किसी प्रेरणाकी पूर्व कल्पना स्वीकृत है और न क्रिया-प्रक्रियाका निश्चय ही सम्मिलित है।

अध्यन्तरित भावोंमें किसी प्रेरणाकी पूर्व कल्पना निश्चित है और वे उससे प्रभावित भी होते हैं। इसमें वस्तुका नवीन परप्रत्यक्ष सहायक होता है। (२) प्राथमिक भावोंके आधारमें, जैसा कहा गया है, मूल अन्तर्वृत्तियाँ (इन्स्टिक्ट्स) रक्षित हैं और उन्हींको वे संवेदित करते हैं (स्थायी भाव)। अध्यन्तरित भावोंका ऐसा कोई आधार नहीं है, वे मानसिक प्रक्रियाके विकाससे उत्पन्न होते हैं। (३) प्राथमिक भावमें (शुद्ध वैज्ञानिक ढंगसे नहीं) एक प्रकारकी शक्ति कही जा सकती है क्योंकि इसमें किसी उद्देश्यकी ओर प्रेरणा रहती है; पर अध्यन्तरित भाव इसकी प्रक्रियामें सहायक मानसिक घटनाएँ मात्र हैं। (४) प्राथमिक भाव किसी विशेष वस्तुस्थितिके सम्बन्धमें मनोवृत्ति (सेण्टीमेण्ट) रूप हो जाते हैं, पर अध्यन्तरित भावोंके विषयमें यह सम्भावना नहीं होती। इस विवेचनासे आचार्योंकी रस-सम्बन्धी भावनात्मक प्रक्रियाका मनोवैज्ञानिक आधार स्पष्ट हो जाता है।

आचार्य भट्ट लोल्लटका आरोपवाद

अभीतक जीवनके वास्तविक स्तरके मनोभावोंकी प्रक्रियामें रस शब्दकी व्याख्या की गयी है; और उसके लिए मनोवैज्ञानिक आधार ढूँढ़नेका प्रयास किया गया है। परन्तु इस शब्दका काव्य तथा नाटकके सम्बन्धमें प्रयोग प्रचलित है, यहाँ उसकी वास्तविक प्रक्रियाके रूपमें क्यों प्रयोग किया गया है? वास्तवमें भट्ट लोल्लटने 'रस' शब्दका प्रयोग इसी अर्थमें किया है। वे स्पष्ट कहते हैं कि 'रस' मुख्यतया अनुकार्योंमें उपचित होता है। इस प्रकार 'रस' को ऊपर जिस अर्थमें लिया गया है, वह आचार्य लोल्लटके अनुरूप अवश्य है। इस विषयमें भ्रम होनेकी सम्भावना उस समय उत्पन्न होती है, जब अगले आचार्य रस-निष्पत्तिके रूपमें उसे काव्यानन्दसे युक्त प्रेक्षक या पाठकमें स्वीकार करते हैं। यह विषय आगे आयेगा; यहाँ हम स्पष्टताके लिए रसको वास्तविक भावनात्मक प्रक्रियाके

रूपमें मानते हैं और उसकी निष्पत्ति पाठक या प्रेक्षकमें स्वीकार करते हैं। अब हम भट्ट लोल्लटके निष्पत्तिसम्बन्धी सिद्धान्तपर विचार करते हैं। 'अभिनव भारती' में इनके मतके विषयमें आता है कि 'रस रामादिकी अनुरूपताके अनुसन्धानके बलसे अनुकर्त्ता (नटों) में भी उपचित होता है'। आचार्यके मतसे प्रेक्षक अभिनेताओंके कला-चातुर्यके कारण रामादि पात्रोंकी अनुरूपताके अनुसन्धानके बल अर्थात् आरोपसे रसकी कल्पना करता और इस प्रकार रसानुभूति स्वयं प्राप्त करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रेक्षक (पाठक) पात्रोंकी भाव-स्थितिको अभिनेताओंपर आरोपित करनेकी प्रक्रियामें इस अनुभूतिको प्राप्त करता है। कार्य-कारणका आक्षेप तो तार्किक है, इस कारण हम यहाँ इसके विरुद्ध मनोवैज्ञानिक आक्षेप ही प्रस्तुत करेंगे। पहली बात यह है कि प्रेक्षक आरोप किस प्रकार करता है ? वह पात्रोंकी घटना-स्थितियोंसे स्वयं परिचित नहीं है; और फिर आरोपके लिए स्मृति-संयोगका आधार चाहिए। दूसरा प्रश्न है कि इस आरोपसे प्रेक्षकके मनमें भावनात्मक रसकी प्रक्रिया कैसे सम्भव हो सकती है, आरोप मात्रसे अन्यके जीवनकी घटना अपने जीवनमें प्रतिघटित कैसे हो सकती है ? वास्तवमें जिन मौलिक प्रश्नोंको यहाँ मनोविज्ञानके आधारपर उठाया गया है, उन्हींके समाधानके लिए बादके आचार्योंने अपने मतोंको विकसित किया है।

यहाँ प्रसंगके अनुरूप हम आरोप सिद्धान्तमें मनोवैज्ञानिक सत्यकी सम्भावनाओंपर विचार करना चाहेंगे। साथ ही एक महत्त्वपूर्ण बातकी ओर ध्यान आकर्षिक करना भी आवश्यक है। ये सभी आचार्य काव्य (दृश्य भी) में कथा-वस्तुका उल्लेख करते हैं और उसकी दृष्टिसे विचार करते हैं; परन्तु साथ ही काव्य-वृत्तकी कल्पना करनेवाले कविको किसीने स्वीकार नहीं किया है। काव्यके इस महत्त्वपूर्ण पक्षकी अवहेलनासे जैसे काव्य-शास्त्रसम्बन्धी अन्य समस्याओंमें उलझनें उत्पन्न होती हैं, वैसे ही रस-सिद्धान्तके मार्गमें भी। जब आचार्य कहते हैं वृत्त, उस समय

उन्हें कहना चाहिए काव्य-वृत्त, जिसकी कल्पना कवि करता है। कविकी जीवन-वृत्त-सम्बन्धी कल्पनाका आधार जगत् है, पर इस जगत्‌को हम कविके परप्रत्यक्षों, स्मृतियों तथा विचारोंके स्वतन्त्र संयोग-रूप कल्पनाके आधारपर समझ सकेंगे। कथा-वस्तु (वृत्त) को उसने अपनी संस्कारजन्य कल्पनासे प्रस्तुत किया है। इस प्रकार जिन चरित्रोंको उसने स्थान-काल-प्रमेयकी सीमामें बाँधा है, वे वास्तवमें उसके अनुभव जगत्‌से ग्रहीत हैं। फिर रचनामें चित्रित करते समय उसने उनकी अनेक स्थितियोंकी कल्पना की। और इस सारे चरित्र-चित्रणके आधारमें उसके अपने संस्कारोंका अनुभव कार्य करता है। यह काल्पनिक वृत्त (ऐतिहासिक भी इसी रूप-में) काव्यमें वर्णित या नाटकमें अभिनीत होता है। इस प्रकार जब आचार्य कहते हैं कि भावकी स्थिति वास्तवमें चरित्रमें है, वे मनःविज्ञानके सत्यका उल्लेख करते हैं, पर काव्यात्मक भावनाकी वास्तविकतासे अपरि-चित भी हैं। कवि अपनी प्रतिभासे जो उद्भावना करता है, उसकी वास्त-विकतापर हम सन्देह नहीं कर सकते। इसी प्रकार अभिनेताओंका प्रश्न है। वे अभिनय किस आधारपर करते हैं, मशीनके समान तो वे परिचलित नहीं हो सकते। अभिनयके सत्य तक पहुँचनेके लिए अभिनेताओंको पात्रों-के मनोभावोंको विशेष परिस्थितिकी सापेक्षतामें अपने अनुभव और संस्कारके आधारपर ग्रहण करना होता है। अभिनय केवल हाथ-पैर हिलानेकी क्रिया मात्र नहीं है। वास्तवमें अभिनेताको नाटयकारकी मनः-स्थिति तक पहुँचना होता है, जिसमें उसने रचना की है। इस प्रकार संस्कृत अभिनेता रचयिताके मनके रसको प्राप्त कर सकता है। अभिनय-द्वारा प्रेक्षक जो आरोप करता है, वह कवि-कल्पनाका है और उससे अभिनयका अर्थ ग्रहण करता है। इस कवि-कल्पनाको वह अपने संस्कार तथा अनुभवके आधारपर विकसित कर अपनी कल्पनासे ग्रहण करता है। भट्ट लोल्लटके आरोपवादको हम इसी प्रकार समझ सकते हैं। आरोपके लिए प्रेक्षककी मनःस्थितिमें पात्रोंकी पूर्व कल्पनाके लिए आधार

निश्चित है, तथा इस प्रक्रियाको प्रेरणा-शक्ति अभिनय (काव्य) का सौन्दर्य-बोध है ।

आचार्य श्री शंकुकका अनुमितिवाद

जैसा कहा गया है भट्ट लोल्लटके सिद्धान्तमें सत्यका अंश है; परन्तु उसमें स्पष्टता एवं व्यापकताका अभाव है । श्री शंकुकने अपने सिद्धान्तको कुछ अधिक मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया है । उन्होंने वास्तविक पात्रमें भावात्मक प्रक्रिया-द्वारा स्थायी भावका उद्बोधन माना है और प्रेक्षक-द्वारा अभिनेताओंमें अनुकरणके अनुमानसे वही भाव-स्थिति रस-रूपमें आस्वादित होती है, ऐसा स्वीकारा है । यहाँ जैसा कह आया हूँ, रस-की दो स्थितियाँ स्वीकार की गयी हैं, जा मनोविज्ञानसे सिद्ध भी हैं : एक साधारण जीवनमें भावनात्मक प्रक्रियाकी उद्बुद्ध घटना और दूसरी काव्या-नुभूतिमें रस-निष्पत्ति । मैं पहलीको रस-स्थिति और दूसरीको रस-निष्पत्ति-की स्थिति मानना अधिक वैज्ञानिक मानता हूँ । इसके अतिरिक्त श्री शंकुकने चित्रतुरग न्यायसे अभिनयको (काव्यका रूप उनके सामने नहीं था) अनुमितिबोध माना है, जो उनके विचारसे प्रत्यक्ष-बोधकी चार श्रेणियोंसे भिन्न है । यद्यपि इस मतमें भी मनोवैज्ञानिक व्याख्याका पूर्ण आधार नहो है, पर सत्यकी दिशामें कुछ आगे बढ़ गया है । वास्तवमें चित्रतुरग न्यायसे आचार्यने अभिनय (काव्य) का पर-प्रत्यक्ष और स्मृतिसे संयुक्त कल्पनाका आधार स्वीकार किया है। चित्रांकित तुरग केवल तुरगका चित्ररूपमें प्रत्यक्षबोधका विषय नहीं है (जैसी डॉ० राकेशकी स्थापना है); उसमें तुरगत्वके साथ जो कल्पना और स्मृतिका संयोग है, उसका उपेक्षा नहीं की जा सकती । अभिनय-सौन्दर्यमें चित्रतुरग न्याय न भी लगता हो, (तर्कसे) पर इससे मनोवैज्ञानिक सत्यका प्रतिपादन अवश्य होता है । अभिनय सौन्दर्य (काव्य सौन्दर्य) के द्वारा प्रेक्षक या पाठकके मनपर जो प्रभाव पड़ता है, वह प्रत्यक्ष-बोधसे कहीं व्यापक है । जिस प्रकार

आरोपकी व्याख्यामें कहा गया है कि प्रेक्षक आरोप करनेके लिए अपने अनुभव और संस्कारोंका सहारा लेता है, यही बात यहाँ अनुमानके विषयमें भी कही जा सकती है कि प्रेक्षक अपनी कल्पनाके आधारपर नाटकीय घटना (नाटककारकी कल्पनाका) अनुमान कर सकेगा।

यह सहज था कि श्री शंकुककी व्याख्याकी संकुचित सीमामें अनेक प्रश्न उठते। मनोविज्ञानकी दृष्टिसे आक्षेप महत्त्व रखता है कि यदि प्रेक्षक आश्रयकी मनःस्थितिसे तादात्म्य स्थापित करके रसकी प्रतीति करता है, तो उसे आश्रयके समान अपनी भाव-स्थितिमें दुःख-सुख दोनोंका अनुभव होना चाहिए। पहली बात तो यह है कि इस आक्षेपके लिए श्री शंकुकके मतमें स्थान नहीं है, क्योंकि उसमें आश्रयसे तादात्म्यका उल्लेख नहीं किया गया है। दूसरे यदि व्यापक भावनात्मक घटनाको प्रेक्षक सत्य समझकर (भ्रमसे) अपने अस्तित्वसे उन घटनाओंको सम्बन्धित मान ले, तो वह आचार्यके मतसे संस्कृत भावज्ञ प्रेक्षक या पाठक नहीं समझा जायेगा। दूसरा आक्षेप यह है कि विभावादि जो अतीतसे सम्बन्धित हैं, वे प्रेक्षकके अनुमानके विषय भी कैसे होंगे ? यहाँ अनुमानको स्मृतिसे सम्बन्धित पर-प्रत्यक्षोंके रूपमें स्वीकार किया गया है। यदि मनोविज्ञानकी दृष्टिसे हम आक्षेप करना चाहें, तो कह सकते हैं कि श्री शंकुक अपने मतमें स्मृति और अनुभव तो स्वीकार करते हैं, पर कल्पनाकी स्थापना नहीं कर पाते। भट्टनायकने आचार्य शंकुकके मतकी अपूर्णताकी ओर ध्यान देते हुए अपने मत भोगवादकी स्थापना की। वे शब्दकी अभिधा शक्तिके अतिरिक्त दो अन्य शक्तियोंकी कल्पना करते हैं; उनमें भावनाशक्ति साधारणीकरण करती है और भोग आस्वाद या निष्पत्ति। वास्तवमें जब हम साधारणीकरणपर विचार करेंगे, तो प्रत्यक्ष हो जायेगा कि आचार्यको भावशक्तिकी स्थापना करनेकी क्यों आवश्यकता पड़ी, और मनोविज्ञानकी दृष्टिसे इसका क्या आधार और उपयोग है।

आचार्य भट्टनायकका भोगवाद

स्थायी भावको उद्बुद्ध स्थिति और रस-निष्पत्तिके अन्तरको आचार्य भट्टनायक स्वीकार करते हैं। यहाँ कह देना आवश्यक है कि भट्टनायकने अपने मतको नाटक और काव्य दोनोंको दृष्टिमें रखकर स्थापित किया है, फिर भी नाटकका विचार उसमें प्रमुख लगता है। अब हम देखेंगे कि आचार्यका भावना और उसके द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरणसे क्या तात्पर्य है; और इस विषयमें मनोविज्ञानका आधार किस सीमा तक स्वीकृत है। वे कहते हैं कि काव्य और नाटकमें कलात्मक (सौन्दर्य) प्रयोगोंके अभिधार्थसे उनका सामान्य अर्थ ज्ञात होता है, जो सौन्दर्य है। इस अभिधार्थसे आचार्यका तात्पर्य प्रत्यक्ष-ज्ञान (काव्यवर्णित वस्तुका पर-प्रत्यक्ष) है। इस ज्ञानके आधारपर रसकी व्याख्या करनेमें असुविधा होती है और मनोवैज्ञानिक भ्रमकी सम्भावना है, जैसा हम ऊपरकी व्याख्याओंमें देख आये हैं। ऐसी स्थितिमें वे भावना-शक्तिका विचार करते हैं, उनके अनुसार इस शक्तिसे एक ओर प्रेक्षक निजत्व मोहकी स्थितिसे मुक्त हो जाता है और दूसरी ओर इसीसे विभावादि उसके मानसमें साधारणीकृत स्थितिमें प्रत्यक्षीभूत होते हैं, इस प्रकार प्रेक्षकमें वह रसको भाव्यमान करता है। बादके आचार्य भावन भावोंका अपना गुण मानकर भट्टनायककी इस कल्पनाको व्यर्थ स्वीकार करते हैं। इस अन्तिम अर्थके लिए निश्चय ही भावकत्वकी कल्पना व्यर्थ होती। परन्तु पहली दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं, एक निजत्व मोह निवारण और दूसरी साधारणीकरण। हम कह चुके हैं किसी भावात्मक प्रक्रियामें इच्छा-शक्तिका स्थान रहता है। यह भावना व्यापार यहाँ आचार्य-द्वारा इच्छाके रूपमें स्वीकृत है। इस सीमापर मनोविज्ञान आचार्यके साथ है। प्रेक्षकके मनमें नाटकीय कथावस्तुके प्रति जो उत्सुकता है, वह इच्छा-शक्तिकी प्रेरणासे ही सम्भव है। और यह इच्छा-शक्ति न तो नाटकीय विभावोंके प्रति

क्रियाशील है और न अनुभावोंसे सम्बन्धित है, वह तो कथा-वस्तु (सौन्दर्य) के प्रति उत्सुक और इच्छुक है (इसीके कारण डॉ० राकेशने भ्रमवश समस्त काव्यानुभूतिकी भावनात्मक प्रक्रियाको काव्यात्मक उत्सुकता मात्र माना है)। इस प्रकार भावनाका यह व्यापार ग्रहीत है, परन्तु साथ ही यह भी स्वीकार किया जायेगा कि यह नाटकीय प्रदर्शन (अपने सौन्दर्य-बोधके स्तरपर और भी) न तो जीवनका प्रत्यक्ष-बोध है (पर-प्रत्यक्ष भी) और न स्मृति-संयोग। इसी आधारपर इन आचार्योंने उत्पत्तिवाद और अनुमानवादको अस्वीकार किया है। इस कलात्मक मानसिक घटनामें प्रत्यक्ष-बोध (काव्यमें पर-प्रत्यक्ष) से हम कल्पनात्मक सृष्टि कर लेते हैं; जिसमें स्मृति और अनुभवोंका आधार अवश्य है, पर संयोगका क्षेत्र मुक्त है। इसको आचार्यने भोग-शक्ति माना है और इसे अनुभव-स्मृतिसे विलक्षण (भिन्न) स्वीकार किया है। साथ ही भावनशक्तिका जो व्यापार ऊपर स्वीकृत हुआ है, उससे भी यही सिद्ध होता है।

पहले हम भोग-शक्तिको लेते हैं। इसमें दो मानसिक स्थितियोंका समन्वय हुआ है, पहले पक्षमें प्रत्यक्ष-बोधको इस शक्तिसे कल्पनात्मक स्तर मिलता है; दूसरे इसीसे अनुभूत्यात्मक (इफ़ेक्टिव) वैचित्र्य (चमत्कार) के रूपमें आस्वादनका आनन्द मिलता है। इस कलात्मक स्तरकी स्थिति निश्चय ही प्रत्यक्ष जगत्से भिन्न है (विलक्षण)। रजस्-तमस्की दार्शनिक शब्दावलीको यदि हम मनोवैज्ञानिक अर्थ दें, तो इन्हें सुख-दुःख (तोष-पीड़नके मानसिक पक्ष) के रूपमें कल्पनासे सम्बन्धित मानेंगे। काव्य (नाटक) का कल्पनात्मक स्थितिमें प्रेक्षक (जो सहृदय और संस्कृत भी होता है) अपनी भावनात्मक प्रक्रियामें भी सुख-दुःखसे भिन्न अनुभूति ग्रहण करेगा। आगे भावना-शक्ति (इच्छा-शक्ति) के साथ यह अनुभूति चमत्कार-सौन्दर्यसे अधिकाधिक बढ़ेगी। प्रश्न उठ सकता है कि यदि यह अनुभूति सुख-दुःखसे भिन्न है, तो उत्सुकता इच्छा-शक्तिको कैसे आकर्षित करती है? इसका उत्तर आचार्य देते हैं: एक तो जैसा हम देखेंगे

इच्छा-शक्तिकी गति ही ऐसी है और दूसरे सत्त्वगुण (सौन्दर्य-बोध) भी संकल्प-विकल्पसे हीन आनन्दमयी है और यह आनन्द स्वयं आकर्षित करता है। इसके पश्चात् भावन-शक्तिपर हम विचार करते हैं। यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि कल्पनात्मक पर-प्रत्यक्षोंके प्रति वैचित्र्यके आकर्षणसे इच्छा-शक्ति प्रभावित होती है। इस इच्छा-शक्तिमें निजत्वका भाव नहीं रह सकता है। जहाँतक भावनात्मक प्रक्रियाके उद्बोधनका प्रश्न है, इसको हम तटस्थ स्थिति कहेंगे, पर यह तटस्थता क्रियात्मक अथवा इच्छा-शक्तिसे प्रेरित है। इसलिए इच्छा-शक्तिकी इस प्रेरणाके कारण यह भाव-स्थिति इस स्थायी भावसम्बन्धी सुख-दुःखसे अलग रहेगी। इच्छा-शक्तिकी प्रेरणा इस स्थितिमें वस्तु-वैचित्र्यकी ओर रहती है। साथ ही जिस कल्पनाके आधारपर प्रेक्षक या पाठक कथा-वस्तुको ग्रहण करते हैं, उसमें विभावादिको स्मृतिके अनुभवात्मक संयोगसे साधारणीकृत रूपमें ग्रहण करते हैं। यहाँपर जैसा कहा गया है (डॉ० राकेश-द्वारा) साधारणीकरणका अर्थ वैसा नहीं है कि प्रेक्षक विशेष वस्तु और पात्रको साधारण वस्तु और पात्रके रूपमें स्वीकार कर लेता है। वरन् इसका मनोवैज्ञानिक आधार कल्पनाके तत्त्वोंसे सिद्ध होता है। हम प्रत्येक वस्तु-स्थिति, पात्र-चरित्रको एक साधारण सहज-स्थितिमें ग्रहण कर सकते हैं इनकी कल्पनाका आधार अनुभवजन्य ऐन्द्रिय-बोध, पर-प्रत्यक्षोंकी स्मृतिका स्वतन्त्र संयोग है। जैसा आचार्योंने कहा है, अन्यथा किसी अज्ञात कथा-वस्तु आदिका अनुभव, स्मृति या निश्चय हमारे लिए सम्भव नहीं है। यह कल्पनाके स्वतन्त्र संयोगोंका व्यापार ही साधारणीकरण है। इस प्रकार भट्टनायककी शक्तियोंकी कल्पनामें रस-निष्पत्तिके लिए मनोवैज्ञानिक आधारको प्रस्तुत करनेका प्रयास किया गया है।

अब हमारे सामने रस-निष्पत्तिके सम्बन्धमें कुछ प्रश्न रह जाते हैं। साथ ही अभी अभिनवगुप्त पादाचार्यके मतपर विचार करना भी शेष है।

पहली बात यह है कि प्रेक्षक या पाठकमें रस-निष्पत्तिके लिए क्या मनो-वैज्ञानिक आधार है ? इसका समाधान अभीतक किसी आचार्यने नहीं किया है। प्रेक्षककी कल्पना तक तो भोगवादसे सिद्ध है, पर उसके लिए उसके मनमें आधार क्या है, जिसका भावनाके द्वारा वह अनुभव करता है, जिसको भोग-द्वारा कल्पित और आस्वादित करता है और जिसे रसानुभूतिसे आनन्द प्राप्त होता है। दूसरा प्रश्न उठता है कि काव्यार्थके वैचित्र्यसे प्रेक्षकके मनकी चमत्कृत स्थितिके अतिरिक्त रस-निष्पत्तिके लिए क्या साक्ष्य है ? इन दो प्रश्नोंके उत्तरके बाद हमारे सामने रस-निष्पत्तिकी पूरी मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत हो जायेगी।

अभिनवगुप्त पादाचार्यका व्यक्तिवाद

आचार्य अभिनवने ध्वनिकारका समर्थन करते हुए आचार्य भट्टनायककी शब्द-शक्तियोंकी कल्पनापर आक्षेप किया है। उनके अनुसार रस-प्रक्रियामें भावना और भोग व्यापार तो सिद्ध हैं, पर ये शब्दके व्यापार नहीं माने जा सकते, ये स्वयं शब्दकी व्यंजना-शक्तिपर निर्भर हैं। जहाँ तक मनोवैज्ञानिक अध्ययनकी बात है दोनों मतोंमें विशेष अन्तर नहीं है। उनके दृष्टि-बिन्दुओंमें अन्तर है और इसी कारण वे एक बातको दो प्रकारसे कहते हैं। भट्टनायकके सामने नाटकका आदर्श अधिक प्रत्यक्ष लगता है और अभिनवगुप्तके सम्मुख काव्यका। वास्तवमें व्यंजनामें काव्यार्थको लेकर जिस मनोवैज्ञानिक सत्यकी व्याख्या की गयी है, वही भट्टनायककी शब्द-शक्तियोंकी कल्पनामें नाटकीय दृष्टिकी प्रधानताके कारण निहित है। मानसिक प्रक्रियाका भोगवादमें अधिक स्पष्टतः उल्लेख है। वैसे अभिधाके रूपमें प्रत्यक्ष-बोध और पर-प्रत्यक्ष, लक्षणामें स्मृतिके विभिन्न संयोग और व्यंजना-द्वारा कल्पनाके स्वतन्त्र संयोगोंकी (मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे) व्याख्या है, परन्तु इसमें मानसके केवल ज्ञानात्मक पक्षपर अधिक बल दिया गया है। इस आधारपर यह व्याख्या सत्य भी है; पर इसमें मानसिक प्रक्रियाके

अन्य दो पक्षोंका अर्थात् अनुभूति पक्ष (रागात्मक) और इच्छा-शक्ति (चिकीर्षा) का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है। इस कारण भोगवादका सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक व्याख्याके अधिक निकट है। परन्तु ऊपर जिन दो प्रश्नोंको उठाया गया था, उनका समाधान अभिनवगुप्तकी व्याख्यासे अवश्य हो सकेगा।

पहली बात यह है कि इसमें रस-निष्पत्तिके लिए कल्पनाकी ओर संकेत किया गया है। सामाजिकोंकी भाव-स्थितिमें वासना-रूपसे जो स्थायी भावोंका संस्कार अभिनवगुप्तने स्वीकार किया है, उसके आधारपर सामाजिक साधारणीकृत विभावादिसे भावात्मक स्थिति (इमोशनल टेण्डेन्सी)की कल्पना करनेमें शक्य है। जिस प्रकार हम प्रत्यक्ष-बोधोंके संचित अनुभव कोषके आधारपर वस्तु-स्थितिकी स्मृति और कल्पना करते हैं, उसी प्रकार वासनामें स्थायी भावोंके संचित संस्कारोंके आधारपर प्रेक्षक या पाठक भावनात्मक स्थितिकी कल्पना करनेमें सफल होता है। इस प्रकार हमारे पहले प्रश्नका समाधान हो जाता है। परन्तु यहाँ एक सम्भावित शंकाका समाधान कर देना उचित है। जब कल्पनामें भावनात्मक स्थितिका प्रत्यक्षीकरण होता है, तो उससे केवल आनन्दकी अनुभूति क्यों होती है? पहली बात तो यह है कि कवि या नाटककारके (जिनका उल्लेख हमारे काव्य-शास्त्र नहीं करते) मनमें कथा-वस्तुकी कल्पना इसी आनन्दानुभूतिके साथ उपस्थित होती है और प्रेक्षक (पाठक) इसीका पुनः प्रत्यक्षीकरण करता है। इसके अतिरिक्त कलात्मक कल्पना और साधारण कल्पनामें जो भेद है, उससे उनकी अनुभूतिमें भी अन्तर पड़ जाता है। काव्यकी कल्पनामें प्रेक्षकमें वास्तविक जीवनसे सम्बन्धित भावनाओंका उद्बोधन नहीं होता। भारतीय काव्यमें व्यक्तिगत विषयपरक गीतियोंका अभाव है, जिनमें कवि व्यक्तिगत सुख-दुःखकी व्यंजना करता है, यह तथ्य यहाँ महत्त्वपूर्ण है। जो कवि इस प्रकारकी व्यंजना करता है, उसे अपनी अभिव्यक्तिका सौन्दर्य सुख मिलता है और पाठककी साधारणीकृत स्थितिमें

रसानुभूति मिलती है। हमारे आचार्योंने काव्यसे (नाटकसे) भावतादात्म्य करनेवाले अर्थात् उसे वास्तविक जीवनकी घटनाओंके रूपमें मान लेनेवालेको संस्कृत भावज्ञकी कोटिमें माना भी नहीं। इसके विपरीत साधारण जीवनकी कल्पनामें अपने जीवनका सम्बन्ध होता है और इस कारण प्रेक्षक-पाठक उसके प्रति अपनी इच्छा-शक्तिको निरपेक्ष नहीं कर पाता, जो काव्यकी विशेषता है।

दूसरी बात जिसकी ओर अभिनवगुप्तने संकेत किया है, वह यह है कि साधारणीकरणकी प्रक्रिया कथावस्तुको कल्पनामें ग्रहण करानेमें ही सहायक नहीं होती, वरन् प्रेक्षक-पाठक भावनात्मक स्थितिको अपने स्थायी भावोंकी साधारणीकृत स्थितिमें ही ग्रहण करता है। साधारणीकृतका अर्थ जैसा ऊपर लगाया गया है, उसी अर्थमें समझना चाहिए। यहाँ आचार्यने दोनों पक्षोंमें साधारणीकरणको लगाकर स्थितिको अधिक स्पष्ट कर दिया है। एक ओर उससे कल्पना करनेके लिए आधार मिलता है, तो दूसरी ओर पाठकके मनमें भावनात्मक स्थिति साधारणीकृत स्थायी भावोंकी ओर संकेत करती है। अर्थात् यह भावनात्मक स्थिति पूर्व-संचित स्थायी भावोंके व्यापक आधारपर सम्भव होती है। इससे हमारे दूसरे प्रश्नका उत्तर भी मिल जाता है। अब स्पष्ट हो जाता है कि काव्य (अभिनय भी) के अर्थ ग्रहणमें पाठक (प्रेक्षक) के मनमें कल्पनाके सहारे भावनात्मक स्थिति व्याप्त हो जाती है, जो काव्यके सौन्दर्य चमत्कारके साथ आनन्दानुभूतिसे सम्बन्धित हो जाती है। पहले ही कहा गया है कि पाठककी इच्छा-शक्ति निरपेक्ष क्रियाशीलतामें इस समस्त मानसिक घटनाका अनुभूति-पक्ष है और भावनात्मक स्थितिकी कल्पना उसका आधार है। आचार्योंने कार्य-कारण न स्वीकार कर रस-निष्पत्तिको एक पूर्ण मानसिक घटना माना है। यहाँ अलौकिक (काव्यात्मक) शब्दको मनोवैज्ञानिक अर्थमें लौकिक प्रत्यक्षोंसे भिन्न काल्पनिक मानना ही आचार्यका अभिप्राय है। आस्वादको रस-निष्पत्तिमें स्वीकार करके आचार्यने काव्य-सौन्दर्यके उद्‌बोधमें इच्छा-शक्ति-

का सचेष्ट होना स्वीकार किया है। संकल्प-विकल्पसे रहित मानकर काव्य-द्वारा व्यंजित भावनात्मक स्थितिको कल्पनात्मक सौन्दर्यसे सम्बन्धित किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य अभिनव तक रस-सिद्धान्त पूर्ण मनोवैज्ञानिक आधार प्राप्त कर चुका था।

परिशिष्ट

भट्टलोल्लटप्रभृतिकी व्याख्या

भट्टलोल्लट आदिने व्याख्या की है कि विभावादिका स्थायी भावसे संयोग होनेपर रसकी निष्पत्ति होती है। इस प्रकार विभाव चित्तमें स्थायी रहनेवाली वृत्तिकी उत्पत्तिमें कारण है। जैसा कुछ लोगोंका कथन है, अनुभाव रस (स्थिति)से उत्पन्न नहीं माने जा सकते। क्योंकि इस स्थितिमें रसके कारण रूपमें अनुभावोंकी गणना नहीं होगी, वरन् केवल भावोंकी होगी। ये अनुभाव और संचारीभाव चित्तवृत्तिके रूप होनेके कारण एक ही क्षणमें स्थायीभावके साथ अनुभूत नहीं होते, फिर भी स्थायीभाव वासना रूपमें उनके संयोगसे अभिप्रेत है। उदाहरणके लिए व्यंजन आदिमें भी कुछ रस स्थायीभावकी भाँति वासनामें स्थित हैं और कुछ व्यभिचारी भावोंकी तरह उद्भूत होते हैं। इसलिए विभाव और अनुभावादिसे पुष्ट (उपचित) होकर स्थायी भाव रस-रूपमें उद्भूत होता है। केवल स्थायीभाव मात्र उपचित नहीं होता। यह रस दोनोंमें, रामादि वास्तविक अनुकार्योंमें मुख्य रूपसे और रामादिकी अनुरूपताके अनुसन्धानके बलसे अनुकर्त्ता नटमें विद्यमान होता है।

आक्षेप

भट्टलोल्लटके अनुसार विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव आदिके संयोगके बिना स्थायीभावका स्वरूप अवगत नहीं होता। इस सम्बन्धमें कारण रूप विभावादिको कार्य रूप (रस) उद्बुद्ध स्थायीभावसे पूर्वका

मानना चाहिए। इस दशामें श्री शंकुकका आक्षेप है कि कारणकी विचित्रता और विषमतासे कार्यरूप रसों और भावोंके भेद असंख्य हो जायेंगे, और इस प्रकार रसके इतर लक्षण व्यर्थ हो जायेंगे।

मनोविज्ञानकी दृष्टिसे इस आक्षेपकी स्थिति इस प्रकार रखी जा सकती है। आचार्य लोल्लट विभावादिको रसका कारण मानते हैं। यहाँ रसका प्रयोग वास्तविक (भावात्मक) स्थितिके अर्थमें किया है। और इस स्तरपर एक सीमा तक कहना ठीक है। आधुनिक मनोविज्ञान विभावको भाव-प्रक्रियाका कारण एक सीमा तक स्वीकार करता है। (प्रथम कारणके रूपमें) पर साथ ही अनुभावों और संचारियोंकी विषम-संयोगात्मक स्थितिको भी मनोभावमें स्वीकार करता है और सारी मनःस्थितिके लिए इनको भी कारण कहा जा सकता है। आचार्यकी व्याख्यामें मनोवैज्ञानिक आधार है।

शंकुककी व्याख्या

विभावादि कारण, अनुभावादि कार्य, व्यभिचारी भावादि संचारियोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक अर्जित होनेपर वास्तविक रामादिगत स्थायी भावकी स्थिति, अनुमानके बलसे अनुकरण रूपमें अनुकर्त्तामें कृत्रिम होकर भी मिथ्या न भासते हुए, प्रतीयमान होती है। और अनुकरण रूपमें होनेके कारण ही स्थायीभाव 'रस' इस दूसरे नामसे बोधित होता है। विभावोंका काव्यके द्वारा, अनुभावोंका शिक्षाके द्वारा तथा व्यभिचारियोंका प्राप्त हुए अनुभव ज्ञानके द्वारा अनुसन्धान (अर्थ-प्रतीति) होता है। स्थायी भावकी अर्थ-प्रतीति काव्य-द्वारा नहीं की जा सकती। रति तथा शोक आदि शब्द इनका (रति आदि) अभिधासे कथन मात्र करते हैं, न कि वाचिक अभिनयके रूपमें उनका बोध कराते हैं। जिस प्रकार अंगों-द्वारा किया गया अभिनय आंगिक कहलाता है न कि अंग, उसी प्रकार वचनके द्वारा किया गया अभिनय वाचिक कहा जाता है, वचन नहीं। शब्दकी

अवगमन रूपा जो शक्ति है, वह शब्दकी वाचकत्व रूपा शक्तिसे भिन्न अभिनय रूप है। इसलिए उपर्युक्त सूत्रमें भिन्नविभक्तिक स्थायी पदका उल्लेख नहीं किया गया है। अतः अनुक्रियमाण रति (स्थायी भाव) ही (अभिनयसे) श्रृंगार है और इस प्रकार उसका (श्रृंगार अथवा रस) तदात्मकत्व (स्थायीभावसे अनतिरिक्त) तथा तत्प्रभवत्व (स्थायीभावमूलक होना) युक्त है। काव्यके शब्दोंमें वाचकता रूपा शक्तिके अतिरिक्त अवगमन रूपा शक्ति अनुभाव्य न होकर अभिनेयफला है, साथ ही मिथ्या ज्ञानसे विशिष्ट है। रामके सुखी होनेके अभिनयमें नर्तक (अभिनेता) सुखो है ऐसी प्रतिपत्ति (बोध) नहीं होती। यह राम नहीं हैं अथवा यह रामके समान है, इस प्रकारकी भी प्रतिपत्ति नहीं होती। किन्तु सम्यक् मिथ्या, संशय तथा सादृश्य मूलक जो प्रतिपत्तियाँ होती हैं, उनसे विलक्षण चित्रतुरग—अलिखित अश्व न्यायसे— 'जो सुखी राम है—वह यह है' इस प्रकारकी प्रतीति होती है।

भट्टनायककी व्याख्या

प्रतीति होनेसे करुणमें दुःखी होनेकी प्रतीति—यदि मान भी लें, तो वृत्तके विभाव अपने प्रेक्षक कैसे होंगे (अपनी पत्नी अथवा देवता आदिके सम्बन्धमें)। स्मृतिसे पहले अनुपलब्धकी स्मृति कैसी। फिर दूसरेकी रति आदिसे तटस्थता आयेगी, जब रसकी प्रतीति मानी गयी है। रसका स्वरूप अनुभवात्मक अथवा स्मृत्यात्मक होना चाहिए, इस कारण यही बात उत्पत्तिवादके विषयमें भी कही जा सकती है। व्यंजनाके द्वारा, प्रश्न है कि अभिव्यक्ति अपनी (स्वगत) होगी या परगत होगी ?

इसलिए काव्यमें दोषाभाव, गुण तथा अलंकार रूप और नाटकमें चतुर्विध अभिनय रूपमें (अभिधाशक्तिसे निबिड़ स्वमोह संकट आदिके निवारण करनेवाले) विभावादि कारणके द्वारा निबिड़ निजत्वका मोह तथा संकट आदिका निवारण करनेवाली अभिधा शक्ति है (सौन्दर्य)।

पुनः भावकत्व रूप जो शब्दकी दूसरी शक्ति है उससे, इसलिए काव्यमें दोषाभाव, गुण तथा अलंकार रूप और नाटकमें चतुर्विध अभिनय रूपसे विभावादिको साधारणीकृत रूपमें उपस्थित कर शब्दकी दूसरी शक्ति अपने भावना-व्यापारसे निबिड़-निज-मोह-संकटताको दूर करके रसको भाव्यमान करती है और भावनके योग्य बनाती है। फिर भोग-शक्ति जो अनुभव स्मृति आदिसे विलक्षण है, रजस् और तमस्के अनुवेधके वैचित्र्यके बलसे वृद्धि, विकास तथा विस्तार स्वरूप है, हृदयके विस्तार और विकासके लक्षणवाली है, सत्त्व गुणके उद्रेकके कारण प्रकाशमान आनन्दसे संकल्प-विकल्पसे भिन्न है (विलक्षण है), उससे परब्रह्मास्वादके समान रस अनिर्वाच्य रूपसे भोगा जाता है।

आधुनिक काव्य
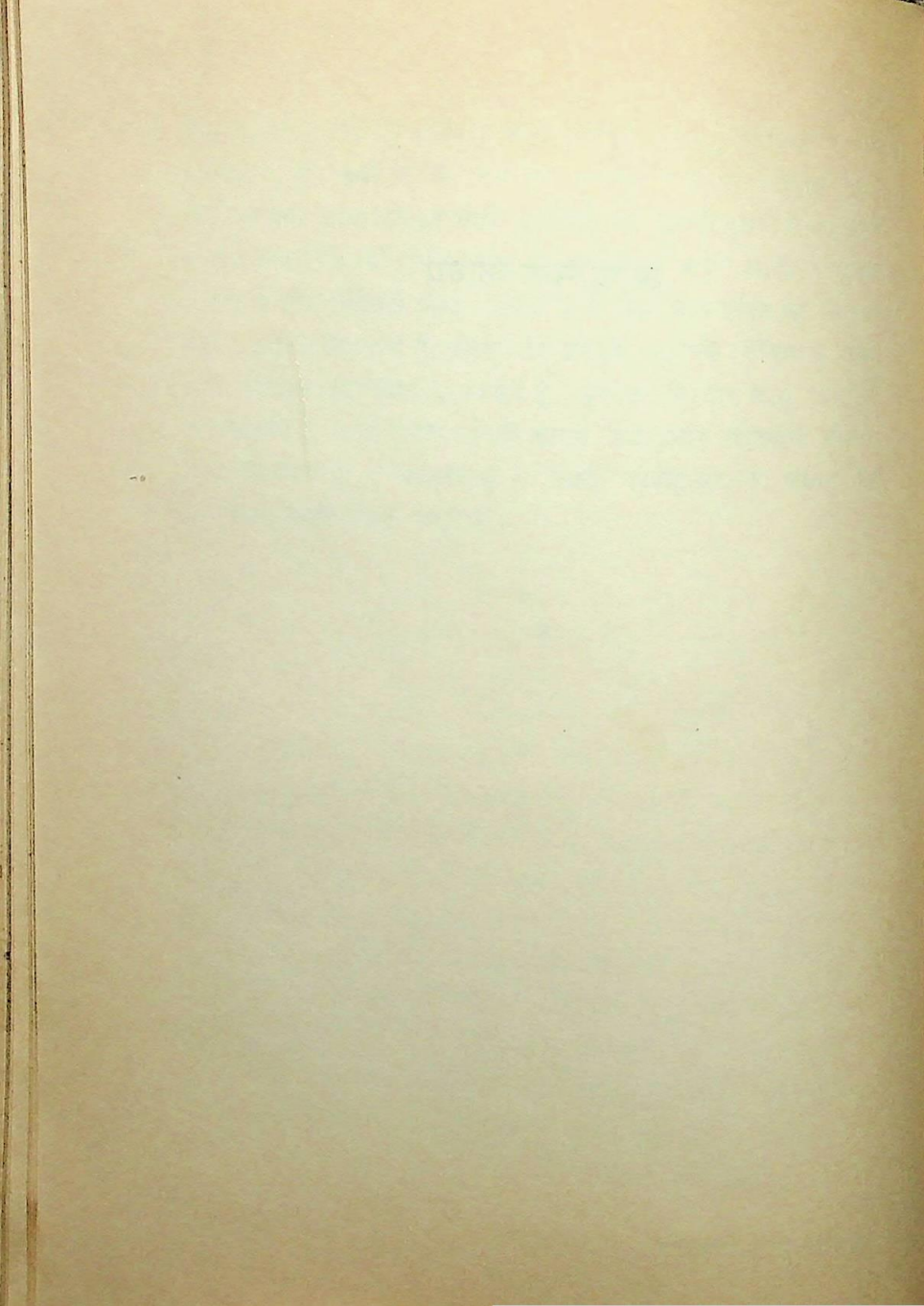
आधुनिक युगका पूर्वार्द्ध (१८५०-१९१८)

हिन्दी-साहित्यके आधुनिक युगका प्रारम्भ खड़ीबोलीके विकाससे होता है; और खड़ीबोलीके विकासमें देशके नव-जागरणका इतिहास छिपा है। पिछले युगोंमें हिन्दी भाषाको किसी प्रकारका राज्याश्रय प्राप्त नहीं था, और जन-जीवनके आधारपर वह पनपी। परिणामस्वरूप हिन्दीके आधुनिक युगके साहित्यमें जनताकी भावनाओंका इतिहास है। जिस समय युरॅपकी विभिन्न जातियाँ भारतमें अपने पैर जमा रही थीं, उस समय हिन्दी-साहित्यकी रीतिकालीन कविताका पतनोन्मुखी तथा रूढ़िवादी युग था। १९वीं शताब्दी तक अँगरेज़ोंके पैर यहाँ जम चुके थे; कम्पनीका शासन देशके विस्तृत भू-भागपर स्थापित हो चुका था। इसके पूर्व ही शताब्दियोंकी अनिश्चित तथा कमज़ोर राज्य-व्यवस्थामें जन-जीवनकी प्रत्येक दिशामें एक बहुत बड़ा शून्य समा गया था। इसके मूल्यमें राजनीतिके अतिरिक्त सामाजिक तथा धार्मिक कारण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं थे। जन-जीवनके सामनेसे आदर्शोंकी दिशा लोप हो गयी थी, पर वह सामाजिक तथा धार्मिक रूढ़ियोंकी श्रृंखलाओंको ढोता आ रहा था। ऐसी परिस्थितिमें विदेशी नीतिके फलस्वरूप जनताके सामने आर्थिक प्रश्न भी कठोर होता जा रहा था। इस प्रकार एक ओर यदि जनताके जीवनमें कुण्ठा आती जा रही थी और आदर्शोंसे पतन हो रहा था, तो दूसरी ओर उसमें अपनी परिस्थितिके प्रति असन्तोषकी भावना भी जागने लगी थी।

विदेशियोंके पैर ज्यों-ज्यों इस देशपर जमते गये, देशका सम्पर्क पश्चिमसे बढ़ता गया। विदेशी शासनके विरुद्ध बहुत कुछ कहा जा सकता है, पर पश्चिमी सभ्यताके सम्पर्कमें आनेसे देशका लाभ भी हुआ, इसमें

किसीको सन्देह नहीं हो सकता। अँगरेज़ोंने रेल, तार, डाक आदि वैज्ञानिक साधनोंके प्रयोगके साथ देशमें पश्चिमकी नयी शिक्षाका प्रसार भी किया। इस नवीन शिक्षासे जातिमें नव-चेतनाका जागरण हुआ। यही कारण है कि राजा राममोहनराय-जैसे प्रगतिशील भारतीय भी अँगरेजी शिक्षा-प्रचारके पक्षमें थे। मैकॉलेकी धारणा कुछ भी रही हो, कम्पनी सरकारकी नीति कुछ भी रही हो, पर अँगरेज़ी शिक्षाके माध्यमसे हमारा पश्चिमसे अधिकाधिक सम्पर्क बढ़ता गया। इस सांस्कृतिक सम्पर्कने देशके जीवनमें बहुत बड़ी क्रान्ति उपस्थित कर दी। अँगरेज़ी शिक्षासे भारतीय शिक्षित समुदाय युरॅपीय ज्ञान-विज्ञानका महत्त्व समझने लगा। परन्तु इस शिक्षा और सम्पर्कका प्रभाव विदेशी शासनके अन्तर्गत देशपर बुरा भी पड़ा। युरॅपकी नवीन शिक्षाके प्रकाशमें आये हुए व्यक्ति अपनी प्राचीन शिक्षा तथा सांस्कृतिक परम्पराओंके प्रति, नितान्त उदासीन हो गये, जिसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। शिक्षित समुदाय जनताकी अविच्छिन्न जीवन-धारासे अपने-आप अलग पड़ गया। इस वर्गके लोग पश्चिमी सभ्यतासे इस प्रकार आकर्षित हो गये थे कि उसीको पूरी तरह अपना लेना चाहते थे, पर वह देशके परम्परागत स्वाभाविक जीवनके अनुरूप नहीं थी।

इस नव-शिक्षित-वर्गसे आशा यह की जा सकती थी कि वे पश्चिमी सांस्कृतिक तत्त्वोंके आधारपर भारतीय जीवनके प्राचीन आदर्शोंका मूल्यांकन करेंगे और इस प्रकार जनताके सामने नया मार्ग प्रशस्त करेंगे। परन्तु इनमें-से अधिकांशने स्वदेशी तथा प्राचीन संस्कारसे घृणा प्रकट की; अतः वे स्वयं जन-जीवनके नायक नहीं बन सके। प्रत्येक क्रियाके साथ उसकी प्रतिक्रिया छिपी रहती है। अतः इसी शिक्षित वर्गसे एक ऐसा वर्ग भी निकल आया, जो देशकी माँगको ठीक प्रकारसे पहचान सका। इस वर्गमें पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे धर्म तथा समाजकी प्रचलित बुराइयोंके प्रति विद्रोहकी भावना थी, वह उनका विरोध करता था। परन्तु भारतीय प्राचीन परम्पराओंके प्रति इसके मनमें श्रद्धा थी; वह प्राचीन मूल्योंको नवीन दृष्टिसे

आँकनेका पक्षपाती था। पश्चिमी शिक्षाके अन्ध-भक्तोंकी भारतीय प्राचीन संस्कृतिकी अवहेलना, उसको अत्यधिक पीड़ा पहुँचाती थी। विदेशी चाल-चलन, आचार-विचार, खान-पानकी नक़ल करनेवाले नव-शिक्षित अपने देशकी बातोंको गँवारू तथा उपेक्षणीय मानने लगे थे; और इस वर्गके स्वदेश-भक्तोंके लिए यह बहुत बड़े कष्टकी बात थी। इस प्रकार यह वर्ग भारतकी नवोदित राष्ट्रीय चेतनाको सुधारवादी आन्दोलनोंके रूपमें जगा रहा था, जिसका एक ध्येय यह भी था कि शिक्षित समुदायके दृष्टिकोणका सुधार करके उसको स्वदेशके गौरवकी भावनासे भरा जाये। इस भावनाके अन्तर्गत निज भाषा हिन्दीके प्रति प्रेम भी है; साथ ही राष्ट्रीय चेतनाके उन्नायकोंमें इस युगके हिन्दीके साहित्यिक भी आते हैं।

पश्चिमी सभ्यताके सम्पर्कमें आनेसे राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक क्षेत्रमें भारतीय दृष्टिकोण बदल रहा था, और इसी बदलते हुए दृष्टिकोणसे प्रेरणा ग्रहण कर आधुनिक हिन्दी-साहित्यका विकास प्रारम्भ हुआ। पूरब-पश्चिमके सांस्कृतिक सम्पर्कसे जो नयी चेतना उद्बुद्ध हो रही थी और उससे जो विचार-स्वातन्त्र्यका जन्म हो रहा था, उसके प्रभावमें हमारे साहित्यने रूढ़िके बन्धनोंको तोड़ विकासके एक नये युगमें प्रवेश किया। परन्तु हिन्दी-साहित्यके इस युगके प्रवर्तकोंमें उसी वर्गके लोग थे जो नव-शिक्षासे प्रकाश ग्रहण करके भी प्राचीन भारतके सांस्कृतिक गौरवसे प्रभावित थे और जन-जीवनको उसकी प्राचीन परम्परासे बिलकुल विच्छिन्न करनेके पक्षमें नहीं थे। इसी कारण १९वीं शताब्दीके सभी साहित्यकार सुधारवादी थे और उनमें-से अधिकांशने सक्रिय रूपसे राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलनोंमें भाग लिया था। यह दृष्टिकोण २०वीं शतीके प्रारम्भ तक बना रहा, केवल इस कालमें उसे अपेक्षाकृत अधिक साहित्यिक रूप मिल सका है। १९वीं शतीके उत्तरार्द्धकी कविता, नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि सभी साहित्यिक कृतियोंमें इन आन्दोलनोंका प्रभाव परिलक्षित होता है। साथ ही इस साहित्यके भावों, विचारों तथा भाषा-

शैलीपर अँगरेज़ीका प्रभाव पड़ रहा था। इस कालके साहित्यको इसी प्रवृत्तिकी ओर संकेत करते हुए डॉ० वार्ष्णेय लिखते हैं, "उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्धके हिन्दी लेखकों और कवियोंने अपनी रचनाओंमें नवभारतकी राजनीतिक और आर्थिक महत्त्वाकांक्षाएँ प्रकट करके अपने चारों ओरके धर्म और समाजकी पतित अवस्थापर क्षोभ प्रदर्शित करते हुए भविष्यके उन्नत और प्रशस्त जीवनकी ओर इंगित किया है।"

२०वीं शताब्दीके आरम्भ होनेके साथ आधुनिक साहित्यने एक नया मोड़ लिया है। इस कालको साहित्यके इतिहासमें द्विवेदी-कालका नाम दिया गया है; वैसे यह आधुनिक साहित्यका मध्य-काल भी माना जा सकता है। प्रारम्भिक काल (१९वीं शती उत्तरार्द्ध) जनजागरणका समय था; पर उस समय तक जनताके सामने राष्ट्रीय भावना स्पष्ट नहीं हो सकी थी। परन्तु इस काल तक राष्ट्रीय भावना और आदर्शकी रूप-रेखा साफ़ प्रकट होने लगी थी। शिक्षित मध्य-वर्गका यह साहित्य है, तथा इस वर्गके सामने स्वामी दयानन्दने धार्मिक दृष्टिसे, स्वामी विवेकानन्दने आध्यात्मिक दृष्टिसे और बालगंगाधर तिलकने राजनीतिक दृष्टिसे भारतीय गौरवकी स्थापना की थी। संस्कृत-साहित्यके अध्ययन, पुरातत्त्वके खोजोंसे भारतका सम्मान विदेशोंमें बढ़ रहा था। जापानकी रूसपर विजय होनेसे भारतीयोंको एशियावासी होनेके नाते गौरवका अनुभव हुआ। कहा गया है कि पहले भी शिक्षित वर्ग अपने प्राचीन गौरवकी ओर आकृष्ट होने लगा था। पर अब सभी क्षेत्रोंमें आन्दोलनकी दिशा स्पष्ट हो गयी थी। पहले सामाजिक सुधार आन्दोलनोंको अधिक महत्त्व मिलता था, पर अब उन सबको राजनीतिक राष्ट्रीय आन्दोलनके अंगके रूपमें ग्रहण किया गया। फलस्वरूप इस कालमें प्राचीन संस्कृतिका पुनर्जागरण हुआ। प्राचीन संगीत, चित्रकला, वास्तु तथा स्थापत्य-कलाको फिरसे नवीन रूपमें स्थापित करनेका प्रयास होने लगा। भातखण्डेने संगीतके क्षेत्रमें तथा अवनीन्द्रनाथ ठाकुरने चित्रकलाके क्षेत्रमें इस जागरणमें भाग लिया। कुमारस्वामीने

भारतीय प्राचीन कलाओंका मूल्यांकन संसारके सामने नवीन दृष्टिकोणसे रखना इसी कालसे प्रारम्भ किया। इस राष्ट्रीय आन्दोलनके साथ हिन्दीका महत्त्व अधिक बढ़ता गया। लोगोंके मनमें भारतीय कहलाना अब गौरवकी बात थी, और इसी भावनाको इस कालके साहित्यमें अनेक प्रकारसे अभि-व्यक्ति मिली है। इस दृष्टिसे यह काल विकासकी नयी सीमा-रेखा माना जा सकता है। पिछले काल तक रूढ़ियोंका विरोध सुधारके स्वर तक सीमित था, पर अब साहित्यमें आदर्शोंकी दृष्टिसे स्वच्छन्द-भावना विकसित हो रही थी। परम्पराको छोड़कर साहित्यमें पौराणिक तथा ऐतिहासिक घटनाओं-चरित्रोंको राष्ट्रीय आदर्श-भावनाकी दृष्टिसे नया रूप मिल रहा था। ऐसे पात्रोंको महत्त्व मिला जिनकी पहले उपेक्षा हुई थी। समाजसे भी साधारण देश-प्रेमी नायकोंको चुना गया। इस आन्दोलनका प्रभाव बहुत व्यापक रूपसे पड़ रहा था, इस कारण इस साहित्यमें मानसिक हलचल और जागरूकताका रूप तो है, पर साहित्यिक प्रौढ़ता उतनी नहीं मिलती।

१९वीं शताब्दी तक साहित्यमें कविताकी भाषा व्यापक रूपसे ब्रज-भाषा थी और उसकी परम्परा भक्ति तथा रीतिकालसे ग्रहीत थी। वह काव्य जन-रुचिके निकट नहीं था, क्योंकि देशका ध्यान धीरे-धीरे अपनी दशाकी ओर जा रहा था। सेवक, द्विजदेव तथा भारतेन्दुके काव्यमें साहित्यिक श्रेष्ठता मिलती है, पर सभी कवियोंमें पुरानी रूढ़िको ढोनेकी भावना प्रधान है। कुछ पुरानी रुचिके लोग कवि-समाज तथा रसिक-समाज-जैसी संस्थाओं तथा कवि-सम्मेलनों-द्वारा ब्रज-भाषाके इस काव्यका अनुशीलन अभीतक करते रहे हैं। मध्य आधुनिक कालमें भारतेन्दुके समान 'रत्नाकर' तथा सत्यनारायण 'कविरत्न'-जैसे प्रतिभावान् ब्रज-भाषाके कवि हुए हैं। इस कवितामें विषय, भाषा तथा छन्द-विधान सभी कुछ एक प्रकारसे प्राचीन है, इस कारण इसको आधुनिक न मानकर प्राचीन परम्पराका अवशेष-मात्र मानना चाहिए। प्रमुख कवियोंने कुछ

आधुनिकता लानेका प्रयास किया है। प्राचीन छन्दोंके स्थानपर लोक-प्रचलित छन्दों—जैसे कजली, बिरहा, रेखता तथा मलार आदिका प्रयोग किया गया। कुछ कवियोंने भाषाको अधिक सजीव रूपमें ग्रहण करनेका प्रयास किया; इनमें सत्यनारायण तथा 'रत्नाकर' प्रमुख हैं। कुछ कवियों-के काव्यमें आधुनिक आन्दोलनोंका प्रभाव तथा नवीन आदर्शोंकी स्थापना भी मिलती है। देश-भक्तिकी भावना भी यत्र-तत्र मिल जाती है। परन्तु सब मिलाकर ब्रजभाषाकी कविता आधुनिक युगकी माँग पूरी न कर सकी और क्रमशः साहित्यसे बहिष्कृत होती गयी।

इसके विपरीत हिन्दी खड़ीबोली काव्यकी आधुनिक धारा पुरानी परम्पराओंको छोड़कर देश-कालकी परिस्थितियोंके अनुसार नये विषयों तथा नये क्षेत्रोंकी ओर मुड़ रही थी। धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जागरणके इस युगमें कवितामें विभिन्न सुधार-आन्दोलनोंकी उत्साहपूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है। पर जबतक हम इस युगके राष्ट्रीय आन्दोलनके रूपपर तत्कालीन परिस्थितिके साथ विचार नहीं करेंगे, तबतक हम भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त तथा 'प्रेमघन' आदिकी कविताकी भावनाका सच्चा मूल्यांकन नहीं कर सकते। इन कवियोंमें राज-भक्तिकी भावना भी पायी जाती है। वास्तवमें इस समय जनताके मनमें यह विश्वास था कि अँगरेज़ी राज्यसे देशकी उन्नति हो सकेगी। अपनी सामाजिक परिस्थितिके कारण भी इन कवियोंका दृष्टिकोण बादकी राष्ट्रीय भावनासे भिन्न था। प्रारम्भमें जिन परिस्थितियोंमें काँग्रेसने जन्म लिया था, उसमें भी यही भावना प्रधान थी कि भारतीयोंको ब्रिटिश साम्राज्यमें समताका अधिकार मिलना चाहिए और उनको अपनी उन्नति करनेके लिए पूरी सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। इस दृष्टिसे विचार करनेपर हम इस कालके कवि और लेखकोंके आदर्शोंको समझ सकते हैं। वे जनताकी माँगोंको एक ओर सरकारके सामने रखते दिखाई पड़ते हैं और दूसरी ओर विभिन्न सुधारों-द्वारा जनताको उन्नतिके मार्गपर अग्रसर

करनेके लिए प्रयत्नशील हैं। साथ ही देशके आर्थिक शोषण और उसकी निर्धनताके प्रति कवि जागरूक तथा संवेदनशील हुए हैं। उन्होंने इस विदेशी नीतिका विरोध किया है, और कठोरसे कठोर शब्दों तथा व्यंग्योंमें अपनी भावनाको व्यक्त किया है।

उन समस्त भावनाओंका मूल इस साहित्यमें मिलता है, जिनका आगे चलकर विकास हुआ। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र तथा बालमुकुन्द आदि कवि अँगरेज़ोंकी आर्थिक नीतिसे परिचित थे; वे विदेश जाते हुए धन तथा देशके नष्ट होते हुए उद्योग-धन्धोंको देखकर क्षुब्ध थे। वे जनताकी दीन-हीन स्थितिको देखकर दु:खी थे। इस स्थितिके प्रति अपने ढंगसे इन कवियोंने विद्रोहका स्वर भी ऊँचा किया है। ये कवि साधारणत: उदार नीतिके कहे जा सकते हैं—उन नेताओंके समान जो ब्रिटिश साम्राज्यके अन्तर्गत सविनय अधिकारोंको प्राप्त करनेके पक्षमें थे। फिर भी जिस प्रकार इन कवियोंने सामाजिक-धार्मिक बुराइयोंकी आलोचना निर्ममताके साथ की है और विश्वास प्रकट किया है कि भारतीय आदर्शोंके माध्यमसे देशकी उन्नति हो सकती है, उसी प्रकार इन्होंने राजनीतिक तथा आर्थिक कारणोंसे उत्पन्न दु:ख-दैन्यका वर्णन भी मार्मिकतासे किया है। इस कालकी कवितामें भाषाके प्रश्नपर भी बहुत-कुछ कहा गया है। उपर्युक्त कवियोंके अतिरिक्त राधाकृष्णदास, महावीरप्रसाद द्विवेदी आदिने हिन्दी-भाषाको राष्ट्रीय दृष्टिसे देखनेका प्रयास किया है तथा उसकी स्थितिपर खेद प्रकट करते हुए संघर्षका स्वर भी उठाया है। इन कवियोंने भाषाको राष्ट्रीय उन्नतिके मूलमें देखनेका प्रयास किया है। इस कालमें अँगरेज़ी कविताके अनुवादकी ओर भी लोगोंका ध्यान गया। श्रीधर पाठकका नाम इस क्षेत्रमें लिया जा सकता है। वैसे अपनी कविताकी दृष्टिसे पाठक अगली स्वच्छन्दवादी भाव-धाराके कवि हैं। वास्तवमें जैसा कहा गया है, इस कालमें साहित्यके सभी क्षेत्रोंके साथ कवितामें भी नवीन शैली तथा नवीन भावनाका विकास हो रहा था। प्रारम्भिक युगकी इस कवितामें काव्यके विशेष

गुण नहीं हैं, पर आगेके साहित्यकी भूमिकाके रूपमें इस साहित्यका कम महत्त्व नहीं है।

इसके बाद द्विवेदी-कालमें, जिसको यहाँ आधुनिक युगका मध्यकाल कहा गया है, अँगरेजोंके प्रभावसे कवितामें स्वच्छन्दवादी भावनाका विकास हुआ। प्रारम्भके सुधारवादी आन्दोलनोंसे प्रेरणा ग्रहण करनेके बाद काव्य जीवनके अधिक व्यापक स्तरपर उतरने लगा। यह भाव-धारा केवल पाश्चात्त्य साहित्यके प्रभावसे विकसित हो रही थी, ऐसा नहीं मानना चाहिए। इस कालका साहित्य जिस मध्य-वर्गसे सम्बन्धित है, वह अपनी भावनाओं, आकांक्षाओं तथा आदर्शोंको इस साहित्यमें अभिव्यक्त कर रहा था। इसमें प्राचीन परम्पराओं तथा रूढ़ियोंके प्रति विरोधकी भावना पायी जाती है। कवि और साहित्यकारका ध्यान जीवनके नवीन मूल्यों और आदर्शोंकी ओर आकर्षित हो रहा था, जिनकी अबतक अवहेलना की गयी थी। मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, सियारामशरण गुप्त आदि कवियोंने प्राचीन, पौराणिक तथा ऐतिहासिक चरित्रोंकी अवतारणा राष्ट्रीय गौरवकी दृष्टिसे की है। जिन चरित्रों-को सामाजिक आधारपर लिया गया है, वे भी नवीन आदर्शोंके अनुरूप हैं। इस कालका अधिकांश काव्य वर्णनात्मक तथा प्रबन्धात्मक है, परन्तु जीवन और प्रकृतिके प्रति कविका दृष्टिकोण बदल चुका था। इस कारण इस काल-के काव्यमें स्वच्छन्दवादी भावनाके दर्शन होते हैं। यद्यपि जैसा डॉ० श्री-कृष्णलालने अपने 'हिन्दी साहित्यके विकास'में स्वीकार किया है कि यह स्वच्छन्दवादी काव्यकी सैद्धान्तिक भूमिका-मात्र तैयार हुई थी। इसका कलात्मक पक्ष आगेके छायावादी काव्यके युगमें विकसित हुआ। १९१८ ई० के बाद छायावादी व्यक्तिपरक गीतियोंका काल प्रारम्भ होता है, जिसमें कलाकी दृष्टिसे स्वच्छन्दवादके अनेक तत्त्व पाये जाते हैं। इस काव्यके साथ स्वतन्त्र स्वच्छन्दवादी भाव-धाराके विशेषकर प्रेम तथा प्रकृतिके कवि भी आधुनिक युगके उत्तरार्द्धमें हुए हैं। परन्तु भाषा, छन्द तथा अन्य साहित्यिक

परम्पराओं और रूढ़ियोंसे मुक्त होकर उन्मुक्त स्वच्छन्दवादका जो रूप आधुनिक युगके मध्य-काल (द्विवेदी-काल) में श्रीधर पाठक तथा रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियोंमें मिलने लगा, वह स्वतन्त्र रूपसे आगे विकसित नहीं हो सका।

१९वीं शताब्दी तक गद्यका समुचित विकास हुआ। इस कालके गद्य-लेखकोंकी शैलीमें प्रौढ़ता तो नहीं है, पर व्यक्तित्व अवश्य है। इस साहित्यमें गोष्ठी-साहित्यकी सीमाओंके साथ उसकी विशेषताएँ भी हैं। इस गोष्ठी-साहित्यमें जीवनका व्यापक आधार नहीं है, साथ ही उसका उतना स्वाभाविक रूप भी नहीं आ सका है। परन्तु इस साहित्यमें मुक्त वातावरण तथा स्वच्छन्द मनोवृत्ति विशेष रूपसे पायी जाती है, जिसकी हिन्दीके भक्ति तथा रीति-साहित्यमें विशेष कमी रही है। इस कालका गद्य सीधा, स्पष्ट तथा सहज-सशक्त है। इस समय तक ब्रजभाषाके गद्यकी परम्परा नष्टप्राय हो चुकी थी। टीकाओंमें व्यवहृत गद्यमें अर्थ तथा भाव व्यक्त करनेकी शक्ति नहीं रह गयी थी। २०वीं शताब्दीके प्रारम्भमें महावीरप्रसाद द्विवेदीकी प्रेरणासे गद्यको निश्चित रूप मिल सका। इस शतीके प्रारम्भिक सात-आठ वर्षों तक गद्यमें भाषासम्बन्धी बहुत अव्यवस्था थी, पर बादमें द्विवेदीजीके सतर्क निरीक्षणमें भाषाका रूप निश्चित तथा व्यवस्थित हो चला। प्रारम्भिक कालमें जिन शैलियोंका जन्म हुआ था, उनको इस कालमें विकासका पूरा अवसर मिल गया। इस कालमें विभिन्न भाषाओंके सम्पर्कमें आनेसे हिन्दी-साहित्यमें विभिन्न गद्य-शैलियोंका विकास हुआ, जिनमें संस्कृत, बंगाली, मराठी, अँगरेज़ी तथा उर्दू आदिकी विभिन्न शैलियोंके रूप पाये जाते हैं। डॉ० श्रीकृष्णलालके शब्दोंमें, "हिन्दीने अपनी जातीय विशेषताओंके अनुरूप अँगरेजी साहित्यकी स्पष्ट भाव-व्यंजना, बंगलाकी सरसता और मधुरता, मराठीकी गम्भीरता और उर्दूका प्रवाह ग्रहण किया।" इस प्रकार विभिन्न प्रभावोंके साथ हिन्दी-भाषा अपनी स्वतन्त्र शैलीका विकास कर रही थी।

सशक्त गद्यके अभावमें नाटकोंकी कल्पना नहीं की जा सकती। पिछले हिन्दी-साहित्यमें नाटकोंके अभावके कारणोंमें एक कारण यह भी रहा है। इस कालमें गद्यका विकास हुआ, साथ ही नाटकोंका प्रारम्भ भी हुआ। वास्तवमें भारतेन्दुको ही हिन्दी-नाटकोंका जन्मदाता मानना चाहिए। वे प्रतिभा तथा अन्तर्दृष्टिके व्यक्ति थे। उन्होंने साहित्यके विभिन्न अंगोंके साथ नाटककी विशेष शक्ति पहचान ली थी। उन्होंने पारसी नाटक-कम्पनियोंके जनतापर पड़नेवाले बुरे प्रभावको देखा था, वह उससे हिन्दी-साहित्य तथा जनताको बचाना चाहते थे। इस कारण एक ओर उन्होंने 'नाटक' के अन्तर्गत नाटकीय सिद्धान्तोंका परिचय दिया तथा अपने मतको भी स्पष्ट किया, और दूसरी ओर अनेक नाटकोंकी रचना करके हिन्दी-साहित्यमें नाटकोंकी परम्परा चलायी। भारतेन्दुने अपने नाटकोंमें प्राचीन नाटकीय सिद्धान्तोंके साथ नवीन आवश्यकताओं तथा प्रभावोंको भी ग्रहण किया है। यह उनकी तथा उनके अनुवर्ती नाटककारों-लाला श्रीनिवासदास, किशोरीलाल, केशवराम भट्ट, बद्रीनाथ भट्ट आदिकी रचनाओंसे स्पष्ट है। प्राचीन संस्कृत नाटकोंमें आदर्शोंकी मर्यादा है तथा रस प्रधान है, पर इस कालके नाटकोंमें सामाजिक जीवनको प्रस्तुत किया गया, देश, समाज तथा धर्मकी विभिन्न समस्याओंको उठाया गया, रसके स्थानपर व्यंग्य, कौतुक तथा हास्यका माध्यम स्वीकार किया गया। कथा-वस्तुकी दृष्टिसे पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रोंसे चुनाव किया जाने लगा। हरिश्चन्द्र तथा उनके साथियोंने नाटक, नाटिका, भाण, नाट्य-रासक, गीति-नाट्य आदि अनेक प्रयोग किये, पर संस्कृतसे प्रेरणा ग्रहण करके लिखे जानेपर भी इनका रूप नवीन है।

नाटकोंका विकास उचित रंगमंचके अभावमें जैसा होना चाहिए था, आगे नहीं हो सका। आधुनिक साहित्यमें नाटकोंका स्थान २०वीं शतीके प्रारम्भमें भी विशेष महत्त्व नहीं पा सका। पारसी कम्पनियोंके प्रभावसे जनताको बचानेके लिए नाटकोंका प्रारम्भ किया गया था, परन्तु वे अपनेको

पारसी रंगमंच तथा नाटकोंके प्रभावसे बचा नहीं सके। साहित्यके नाटककार कथा-वस्तुके आदर्शकी रक्षा तो कर सके, पर कलात्मक रचनाकी दृष्टिसे विशेष सफल नहीं हो सके। राधाकृष्ण दास, माधव शुक्ल, मिश्रबन्धु आदिमें समान रूपसे नाटकीय कला तथा निर्देशन-कलाकी दृष्टिसे दोष पाये जाते हैं। इनके नाटकोंके कथानक अव्यवस्थित तथा अस्वाभाविक और संलाप असंगत हैं। समानुपात तथा निर्देशनका ज्ञान इनमें नहीं है। इसका कारण यह है कि इन नाटककारोंको रंगमंचका समुचित अनुभव नहीं था। इनमें प्रयुक्त हास्य पारसी कम्पनियों-द्वारा प्रयुक्त हास्यसे अधिक श्रेष्ठ नहीं है। बद्रीनाथ भट्टने इस दृष्टिसे कुछ सफलता पायी है। उन्होंने कथावस्तुका विकास अपेक्षाकृत समुचित ढंगसे किया है। वह चरित्र-चित्रण अधिक सफलतासे कर सके हैं। निर्देशनका ज्ञान तथा कलात्मक सौन्दर्य भी उनमें विशेष है। २०वीं शताब्दीके प्रारम्भमें पारसी कम्पनियोंमें नारायणप्रसाद बेताब, आगा हश्र काश्मीरी, हरिकृष्ण जौहर, तुलसीदत्त शैदा तथा राधेश्याम कथावाचक आदि नाटक लिख रहे थे। इनमें साहित्यिक रुचि पायी जाती है, पर ये पारसी कम्पनियोंके नाटकोंके स्तरको बहुत कम सुधार सके हैं, वरन् इस कालमें चमत्कार तथा उत्तेजक दृश्यों और परिस्थितियोंका समावेश चित्रपटके प्रभावसे अधिक ही हुआ है। भाषा और संलापकी दृष्टिसे कुछ विकास माना जा सकता है।

इस नवीन युगमें गद्य-शैलीके साथ साहित्यके अनेक नये रूपोंका भी विकास हो रहा था। इन शैलियों और रूपोंपर युरॅपके साहित्य तथा विचार-धाराओंका स्पष्ट प्रभाव था। इसी कालमें पहले-पहल निबन्धोंका रूप मिलने लगता है। गोष्ठी-साहित्यका वातावरण इस साहित्यिक रूप तथा शैलीके अनुरूप था। गोष्ठी-साहित्यका उन्मुक्त और स्वच्छन्द वातावरण तथा उसकी आत्मीय भावशीलता निबन्ध-शैलीको प्रारम्भिक विशेषताएँ हैं। यही कारण है कि आधुनिक युगके प्रारम्भिक लेखक प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त आदि प्रमुख निबन्धकार

भी थे। भाषाका रूप निश्चित न होते हुए भी इनकी शैलीमें व्यक्तित्वकी छाप पायी जाती है। इनका उन्मुक्त स्वभाव तथा इनका व्यंग्य और हास्यप्रियता इनके निबन्धोंमें भी परिलक्षित होती है। इनके निबन्धोंके विषय सभी क्षेत्रोंसे चुने गये हैं। भट्टजीकी भाषा शिष्ट तथा परिमार्जित है, पर मिश्रजीमें ग्रामीणताकी पुट विशेष है। गुप्तजीकी भाषा गति तथा प्रवाहपूर्ण है। भट्टजीका व्यंग्य तथा हास्य मार्मिक और अवैयक्तिक है, पर मिश्रजीमें परिमार्जनकी कमीके साथ वैयक्तिकता अधिक है। गुप्तजीका व्यंग्य तीखा अधिक है। नयी-नयी पत्र-पत्रिकाओंके प्रकाशनसे विभिन्न साहित्यिक रूपोंके साथ निबन्धोंको भी विकासका अधिक अवसर मिला।

आगे चलकर २०वीं शताब्दीमें निबन्धोंके स्थानपर लेख तथा प्रबन्धोंका विकास अधिक हुआ। इस कालमें व्यक्ति-प्रधान तथा आत्मीय भावनासे पूर्ण शैलीमें लिखनेवाले चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तथा पूर्णसिंह आदि कुछ ही निबन्धकार रह गये। फिर भी निबन्ध-शैलीका पर्याप्त विकास हुआ। कुछ निबन्धोंमें स्वप्नों तथा चिन्तनोंको साहित्यिक व्यंजनाका रूप दिया गया और कुछमें कवित्वके भावोद्रेकका आश्रय ग्रहण किया गया। क्रमशः गद्य-शैलीके विकासके साथ कहानी, वार्तालाप, भाषण आदिका प्रभाव निबन्धों-पर पड़ा। परन्तु विचार और तर्ककी प्रधानतासे निबन्धके स्थानपर लेखका प्रचार बढ़ गया। महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल तथा श्यामसुन्दरदासके निबन्धोंमें विवेचनाका क्रम अधिक निश्चित है तथा विषय-प्रतिपादनकी चेष्टा है; इस कारण वे शुद्ध निबन्धकी कोटिमें नहीं आते। आगे चलकर निबन्ध-शैलीकी विभिन्न विशेषताओंने कहानी, भाषण, स्केच तथा संस्मरण आदिका रूप धारण किया। इसी समयसे विवेचनात्मक लेखकोंका युग प्रारम्भ होता है, पर समालोचनाका आदर्श अभीतक स्थापित नहीं होसका था। इस समय तक समालोचना तुलनात्मक तथा प्रशंसात्मक ही अधिक रही है। इस क्षेत्रमें आगे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा श्याम-

सुन्दरदासने विशेष कार्य किया है। आचार्य शुक्लने बादमें भारतीय साहित्य-शास्त्र तथा पाश्चात्य आलोचना-शास्त्रका समन्वय किया।

नाटकोंके साथ आधुनिक युगमें उपन्यासोंका भी विकास हुआ। इसके पहले कुछ पौराणिक तथा लौकिक प्रेम-कथाएँ अवश्य मिलती हैं, परन्तु आधुनिक उपन्यासोंसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस युगके प्रारम्भमें कौतूहल तथा वैचित्र्यमूलक तिलस्मी और जासूसी उपन्यासोंका प्रचलन हुआ। देवकीनन्दन खत्री तथा गोपालराम गहमरी इस प्रकारके प्रधान लेखक थे। किशोरीलाल गोस्वामी तथा कार्तिकप्रसाद खत्रीके ऐतिहासिक उपन्यासोंमें इतिहासका आधार साधारण है; उनमें प्रेम और रोमान्सको विशेष महत्त्व दिया गया। इनके अतिरिक्त सामाजिक उपन्यासोंका प्रचलन हो चला था। बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास, गोपालराम गहमरी, राधाकृष्ण गोस्वामी तथा हनुमन्तसिंह आदिके उपन्यासोंमें उस समयके समाजका रूप है। पर इनमें सुधारका दृष्टिकोण प्रधान है। इस प्रारम्भिक कालके उपन्यासोंपर संस्कृतके कथा-साहित्य, लोक-प्रेम-कथा-साहित्य तथा अँगरेज़ीके साधारण कोटिके उपन्यासोंका प्रभाव था। अनेक भाषाओंसे अनुवाद भी हुए। परन्तु यह उपन्यासोंकी प्रारम्भिक स्थिति थी, जिसमें कौतूहल, प्रेम तथा सुधारकी भावना प्रधान थी। अभीतक उपन्यासोंमें यथार्थवादी कथावस्तु तथा स्वाभाविक चरित्र-चित्रणका रूप भी सामने नहीं आ सका था। हमारे आलोच्य युगके समाप्त होते-होते साहित्यमें प्रेमचन्दके प्रवेशसे ही उपन्यासोंमें विशेष परिवर्तनकी स्थिति दिखाई देती है। प्रेमचन्दके 'सेवासदन' (१९१८), 'प्रेमाश्रम' (१९२१) तथा 'रंगभूमि' (१९२२) में वास्तविक चरित्र-चित्रणका रूप मिलना प्रारम्भ होता है। उसके पहले अयोध्यासिंह उपाध्याय, लज्जाराम मेहता, मन्नन द्विवेदी आदिके सामाजिक उपन्यासोंमें चरित्र-चित्रणका प्रयास किया गया है, पर इनमें वर्गगत (टाइप) चरित्रोंके रूप ही सामने आ सके हैं। उपन्यासोंमें व्यक्तीकरणका युग बादमें प्रेमचन्द तथा कौशिकजीके साथ प्रारम्भ होता है। ऊपरके लेखकोंके

उपन्यासोंमें कलात्मक गठनका अभाव भी है। उनमें केवल सामाजिक तथा घरेलू जीवनके चित्र यत्र-तत्र स्वाभाविक बन पड़े हैं। साथ ही इस समय तक उपन्यासोंमें नैतिक आदर्शोंका विशेष प्रभाव रहा है, और इस कारण भी कलाकी दृष्टिसे विशेष उन्नति नहीं हो सकी। ब्रजनन्दनसहाय तथा चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'के उपन्यास भाव-प्रधान हैं, परन्तु इनमें कवित्वपूर्ण व्यंजनाके अतिरिक्त कथानक या चरित्र-चित्रणकी कोई विशेषता नहीं है। बादमें प्रसादजीने इस शैलीको अधिक कलात्मक रूप दिया है।

१९वीं शताब्दीके अन्त तक कहानी-शैलीका विकास नहीं हो सका था। कहानीका इतिहास केवल २०वीं शताब्दीसे प्रारम्भ होता है। प्रारम्भमें अँगरेज़ी तथा संस्कृतके नाटकोंकी कथावस्तुको कहानियोंके रूपमें प्रस्तुत किया गया। वैसे कहानी बहुत लोक-प्रचलित शैली है पर उसका आधुनिक रूप अपने नाटकीय गठनके कारण सम्भवतः इन्हीं अनुवादोंके माध्यमसे हमारे साहित्यमें आया। किशोरीलाल गोस्वामीकी 'इन्दुमती' कहानी (१९०० जून) पर डॉ० श्रीकृष्णलाल 'टेम्पेस्ट' का प्रभाव मानते हैं। पार्वतीनन्दन तथा बंग-महिलाने अनेक अनुवादित तथा रूपान्तरित कहानियाँ इस बीचमें 'सरस्वती' में प्रकाशित करायीं। यह आश्चर्यकी बात है कि कहानियोंमें उपन्यासोंसे पूर्व यथार्थवादी दृष्टिकोण विकसित हुआ। बंग-महिला (दुलाईवाली—सरस्वती १९०७) तथा जय-शंकरप्रसाद (ग्राम-इन्दु, १९११) से कहानियोंका युग प्रारम्भ हो जाता है। बंग-महिलाकी सामाजिक यथार्थवादी कहानियोंका विकास आगे चलकर प्रेमचन्द, सुदर्शन तथा कौशिक आदिकी कहानियोंमें हुआ। प्रसादजीके साथ भावात्मक तथा वातावरण-प्रधान कहानीकारोंमें राधिका-रमणसिंह, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' तथा गोविन्दवल्लभ पन्तका नाम लिया जा सकता है। आधुनिक युगके पूर्वार्द्ध तक कहानीके क्षेत्रमें साहित्य काफ़ी आगे बढ़ चुका था, और भविष्यकी सम्भावनाएँ भी थीं। कथावस्तुका नाटकीय विकास, भावशील वातावरण, यथार्थवादी चरित्र-चित्रण, मानसिक

अन्तर्द्वन्द्व आदिकी दृष्टिसे कहानी-कला इतने थोड़े समयमें काफ़ी विकसित हो चुकी थी। पत्र-पत्रिकाओंके प्रकाशनसे कहानियोंके विकासको अधिक गति तथा प्रेरणा मिली है।

प्रथम महायुद्धके समाप्त (१९१८) होते-होते आधुनिक हिन्दी-साहित्यके पूर्वार्द्धका अन्त हो जाता है। इस काल तक मध्यम वर्गकी स्थिति अधिक निश्चित हो गयी थी। वह देशमें सबसे अधिक शिक्षित तथा सचेत वर्ग था। उसमें स्वाभिमानकी भावना भी इसी कारण विशेष थी। इस वर्गने पाश्चात्त्य दृष्टिकोणको अपनाया था, परन्तु देशकी प्राचीन रूढ़ियों-से उसे लड़ना पड़ रहा था। वह अपने देशके प्राचीन गौरवके प्रति सचेष्ट था, परन्तु देशकी वर्तमान स्थितिके प्रति उसके मनमें बहुत बड़ा क्षोभ था। महायुद्धके विनाशका प्रभाव भी उसके मनपर पड़ा था। अभीतक साहित्य-में समाजका दृष्टिकोण प्रधान था; साहित्यकारकी समस्या देश तथा समाज-की समस्या थी। परन्तु इस आनेवाले युगमें व्यक्ति अपनी ओर मुड़ा, उसने समस्याओंको अपनेको केन्द्रमें रखकर सोचनेका प्रयास किया। इस कारण आगेका युग व्यक्तिवादी साहित्यका युग है। ऐसा नहीं कि राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याके प्रति कवि और लेखक जागरूक नहीं हैं, वरन् वह अपनेको प्रधान मानकर सभी समस्याओंपर विचार करने लगता है। साथ ही इस युगके साहित्यिकके मनमें साहित्यकी समस्त प्राचीन परम्पराके प्रति विद्रोह जाग्रत् होता है, जिसमें साहित्यिकके व्यक्तित्वको अभिव्यक्तिका अवसर ही नहीं मिला था। इस प्रकार इस आनेवाले युगका साहित्यिक अधिक व्यक्तिवादी तथा अन्तर्मुखी हो उठा; उसने कलाको अधिक प्रधानता दी; युगोंके साहित्यके मूर्त आधारको अमूर्त लाक्षणिक कल्पनाओंसे सजाना प्रारम्भ किया। और यह छायावादी युग है, जिसके लिए आधुनिक युगके पूर्वार्द्धमें काफ़ी विस्तृत भूमिका तैयार हो चुकी थी।

■

छायावादसे प्रयोग-युग तक (१९१८-४७)

प्रथम महायुद्धके समाप्त होते-होते (१९१८) आधुनिक हिन्दी-साहित्यके पूर्वार्द्धका अन्त हो जाता है। आधुनिक साहित्यका उत्तर-काल वर्त्तमान युग है। इस काल तक देशमें पूँजीवादी व्यवस्था कुछ अधिक निश्चित हो चली थी और इसकी उपज मध्यवर्गकी स्थिति भी स्पष्ट हो चुकी थी। द्विवेदी-युगकी पुनरुत्थानवादी कवितामें सामन्तयुगीन तथा पूँजीवादी आदर्शोंकी छाप है। इस कवितामें एक ओर नियम, मर्यादा, परम्परा, भाग्य तथा धर्मके प्रति आस्था है तो साथ ही इसमें व्यक्तिवाद तथा मानवतावाद, भौतिकता तथा अध्यात्मवादका प्रभाव भी मिलता है; पूँजीवादी आदर्शों–समानता, स्वतन्त्रता तथा बन्धुत्वका स्वर भी सुनाई पड़ने लगता है। पर वर्तमान युगके प्रारम्भसे स्थिति बदल चुकी थी। महायुद्धके प्रभावमें देश औद्योगिक विकासकी ओर बढ़ा था, पर इससे देश स्वतन्त्रताकी ओर किंचित् भी बढ़ न सका था। इस परिस्थितिमें मध्यवर्गका व्यक्ति अपनी 'स्व' चेतनाके प्रति जागरूक हो उठा था। वह देशमें सबसे अधिक शिक्षित तथा सचेत वर्ग था। उसमें इस कारण स्वाभिमानकी भावना विशेष थी। इस वर्गने पाश्चात्त्य दृष्टिकोणसे स्वतन्त्रताका आदर्श अपनाया, पर इसे देशकी प्राचीन रूढ़ियों, परम्पराओं तथा आदर्शोंसे लड़ना पड़ रहा था। महायुद्धके विनाशका प्रभाव भी उसके मनपर पड़ा। अभीतक साहित्यमें समाजका दृष्टिकोण प्रधान था; साहित्यकारकी समस्या समाज और देशकी समस्या थी। यह ठीक है कि उस समय तक समाजको केवल सुधारकी दृष्टिसे देखा गया था और देशके सम्बन्धमें राष्ट्रीय भावना भी स्पष्ट नहीं थी। आगे चलकर वर्तमान युगमें यदि

राष्ट्रीय भावनाका विकास हुआ है, तो समाजवादी विचार-धाराको भी निश्चित आधार मिला है। परन्तु वर्तमान युगके प्रारम्भ तथा विकासमें कविका व्यक्तिवादी दृष्टिकोण प्रधान है। युग-युगसे भारतीय कविपर व्यक्तिगत संवेदनाओंको व्यक्त करनेके क्षेत्रमें प्रतिबन्ध रहा है; समाजीकृत तथा साधारणीकृतकी शर्तें उसके सामने रही थीं। आधुनिक युगके पूर्वार्द्धमें ही ये बन्धन ढीले पड़ने लगे थे, सीमाएँ मिटने लगी थीं। पर वर्तमान युगके कविने व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका मुक्त उद्‌घोष किया। उसकी दृष्टि देश-व्यापी विभिन्न समस्याओंकी ओर न रही हो ऐसा नहीं है, पर अपनेको केन्द्रमें रखकर वह सबके प्रति क्रियाशील हुआ है। स्वतन्त्रताके इस आह्वानमें वर्तमान युगका कवि प्रारम्भसे विद्रोही रहा है। यह ज़रूर है कि व्यक्ति-केन्द्रित होनेके कारण विद्रोहका स्वर सारे समाजको बदलकर नये समाजकी स्थापनाका न होकर समाजकी प्राचीन रूढ़ियोंसे अपनेको मुक्त करनेका ही प्रधान है। यह उनके मनमें स्पष्ट नहीं था कि 'कला कलाके लिए' के समान 'स्वतन्त्रता स्वतन्त्रताके लिए'का अर्थ कुछ नहीं होता। कवि प्राचीन परम्पराओंसे विद्रोह कर सका, पर उसके सामने कोई नया समाज अपनी नयी परम्पराओंके साथ नहीं आ सका। परिणामस्वरूप अन्तर्मुखी होकर वह अधिकाधिक व्यक्तिवादी होता गया है। हाँ, जिनके सामने किसी नये समाजका (निश्चित ही किसी विशिष्ट 'वाद'का ही नहीं) चित्र आ गया है, उन्होंने इधरकी वर्तमान कविताको नया स्वर भी दिया है। इस प्रकार वर्तमान कविताकी प्रधान विशेषता व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता है।

साहित्यमें इस व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य आन्दोलनको व्यापक रूपसे स्वच्छन्दवादी (रोमैण्टिक) आन्दोलन माना जा सकता है। इस सम्पूर्ण काव्यकी व्यापक भावनाके अन्तरालमें उन्मुक्त रोमैण्टिक प्रवृत्तिका आभास मिलता है। रोमैण्टिक काव्यमें व्यक्तित्वको प्रधानता स्वीकृत है, क्योंकि व्यक्तिवादके आधार, भाव-प्रवणता तथा कल्पना-शीलता इस काव्यमें विशेष

महत्त्वका स्थान रखते हैं। कवि न केवल विचारसम्बन्धी रूढ़ि तथा परम्पराके विरुद्ध होता है, वरन् इस साहित्यिक प्रेरणामें रूढ़ियोंके प्रति विद्रोह रहता है। इस काव्यमें व्यक्तिकी स्वतन्त्रता, सामाजिक तथा राष्ट्रीय भावनाका समावेश होता है, साथ ही इसमें आन्तरिक संवेदनशीलता और अनुभूतियोंकी गम्भीर अभिव्यक्ति रहती है। इन समस्त दृष्टियोंसे वर्तमान युगकी कविताका प्रारम्भ रोमैण्टिक आन्दोलनके रूपमें स्वीकार किया जा सकता है। इस युगकी कवितामें जो अप्रत्याशित विकास और अनियमित मोड़ दिखाई पड़ते हैं, उन सबकी भूमिका आधुनिक युगके पूर्वार्द्धमें पड़ चुकी थी। भारतेन्दु-युगकी कवितामें कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ, ऐसा माना जाता है, पर उसकी मूल भावनापर विचार करते यह स्पष्ट हो जायेगा कि इस युगमें ही आगेके विद्रोही युगकी भूमिकाकी नींव पड़ चुकी थी। यद्यपि इस युगकी कवितामें भाषा, भाव तथा शैली सभी कुछ एक प्रकारसे प्राचीन परम्पराका है, पर यदि ध्यान दिया जाये तो नवचेतनाका उद्‌बोधन इस युगके कवियोंमें पाया जाता है। ब्रजभाषाके साथ खड़ीबोलीका प्रयोग होने लगा था, प्राचीन छन्दोंके स्थानपर लोक-प्रचलित छन्दों–जैसे कजली, बिरहा, रेखता तथा मलार आदि–का प्रयोग किया गया। इस काव्यमें नवीन आदर्शोंके प्रति आग्रह भी मिलता है। रीतिकालीन रूढ़िगत प्रेमके आदर्शके स्थानपर इस युगमें प्रेमको अधिक स्वस्थ तथा उन्मुक्त वातावरण मिला है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य तथा राष्ट्रीय भावनाकी भी अपने ढंगसे अभिव्यक्ति हुई है, यद्यपि इस समय उनको आजके अर्थमें नहीं समझा जा सकता। इन कवियोंमें मस्ती तथा निर्द्वन्द्वता है जो उनके कल्पनाशील तथा संवेदनशील होनेकी साक्षी है। वर्त्तमान परिस्थितिके प्रति असन्तोष, परम्परागत रूढ़ियोंके प्रति विद्रोह तथा सामाजिक बन्धनके प्रति क्षोभ इस युगमें जन्म ले रहा था, जिस भूमिकापर रोमैण्टिक-काव्य विकसित होता है। परन्तु देशकी राजनीतिक तथा सांस्कृतिक प्रगति देशी सामन्तवाद तथा विदेशी

साम्राज्यवादके दो किनारोंसे टकराकर आगे बढ़ रही थी। इस कारण इसका इतिहास युरॅपके प्रगतिके इतिहाससे भिन्न रहा है। इसीके प्रभावसे द्विवेदी-युग रोमैण्टिक-काव्यका स्वच्छन्द युग न होकर पुनरुत्थानकी भाव-धाराको सामने लाया। सुधारवादी आन्दोलनोंसे प्रेरणा ग्रहण कर काव्य जीवनके व्यापक स्तरपर उतरने लगा। यह भावना केवल पाश्चात्त्य साहित्यके प्रभावसे विकसित हुई हो ऐसी बात नहीं है। यह काव्य जिस मध्यवर्गसे सम्बन्धित है, वह अपनी भावनाओं, आकांक्षाओं तथा आदर्शोंको अभिव्यक्तिका रूप दे रहा था। इसमें भी वर्त्तमानके प्रति बहुत बड़ा क्षोभ और असन्तोष है और रूढ़िके प्रति विद्रोहकी भावना भी है, पर वे कवि नवीन मूल्यों तथा आदर्शोंकी स्थापनाके लिए गौरवपूर्ण अतीतकी ओर मुड़ गये हैं। इस मोड़के कारण साहित्यमें रोमैण्टिक, उन्मुक्त तथा स्वच्छन्द, मनोवृत्ति दब गयी है और उनके स्थानपर आदर्श, मर्यादा तथा नीतिमत्ता-का आग्रह बढ़ गया है। पर इस युगके काव्यमें शुद्ध रोमैण्टिक धारा भी रक्षित रही है। श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पाण्डेय आदिमें भाषा-शैलीके साथ-साथ जीवन तथा जगत्के प्रति रोमैण्टिक दृष्टिकोण मिलता है। परन्तु जिस प्रकार इस स्वस्थ और मुक्त रोमैण्टिक-काव्यको द्विवेदी-युगके आदर्शवाद तथा इतिवृत्तात्मकताके कारण पनपनेका अवसर नहीं मिल सका, उसी प्रकार वर्तमान युगमें भी परिस्थितियोंके कारण इसको किंचित् भिन्न रूप मिल गया है। वैसे वर्त्तमान छायावादी युग कविताका रोमैण्टिक-युग स्वीकार किया जा सकता है, उसकी अधिकांश प्रवृत्तियां रोमैण्टिक-काव्यके समान हैं।

कहा गया है कि छायावादी काव्यको रोमैण्टिक-युगकी कविताके समान स्वीकार किया जा सकता है। यह आग्रह इसलिए भी है कि इस प्रकार विचार करनेसे इस कविताके सम्बन्धमें हमारा पक्षपात मिट सकता है और साथ ही अनेक पूर्वग्रहोंका निराकरण भी हो जायेगा। कहना चाहिए कि समस्त छायावादी कविताका आधार रोमैण्टिक भावना मान

लेनेसे इस युगकी साहित्यिक पीठिका अधिक स्पष्ट हो जाती है, काव्यकी विभिन्न प्रवृत्तियोंका विवेचन अधिक सरलतासे हो सकता है। यह ठीक है कि युगकी परिस्थितियोंने इस युगके काव्यको मुक्त रूपसे रोमैण्टिक भावधाराके अनुकूल नहीं होने दिया है, पर अपनी मूल प्रवृत्तिके आधारपर वह इस भावधाराके अत्यन्त समीप ठहरता है। वास्तवमें रोमैण्टिक आन्दोलनने तत्कालीन परिस्थितियोंके अनुसार किंचित् भिन्न रूप धारण कर लिया है। इन प्रतिक्रियात्मक शक्तियोंकी ओर ध्यान जानेसे रोमैण्टिक आन्दोलनके एक भिन्न युगका स्मरण आ जाता है। 'इस युगके आरम्भमें काव्य स्वच्छन्दवादी प्रवृत्तियोंसे विकसित हुआ है, साथ ही उसमें कुछ प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियाँ भी क्रियाशील रही हैं और इन्होंने काव्यको पूर्णतः जीवनके उन्मुक्त धरातलपर नहीं आने दिया।' (प्रकृति और काव्य : हिन्दी मध्ययुग)। यही बात आंशिक रूपसे वर्त्तमान युगके लिए भी सत्य है। हिन्दी मध्ययुगके रोमैण्टिक आन्दोलनके मार्गमें सबसे बड़ी बाधा उस युगके काव्यमें विरक्तिके प्रधान स्वरका होना है। सांसारिक विरक्ति भक्तिकाव्यकी मूल प्रेरणा मानी जा सकती है, जब कि रोमैण्टिक मनोवृत्तिमें जीवनके प्रति प्रबल आसक्तिका भाव होता है। मध्ययुगके काव्यमें इस आन्दोलनकी असफलताका कारण यदि आध्यात्मिक है, तो वर्त्तमान युगमें रोमैण्टिक काव्यको मुक्त रूप न मिल सकनेका कारण सामाजिक-राजनीतिक माना जा सकता है। कहा गया है, महायुद्धके बाद औद्योगिक उन्नति हुई थी, देशमें पूँजीवादी व्यवस्थाका प्रवेश हो चुका था। पर विदेशी शासनमें इस व्यवस्थाको विकासका पूरा अवसर नहीं मिल सकता था। इस कारण मध्यवर्गके व्यक्तिके सामने स्वतन्त्रताका आकर्षण और सम्मोह तो आ चुका था, पर वह सब प्रकारसे अपनेको निरुपाय पा रहा था। औद्योगिक क्रान्तिके समय सामन्तवादकी ढहती हुई दीवारोंपर खड़ा हुआ व्यक्ति, भ्रम ही सही पर वह अपनेको स्वतन्त्र मानकर बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिए विद्रोह करता है। प्रारम्भमें

यह रोमैण्टिक कवि स्वप्न-द्रष्टा होता है, कल्पना-जगत्में रहता है और अपनी दमित इच्छाओंको व्यक्त करता है। यह कविता भी वास्तवमें अपने-से पिछली कविताके प्रति विद्रोह करती है और इसमें संवेदनात्मक आवेश तथा ताज़गी रहती है। रोमैण्टिक युगकी प्रारम्भिक कविताके व्यक्तिगत प्रेम तथा मनस्परक सौन्दर्यकी अभिव्यक्तिमें उल्लास तथा आवेश रहता है। पर आगे चलकर कविका व्यक्तिवाद उसको अधिकाधिक अन्तर्मुखी कर देता है और उसके सामनेसे व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी मरीचिका ओझल होने लगती है। सामाजिक मर्यादाओंसे अपनेको मुक्त समझकर भी वह अपना कोई सन्तुलन स्थापित नहीं कर पाता और इस प्रकार समाज तथा बाह्य-जगत् दोनोंसे असन्तुष्ट होकर वह अपने काल्पनिक लोकके स्वप्नोंमें लीन हो जाता है। पतनोन्मुखी रोमैण्टिक कविमें असन्तुलित अहंवादके साथ मान-सिक कुण्ठाओंकी अभिव्यक्ति अधिक होती है। उसमें रोमैण्टिक मुक्ति, उल्लास तथा आवेगके स्थानपर कुण्ठा, अवसाद तथा विरक्ति ही प्रधान हो जाती है। छायावादी युगकी जिन परिस्थितियोंका उल्लेख किया गया है, उनमें रोमैण्टिक आन्दोलनके साथ ही उसकी पतनोन्मुखी प्रवृत्तियोंका समावेश होना सम्भव हो गया। इस कारण छायावादी काव्यमें दोनों ही प्रकारकी रोमैण्टिक प्रवृत्तियोंका ऐसा घोल-मेल हो गया है कि उसकी प्रमुख धारामें शुद्ध स्वच्छन्दवादी भावनाको पहचानना कठिन है।

पतनोन्मुखी रोमैण्टिक काव्यका उदाहरण फ्रान्सके १०वीं शतीके कवि बॉदलेअरकी कविता है। वह संक्रान्तिकालका कवि है, जिसको रोमैं-ण्टिक तथा प्रतीकवादियोंके मध्यमें माना जा सकता है। उसका प्रधान स्वर रोमैण्टिक है। उसके काव्यमें भावनाओं और अनुभूतियोंकी व्यक्ति-गत अभिव्यक्ति है। उसके स्वरमें गीतात्मकता भी है, पर जीवनकी निराशा अधिक है। उसकी कविता आत्माकी अन्यमनस्कता, श्रान्ति, निराशा, आत्म-हत्याकी इच्छा तथा सामान्य विरक्तिसे भरी है। उसने इस रोमैण्टिक अवसाद, वेदना, दुःखप्रियता और मृत्यु-आह्लादको अत्यधिक

तीखी और लोमहर्षक किन्तु आकर्षक शैलीमें व्यक्त किया है। बाँदलेअर एक टूटते हुए युगका प्रतिनिधि है, जिसमें व्यक्ति अपने विश्वासको खो चुका था, जिसमें किसी आस्थाके लिए स्थान नहीं रह गया था। परन्तु छायावादी युगकी परिस्थिति न तो रोमैण्टिक आन्दोलनके प्रारम्भिक युगसे पूर्णतः मिलती है और न पतनकालीन इस परिस्थितिके ही पूरी तरह समान है। यदि इस युगमें साम्राज्यवादी बन्धनोंके कारण रोमैण्टिक युगके आशा, उल्लास तथा विश्वासका वह रूप नहीं मिलता है, तो पतनकालीन निराशावादिता तथा आस्थाहीनताको भी इस युगके काव्यमें उस सीमा तक स्थान नहीं मिला है। राजनीतिक तथा सामाजिक कारणोंसे इस युगका व्यक्तिवादी कवि निराश और कुण्ठित हुआ है, पर उसने आस्थाका सम्बल नहीं छोड़ा है। राजनीतिके क्षेत्रमें गान्धीने आन्दोलनोंकी असफलताके बीचमें भी जनताको धार्मिक आस्थाके बलपर निराश नहीं होने दिया था।' इसी प्रकार इस युगके व्यक्तिवादको आध्यात्मिकतासे बहुत बल मिला है। राष्ट्रीयताके विकासमें आध्यात्मिक जागरणका हाथ भी रहता है, यह इस बातसे सिद्ध है कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलनको रामतीर्थ, विवेकानन्द, दयानन्द तथा अरविन्दके आध्यात्मिक सन्देशोंसे बल मिला है। यद्यपि मैं शम्भूनाथ सिंहकी इस बातसे सहमत हूँ कि 'इस युगकी आध्यात्मिकता प्रधानतया एक दृष्टिकोणके रूपमें थी जिसमें साधनाका योग नहीं था; वह धार्मिक परम्परा और सुधारवादके विरुद्ध विद्रोहके रूपमें आयी थी। उसका लक्ष्य व्यक्तिकी आत्माको स्थूल सामाजिक नियन्त्रणसे मुक्त करना था, यद्यपि वह इस प्रतिक्रियाके प्रभावमें स्वयं भौतिकताका विरोध करनेवाली हो गयी है।' इसमें अन्तिम बातको मैं यों रखना चाहूँगा : 'वह स्वयं भौतिकताका विरोध करनेवाली जान पड़ने लगी', क्योंकि छायावादी आध्यात्मिकता जिस प्रकार भ्रामक है उसी प्रकार उसमें भौतिकताकी अस्वीकृति भी भ्रममात्र है। जो भी हो इस आध्यात्मिक दृष्टिकोणने इस युगकी कविताको प्रभावित किया है। इससे एक ओर छायावादी काव्य प्रेम और सौन्दर्यके उन्मुक्त

रोमैण्टिक काव्यसे भिन्न रहा और दूसरी ओर अतिव्यक्तिवादी अवसाद, वेदना तथा दुःखप्रियता और मृत्यु-आह्लादकी पतनोन्मुखी रोमैण्टिक प्रवृत्तियोंसे भी बच सका। इस आध्यात्मिक भ्रमका आश्रय, तत्कालीन राष्ट्रीय जागरणकी चेतनाके अनुकूल तो था ही, उस समयकी सामाजिक स्थितिसे अपने व्यक्तिगत स्वातन्त्र्यके दृष्टिकोणके सन्तुलनकी रक्षाके लिए भी आवश्यक हो उठा। प्रमुख छायावादी कवियोंमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्यका समाज-विरोधी स्वर दबा हुआ है। वास्तवमें ये द्विवेदी-युगके नैतिक आदर्शों तथा गान्धीकी राष्ट्रीयताके नैतिक आधारकी खुलकर अवहेलना नहीं कर सके। इनसे अधिक स्पष्ट व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी माँग इनके बादके कुछ कवियोंमें पायी जाती है। इसीलिए ये कवि रोमैण्टिक प्रेमके अधिक निकट भी हैं। आध्यात्मिक रंगके उतरते ही कुछ वर्तमान कवियोंमें पतनोन्मुखी निराशा, वेदना तथा कभी-कभी मृत्यु आह्लादकी भावना मिलने लगती है। पर नयी कविताकी विस्तृत धारामें यह भावना गौण ही रही है, क्योंकि हमारे समाजमें शिथिलता, निष्क्रियता और स्वार्थपरता कितनी ही क्यों न बढ़ गयी हो पर निर्माणके प्रति उसका विश्वास बना हुआ है।

छायावादी काव्यकी सामान्य प्रवृत्तियोंकी व्याख्या करनेके पूर्व इसमें एक ऐसी प्रवृत्तिके अभावकी बात कह देनी आवश्यक है, जिसके कारण इस काव्यकी समस्त रोमैण्टिक भावधारा प्रच्छन्न हो गयी है। सामन्तयुगीन संस्कारवादी (क्लैसिकल) काव्यके विरोधमें जब रोमैण्टिक काव्य अपनी अभिव्यक्तिका माध्यम ढूँढ़ता है, उस समय वह मूलतः व्यक्तिपरक होकर भी लोकगीतोंकी उन्मुक्त जन-भावनाओंसे प्रेरणा ग्रहण करता है। संस्कारवादी काव्यमें (इसी प्रकार हिन्दीके रीति काव्यमें) सामाजिक मर्यादाओं तथा नैतिक आदर्शोंके साथ साहित्यिक अभिव्यक्तिकी भी परम्परागत रूढ़ियाँ आ जाती हैं। रोमैण्टिक विद्रोहकी कविता उन मर्यादाओं तथा आदर्शोंके साथ काव्यगत रूढ़ियोंका विरोध करती है और अकसर जिस प्रकार यह काव्य मुक्त जीवन-दर्शनके लिए लोकगीतोंकी स्वच्छन्द भाव-

धाराकी ओर मुड़ता है, उसी प्रकार भाषा तथा शैलीके लिए उसकी जीवन्त परम्पराका आश्रय भी लेता है। इस प्रकार रोमान्सवादी काव्यकी प्रारम्भिक प्रवृत्ति लोक-जीवन और काव्यमें सम्बन्ध स्थापित करनेकी होती है। बादमें स्वातन्त्र्यकी चेतना व्यक्ति-केन्द्रित होनेके कारण यह काव्य आत्मगत होकर अधिकाधिक मनस्परक, कल्पनाप्रवण, स्वप्निल, आदर्श-वादी तथा अभिव्यंजनात्मक होता जाता है। पहले ही कहा गया है कि द्विवेदी-युगके कुछ कवियोंमें स्वाभाविक तथा स्वस्थ रोमैण्टिक भावना विकसित हो रही थी, जिसमें भाषा, शैली तथा भाव सभी रूपोंमें जन-जीवन तथा लोक-गीतोंसे प्रेरणा ग्रहण की गयी थी। परन्तु छायावादी काव्य-ने इस परम्पराको आगे नहीं बढ़ाया। छायावादके आन्दोलनमें रोमैण्टिक दृष्टिसे सबसे बड़ी कमी यह थी कि इस काव्यने लोक-जीवनकी भूमि प्रारम्भसे ही छोड़ दी है – क्या भाव, क्या भाषा और क्या छन्द-विधानकी दृष्टिसे। इस युगके जिन अन्तर्विरोधोंका उल्लेख किया जा चुका है, उनके अतिरिक्त एक यह भी है कि छायावादी काव्य अपनी प्रेरणाएँ इस दिशामें बहुत-कुछ विदेशी साहित्यसे प्राप्त कर रहा था, जब कि सामाजिक भूमिकाकी दृष्टिसे उसे लोक-जीवनकी ओर मुड़ना चाहिए था। यहाँ यह जान लेना प्रासंगिक होगा कि इस समय तक युरॅपमें रोमैण्टिक कविताके युगको समाप्त हुए लम्बा अरसा बीत चुका था। यह ठीक है कि छायावादी कवि युरॅपके रोमैण्टिक कवियोंसे अधिक प्रभावित हुए हैं, पर बादके कवियोंसे नितान्त अपरिचित न थे। इसके अतिरिक्त इन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी कवितासे प्रभाव ग्रहण किया है, जिसमें पश्चिम और पूर्वके जीवन-दर्शन तथा सौन्दर्य-दृष्टिका समन्वय हुआ है। लोक-सम्पर्कहीन रोमैण्टिक आन्दोलन होनेके कारण छायावादी काव्यमें प्रारम्भसे ही जीवनकी अभिव्यक्ति अत्यन्त व्यक्तिवादी और बौद्धिक हो गयी है और उसकी शैली लाक्षणिक तथा प्रतीकात्मक रही है। छायावादी गीति-भावनामें लोक-गीतोंके ताल और लयके स्थानपर वर्णोंकी स्वर-मैत्री तथा छन्दमयता प्रधान है। भाषामें सहज बोधगम्यता

तथा प्रभावशीलताके स्थानपर लाक्षणिकता, ध्वन्यात्मकता तथा प्रतीक-विधान विरोध है। वास्तवमें उपर्युक्त अभावके कारण छायावादी काव्यमें रोमैण्टिक काव्यकी ताज़गी, उन्मुक्तता, भावाकुलता, सीधे प्रभाव डालनेकी शक्ति तथा उल्लासपूर्ण उन्मेषकी कमी है। इसी कारण यह काव्य कलावादी भी हो गया है। इसकी अन्य प्रवृत्तियाँ शैली और शिल्प-विधिमें अन्तर्निहित हो गयी हैं। इसी कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्लने छायावादके आन्दोलनको शैलीगत स्वीकार किया है। यह भ्रम इसी कलावादी प्रवृत्तिके कारण हुआ है।

छायावादकी पहली प्रवृत्ति उसका व्यक्तिवादी दृष्टिकोण है जो रोमैण्टिक कविताकी आधार-भूमि है। छायावादमें पिछले युगोंकी नितान्त वस्तुपरकता तथा विषयकी प्रधानताके प्रति गहरा विद्रोह छिपा है और अपने व्यक्तित्वकी स्वीकृतिके लिए खुला हुआ ऐलान है। जैसा कहा गया है, इस प्रतिक्रियामें उसकी अपनी वैयक्तिकता इतनी अन्तर्मुखी हो गयी कि कवि वस्तु-सत्यकी नितान्त अवहेलना करके सूक्ष्म भावात्मक स्वप्नों, आशाके वायवी रंगीन चित्रों तथा कल्पनाकी चित्र-विचित्र घाटियोंमें रमता रहा। साधारण जीवन और जगत्से सम्बन्ध न होनेके कारण इन कवियोंकी आत्माभिव्यक्तिमें व्यक्तिगत जीवनकी सुख-दुःखमयी संवेदनाओं, आशा-निराशाके अन्तर्द्वन्द्वोंका रूप बहुत कम आ सका है। बादमें जिन कवियोंमें प्रेमका मुक्त रूप है और जिन्हें आध्यात्मिक आड़ नहीं चाहिए थी उनमें यह रूप अवश्य आ सका है। परन्तु प्रमुख छायावादी कवियोंने समस्त जगत् तथा प्रकृतिको अपना भावना तथा कल्पनाके रंगोंमें देखा है और उसी रूपमें उन्हें चित्रित किया है। इस काव्यमें भाव-जगत्के रंगोंका सौन्दर्य है; उसके सूक्ष्मसे सूक्ष्म छायातप (शेड) को चित्रमय करनेका प्रयास किया गया है। परन्तु वस्तु-जगत्की प्रतिक्रियासे उत्पन्न होनेवाली स्वस्थ संवेदनाओंका रूप इन छायाओंमें कहीं दिखाई नहीं देता। इस कारण इस काव्यमें भावात्मक तथा कल्पनात्मक सौन्दर्य है पर शक्तिका नितान्त अभाव है। रोमैण्टिक काव्यकी प्रेम तथा

सौन्दर्यसम्बन्धी प्रवृत्ति छायावादमें लगभग समानरूपमें पायी जाती है। रोमैण्टिक प्रेम उन्मुक्त प्रेम है, साथ ही आदर्शोन्मुखी भी। प्रेम करनेका सबको समान अधिकार है। समाजकी प्राचीन मर्यादाएँ उसके मार्गमें बाधक होती हैं, इस कारण उनसे मुक्त होना है। छायावादमें भी प्रेमका बहुत-कुछ ऐसा रूप है। मर्यादावादी नैतिकताकी बाधाके कारण इस युगके काव्यमें प्रेमकी वासना कुण्ठित और दमित रह गयी है; इस कारण कुण्ठा तथा निराशाका स्वर सुनाई देता है। रोमैण्टिक दृष्टिसे सौन्दर्य मनस्-परक है, वस्तुपरक नहीं। छायावादी भी सौन्दर्यको मनस्परक स्वीकार करते हैं। वास्तवमें व्यक्तिवादी भावनाके कारण सौन्दर्य तथा प्रेमका यह रूप अतीन्द्रिय तथा भाव-प्रधान था। रोमैण्टिक काव्यके समान छायावादमें मानवतावाद तथा प्रकृति-प्रेमका महत्त्वपूर्ण विकास हुआ है। सौन्दर्य तथा प्रकृतिके आकर्षणके मूलमें जिज्ञासा, विस्मय आदि भावनाएँ भी हैं। अत्य-त्रिक आत्म-केन्द्रित होनेके कारण प्रेमके प्रति कवि मानसिक सहानुभूतिमात्र प्रकट करता है, उसमें उसके लिए कोई सक्रिय आकर्षण नहीं जान पड़ता। प्रकृतिके प्रति आत्मीयता, सहानुभूति आदिकी भावनाएँ बहुत कम व्यक्त हुई हैं। छायावादी कविने यद्यपि रोमैण्टिक कविके समान प्रकृतिके भयानक तथा कोमल दोनों रूपोंमें सौन्दर्य तथा आकर्षण पाया है; पर छायावादी कविमें आत्मीय सम्बन्धकी भावनाके स्थानपर बौद्धिक सहानुभूति ही विशेष है। कभी कविने प्रकृतिपर अपनी मानसिक स्थितियों, संवेदनाओं तथा भावनाओंका आरोप किया है और कभी अपने मनकी विभिन्न स्थितियोंके सूक्ष्म सौन्दर्यमय वर्णनके लिए प्रकृतिकी स्थिति-परिस्थितियोंको चुन लिया है। वैसे कविने अपने व्यक्तित्वका प्रकृतिपर आरोप किया है और प्रकृतिमें स्वतन्त्र चेतना तथा सत्ताको भी स्वीकार किया है। इस दृष्टिसे ये कवि सर्वात्मवादी हैं जिसके मूलमें प्रकृतिवादी सौन्दर्योपासना है। प्रकृतिवादी रोमैण्टिक प्रकृति-के फैले हुए सौन्दर्यके प्रति आकृष्ट होकर उसके रूप और गतिशीलतापर मुग्ध होता है। इस माध्यमसे वह प्रकृतिमें किसी अज्ञात व्यापक चेतनाका

आभास पाता है। छायावादी कवियोंमें, पन्तकी प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं-में इस प्रकार सौन्दर्य तथा आकर्षण है। पर व्यापक रूपसे इन कवियोंने मुक्तभावसे प्रकृतिसे सीधा सम्बन्ध नहीं स्थापित किया। इन्होंने प्रकृतिको अपनी मानसिक छवियोंके सौन्दर्य-बोधके रूपमें लिया है।

पीछे जिस आध्यात्मिक भ्रमका निर्देश किया गया है उसपर यहाँ किंचित् विस्तारसे कर लेना चाहिए, क्योंकि इसके कारण छायावादी कवितामें रहस्यवादकी व्याख्या की जाती रही है। इस भ्रमके सामाजिक कारणका उल्लेख किया गया है। देशके तत्कालीन आध्यात्मिक आन्दोलनकी बात भी कही गयी है। इसके अतिरिक्त इस देशमें आध्यात्मिक परम्पराओंका सदा गहरा प्रभाव रहा है। इस कारण इस युगके कवियोंको आध्यात्मिक जीवन तथा परम्पराओंका ज्ञान था, यह स्वीकार कर लेनेमें कोई कठिनाई नहीं है। पर रहस्यात्मक अनुभूति तथा अभिव्यक्तिके लिए आध्यात्मिक जीवनसे बौद्धिक परिचय-मात्र पर्याप्त नहीं है। उसके लिए आवश्यक है कि इसमें जीवन (आध्यात्मिक) यापन किया जाये, इसमें रहकर अनुभव प्राप्त किया जाये। इसी आध्यात्मिक जीवनके अनुभवों, उसकी मार्मिक संवेदनाओंकी अभिव्यक्ति रहस्यवाद है। इस अलौकिक जीवन और उसके साक्षात्कारका अनुभव आधुनिक रहस्यवादी कहलानेवाले कवियोंमें खोजना व्यर्थ है। परन्तु इनकी कवितामें जो रहस्याभास है उसके लिए पर्याप्त आधार है। वह केवल आरोपित व्याख्या-मात्र नहीं है। समुचित व्याख्या और विश्लेषण करनेके बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन रहस्याभिव्यक्ति तथा आधुनिक रहस्याभास कवितामें क्या अन्तर है। पर दोनोंमें समानताकी ऐसी सीमा-रेखाएँ भी हैं जिनसे यह भ्रम और आभास सम्भव हो सका है। साधनका आध्यात्मिक जीवन अपने-आपमें पूर्ण है, उस स्तर तक उठनेवाले व्यक्तिके लिए अभिव्यक्तिका माध्यम स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। पर जब इस जीवन-की अभिव्यक्ति साधक करता है तो वह रहस्यात्मक होती है। लेकिन

साधक जिस भाषा और व्यंजनाका आश्रय इस अभिव्यक्तिमें लेता है वह लौकिक है, सादृश्य तथा विभेदके आधारपर ही स्थित है। इस कारण साधकको एक ओर लौकिक भावनाओंका ही किसी-न-किसी रूपमें आश्रय लेना पड़ता है और दूसरी ओर काव्यात्मक प्रतीकोंका माध्यम स्वीकार करना पड़ता है। लौकिक जीवनको अलौकिक स्तर तक पहुँचानेमें तथा काव्यात्मक प्रतीकोंसे आध्यात्मिक अर्थ ग्रहण करानेके लिए रहस्यवादी अभिव्यक्ति अधिकाधिक सूक्ष्म, अतीन्द्रिय, अध्यन्तरित तथा व्यापक आधार प्राप्त करती है। इसके विपरीत छायावादी कवियोंने भिन्न कारणोंसे (जिनका उल्लेख किया गया है) अपनी वैयक्तिक अनुभूति, संवेदना तथा भावनाको सूक्ष्म तथा अवैयक्तिक रूपमें व्यक्त किया है। उनमें लौकिक प्रेमका आवेग है, सौन्दर्यके प्रति आकर्षण है तथा जीवन-जगत्के प्रति सहज जिज्ञासा है। लेकिन उन्होंने अपने आवेग तथा आकर्षणको मानसिक प्रभाव तक सीमित रखा है, अपनी जिज्ञासाको व्यापक आधार प्रदान किया है। आलम्बनके सूक्ष्म तथा अशरीरी होनेके कारण उनमें प्रेम तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी अभिव्यक्तियाँ रहस्यात्मक स्तरकी हो गयी हैं, इनकी जीवन-जगत्-सम्बन्धी व्यापक जिज्ञासाएँ दार्शनिक कोटिमें आ जाती हैं और इनका प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टिकोण 'स्व' के आरोपकी पृष्ठभूमिमें सर्वात्मवादी हो उठा है। छायावादी शैलीकी लाक्षणिकता, प्रतीक-पद्धति तथा अप्रस्तुत-योजनामें सौन्दर्य-बोधको कल्पनाके सूक्ष्म आधारपर ग्रहण किया गया है और इससे इस अभिव्यक्तिका रूप रहस्यवादी भावाभिव्यक्तिके निकट पहुँच गया है। बादमें इस भ्रमसे आकर्षित होकर कुछ कवियोंने अपनी छायावादी कविताको रहस्यात्मक भूमिका प्रदान करनेका सचेष्ट प्रयास भी किया है। बौद्ध-दुःखवाद, आनन्दमूलक अद्वैतवाद (शैवागमोंका) तथा सूफ़ी और सन्तोंके प्रेममूलक अद्वैतवाद आदिका आधार प्रस्तुत किया गया। पर इस बौद्धिक प्रेषणीयतामें रहस्यात्मक स्तरका आत्मिक आन्दोलन और भावावेश नहीं है। प्रतीकोंको जुटाने तथा व्यक्तिगत प्रेम आदि भावनाको

निर्वैयक्तिक आधार प्रदान करनेसे इस काव्यमें रहस्यात्मक अभिव्यक्तिका आभास अवश्य आ गया है। पर इस काव्यमें आत्मोत्सर्गकी भावनाका नितान्त अभाव है, क्योंकि मूलतः छायावादी कवि अहंवादी है। और इस 'अहं'की भावनाके रहते आत्मोत्सर्ग सम्भव नहीं और बिना आत्मोत्सर्गके (अहंके पूर्ण विलयके) आध्यात्मिक जीवनके मिलन-सुखकी कल्पना नहीं की जा सकती। इस प्रकार आधुनिक छायावादी कविताके रहस्याभासको प्राचीन साधनात्मक रहस्यवाद मानना भ्रामक है और ऐसा मानना कि इससे इस कविताका महत्त्व बढ़ता है, असंगत है।

छायावादकी यह स्थिति बहुत दिनों तक सम्भव नहीं थी। जीवनकी अस्वीकृतियोंको गौरवान्वित करके, मानसिक कुण्ठाओंको छिपाकर कल्पना-लोकके छायाभास और रहस्याभास-वैभवमें अपने-आपको भुलाये रहना अधिक सम्भव नहीं था और सामाजिक-भावनाओंके लिए अज्ञात अशरीरी आलम्बनका रहस्यात्मक आधार भी अधिक टिकाऊ सिद्ध नहीं हो सका। परिणामस्वरूप आजके काव्यमें एक नया मोड़ स्वाभाविक था। इस नये काव्यकी सबसे बड़ी विशेषता है कि एक यह काव्य भाव-जगत्के काल्पनिक कुहासेसे निकलकर जीवनकी वास्तविकता तथा यथार्थकी ओर बढ़नेका प्रयत्न कर रहा है। कमसे कम नवीन यथार्थवादी दृष्टिसे आजका कवि जीवनकी वास्तविकताकी ओर बढ़नेका प्रयास कर रहा है। इस नवीन युगकी कवितामें सर्वत्र न एक-सी मान्यताएँ हैं और न समान प्रकारकी अभिव्यक्ति। पर अपनी समस्त विभिन्नताओंके बावजूद यथार्थका आग्रह उसकी सामान्य विशेषता मानी जा सकती है। व्यापक रूपसे तीन परम्पराओंके दर्शन होते हैं, जिनमें यह आधुनिक कविता विकसित हुई है। इन तीनोंने एक-दूसरेसे प्रभाव ग्रहण किये हैं। पहले ही कहा गया है कि छायावादमें पतनोन्मुखी रोमैण्टिक काव्यकी मनोवृत्ति थी। आगे चलकर शैली तथा सौन्दर्य-बोधके क्षेत्रमें यह काव्य अतिवैयक्तिक होता गया और इसको प्रयोगशील अथवा प्रयोगवादी काव्यकी संज्ञा जाने-अनजाने दी जाती है।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि यह अतिवैयक्ति.कता छायावादी सूक्ष्म काल्पनिकताके स्थानपर यथार्थपर आधारित है। सामाजिक भावनाके विकासके साथ इस युगके काव्यने दो प्रभाव ग्रहण किये हैं और उनके अनुसार उनका दृष्टिकोण भिन्न हो गया है। एक कवियोंका ऐसा वर्ग सामने आता है जो साम्यवादियोंकी राजनीतिसे प्रेरणा ग्रहण करता रहा है। उनके सामने मार्क्सका द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और उसकी समाजवादी व्याख्या रही है। वास्तवमें अपने देशकी स्थिति युरॅपकी स्थितिसे भिन्न है। इसके अतिरिक्त साम्यवादके मूल स्थान रूसमें भी साहित्यके सम्बन्धमें दृष्टिकोण बदलता रहा है। पर यहाँकी प्रगतिवादी कविता 'कुत्सित समाज-शास्त्री आलोचकों' के प्रभावसे वर्गसंघर्ष तथा सामाजिक क्रान्तिका अयथार्थ स्वर भरती रही है। अधिकतर प्रगतिवादी कवि अपने देशके सामाजिक यथार्थसे अपरिचित रहकर रूस तथा चीनकी सामाजिक क्रान्ति-के गीत गाते रहे हैं। इन दोनोंके अतिरिक्त नयी कविताकी एक तीसरी परम्परा भी रही है जिसने यथार्थकी भूमिपर उतरकर शुद्ध रोमैण्टिक स्वर पहचाना है और साथ ही अपने देशकी सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियोंके प्रति जागरूकता प्रकट की है। इस काव्यमें व्यक्तिकी भावशीलता तथा सामाजिक यथार्थवादमें सन्तुलन स्थापित करनेका प्रयास है। पर आजकी इस कविताके विषयमें निश्चित रूपसे कुछ कहना कठिन है। यदि वास्तविक यथार्थके प्रति जागरूक होना, नयी परिस्थितियोंके संघर्षके प्रति सचेष्ट होना इस काव्यके व्यापक दृष्टिकोण तथा शक्तिपूर्ण स्वास्थ्यके लक्षण हैं, तो साथ ही व्यक्तित्वकी अतिप्रधानता इस युगके कविको व्यक्तिवादी दुरूहता और कुण्ठाओंमें भी फँसा सकती है।

इन दो विशिष्ट सीमाओंके बीचमें इस नये काव्यमें जो अनेक प्रकारकी प्रवृत्तियाँ हैं, वे एक-दूसरेसे भिन्न ही नहीं, विरोधी भी हैं। भिन्न कवियों-में ही यह विभेद हो, ऐसा भी नहीं है। एक कविकी विभिन्न कविताओं और कभी एक ही कवितामें इस प्रकारका विरोधाभास पाया जाता है।

वर्त्तमान युगकी नवीन कवितामें यह स्थिति इस युगके कवियोंकी मानसिक स्थितिका परिचायक है। इस युगका कवि भी मध्यवर्गका है और वह इसी वर्गसे अपनी प्रेरणा ग्रहण करता है। यह वर्ग द्वितीय महायुद्धके समयसे ही अन्तर्विरोधोंकी स्थितिसे गुज़र रहा है। इस युद्धने इसी वर्गको सबसे अधिक प्रभावित किया है। युद्धके बाद स्वतन्त्रता-प्राप्तिके समयसे भी उसकी स्थितिमें कोई सुधार नहीं हुआ है। महँगाई, चोरबाजारी, घूसखोरी आदिका सबसे अधिक शिकार वही रहा है। देशके स्वतन्त्र होनेके बाद उसका आकांक्षाओंको और धक्का लगा है, क्योंकि उसकी स्थितिमें कोई सुधार नहीं हो सका। आजके काव्यमें उसीकी अस्थिर मानसिक, सामाजिक तथा आर्थिक-स्थितिका संघर्ष प्रत्यक्ष हुआ है। यह कवि अपनेको एकाएक विरोधी संघर्षोंकी परिस्थितिमें पाता है और अपना मार्ग निश्चित नहीं कर पा रहा है। पिछले छायावादी युगमें मध्यवर्गका व्यक्ति सामाजिक कुण्ठाओंसे अधिक पीड़ित था, पर आज उसके मनपर आर्थिक और सामाजिक वैषम्यका प्रभाव तीव्र रूपसे पड़ रहा है। लेकिन इसके साथ यह स्पष्ट है कि इन परिस्थितियोंमें भी मध्यवर्गको टूटनेसे बचा लिया गया है। युद्धकालीन उद्योगों तथा बादमें राष्ट्रीय योजनाओंके कारण इसको अभीतक बेकारीका सामना नहीं करना पड़ा है। इसके अतिरिक्त उसकी सामाजिक चेतनाको निम्न वर्गकी अपेक्षाकृत सुधरी हुई स्थितिसे भी आश्वासन मिला है। उसकी स्थितिका यही अन्तर्विरोध है। एक ओर राष्ट्रीय स्वाधीनता और उन्नति (कितनी ही कम रफ़्तारसे हो पर इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता) से उसके मनमें आस्था और विश्वास जगता है, तो दूसरी ओर अपनी बढ़ी हुई महत्त्वाकांक्षाओंके परितृप्त न होनेसे निराशा और अवसाद आ घेरता है। इसके अतिरिक्त उसमें स्वचेतनता (सेल्फ कॉन्शसनेस) और संवेदनशीलता विशेष है, जिसके कारण वह अपनी स्थितिको लेकर संसारकी अनेक विरोधी मान्यताओंपर एकाएक सोचने-विचारने लगा है। परिणाम स्पष्ट है, एक ओर उसकी

संवेदनाएँ अधिक वैयक्तिक होती जाती हैं और दूसरी ओर वह अपनेको समयकी सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओंसे अलग नहीं कर पा रहा है। आजके कविकी सबसे बड़ी समस्या यही है। इस समस्याको लेकर उसके मनमें संघर्ष चल रहा है कि वह अपने अत्यधिक संवेदक व्यक्तित्वसे आजके युगकी विषम समस्याओंका सन्तुलन किस प्रकार स्थापित कर सके। बँधी-बँधाई सीमाके अन्तर्गत सब कुछ समझ लेनेवाले आलोचकोंने नयी कविताकी खोजपर प्रश्न-चिह्न लगाया है। पर मेरा आग्रह है कि आजकी कविताकी प्रेरणा यही संघर्ष है। मार्ग खोजनेका संघर्ष कम महत्त्वपूर्ण नहीं, परन्तु यह ठीक है कि आगे बढ़नेकी प्रेरणा देनेवाले संघर्षसे वह बड़ा नहीं। जिनके लिए सब कुछ निश्चित है, मार्ग स्पष्ट है, उनकी समझमें मार्ग खोजनेके संघर्षकी बात आ ही नहीं सकती है।

वर्तमान नयी कविताको लेकर प्रतीकवादका ज़िक्र भी ज़रूरी हो जाता है। बहुत-से आलोचक इस कविताको इस पूर्वाग्रहके आधारपर पतनोन्मुखी, अति अहंवादी, असामाजिक तथा अस्पष्ट कहते हैं। फ्रान्सकी जिस सामाजिक स्थितिमें प्रतीकवाद तथा अन्य घोर व्यक्तिवादोंका जन्म हुआ था उससे इस देशकी स्थिति नितान्त भिन्न है। साधारण असन्तोष और निराशासे उस युगकी घोर असामाजिक आत्महन्ता प्रवृत्तियोंकी तुलना नहीं की जा सकती। बौद्धिक दृष्टिसे इन कवियोंका प्रभाव आजके कुछ कवियोंपर माना जा सकता है, पर यह भी विशेष महत्त्वका नहीं। फ़्रान्सके प्रतीकवादियोंमें वर्लेनने रोमैण्टिक कल्पनाओंको बौद्धिक माना है। उसने शुद्ध अनुभूतिको कल्पना-बिम्बोंके माध्यमसे व्यक्त किया है। वह अभिव्यक्तिको आकस्मिक तथा अनुभूतिको निरुद्देश्य मानता है। बिम्बोंके द्वारा वह मनके गूढ़ कल्पनाओंको और अनुभूतिकी गहन घाटियों तक पहुँचनेका दावा करता है। कल्पना-जगत्‌में सदा विचरनेवाला आर्थर रिम्बो भी इस अनुभूतिको आकस्मिक मानता है। जिस प्रकार पत्थर फेंकनेसे पानीमें लहरियाँ उठती हैं, उसी प्रकार जीवनकी आकस्मिक थर्राहट ही

वास्तविक अनुभूति है। कविका काम इसकी व्याख्या करना नहीं है, वह तो केवल संकेतोंमें उसे व्यक्त कर दे। उसने संगीतसे प्रभाव ग्रहण किया है। इस प्रकार कविता अर्थ लगानेकी वस्तु नहीं, वरन् उसकी कल्पनाओंका अनुभव करना चाहिए। मेलार्मेने यथार्थ संसारसे भिन्न आवेशमय 'विशुद्ध संसार' स्वीकार किया है। पाल वलेरी और भी अधिक व्यक्तिवादी था। उसने 'विशुद्ध ध्वनि' का सिद्धान्त अपनाया है। इस प्रतीकवादी कवितामें भाषा-शैलीकी दृष्टिसे विद्रोही स्वर था। प्रतीकवादियोंके अनुसार साधारण भाषा और उसके शब्द कविताके लिए उपयुक्त नहीं हैं। इसलिए इस कविताने साधारण उपकरणोंको छोड़ रहस्य, संकेत तथा प्रतीकोंका आश्रय लिया है। भाषाका महत्त्व अर्थ व्यक्त करनेके लिए कम रह गया और संकेतोंके लिए अधिक। प्रचलित छन्दकी संगतिसे इन्होंने चेतनाके एक स्थानपर ठहर जानेका भय माना। इनके अनुसार जब वस्तुओंका बिम्ब कल्पनामें सीधा पड़ता है और अपनी चमक फैलाता है, उस समय उसकी अभिव्यक्ति मुक्त छन्दोंमें ही सम्भव है। इन प्रतीकवादियोंका जीवन-दर्शन आजके कविसे भिन्न है, यत्र-तत्र भाव-साम्य अन्तर्मुखी प्रवृत्तिके कारण सम्भव हुआ है। शैलीगत साम्य किंचित् विशेष है और जो आजकी विषम मानसिक स्थितिकी अभिव्यक्तिके लिए आवश्यक है। प्रतीकवादियोंने युरॅपके काव्यको एक सशक्त शैली अवश्य दी है और हम अपने प्रयोग-शील कवियोंसे भी यह आशा कर सकते हैं। प्रतीकवादके बाद घनवाद, भविष्यत्वाद, दादाइज़्म आदिमें घोर व्यक्तिवादी प्रवृत्तियोंने समाज, भेद-भाव, स्मृतियों, भविष्य तथा तर्कको मिटा देनेका संकल्प किया। इनका विध्वंसक स्वर अतिशय समाज-विरोधी था। आगे चलकर अति-यथार्थवाद तथा अस्तित्ववादमें व्यक्तिवाद अपने चरम नग्न-रूपमें सामने आ जाता है। अतियथार्थवादमें सभी प्रचलित आदर्शों तथा मर्यादाओंके प्रति विद्रोह है; इसपर मनोविश्लेषणकी शैलीका प्रभाव है। इस कारण जीवनके आन्तरिक समुद्रकी सबसे अन्धकारपूर्ण गहराइयोंकी खोज इसमें है। अस्ति-

त्ववादीमें आत्मविश्वास विशेष है, इस कारण वह आशान्वित है; पर व्यक्तिवादी होनेके कारण इसने भी संसारको नग्न-रूपोंमें उपस्थित किया है। इन वादोंका प्रभाव आजकी कवितापर नहींके बराबर है। वास्तवमें हमारे कवियोंका सम्बन्ध इलियट, एज़रापाउण्ड, ओडेन तथा स्पैण्डरसे अपेक्षाकृत अधिक है और इन अँगरेज़ी कवियोंने फ़्रान्सके विभिन्न वादोंका प्रभाव किंचित् भिन्न रूपमें ग्रहण किया है; यह प्रभाव भावका कम शैलीका अधिक है। इस प्रकार इन विभिन्न वादियोंको अतिवैयक्तिकता तथा असामाजिकताका आरोप हमारे कवियोंपर बिना विचार किये करना अनुचित है।

आजके नये कवियोंमें कोई भी इस कोटिका असामाजिक व्यक्तिवादी नहीं है, जिस कोटिके कवि और कलाकार युरॅपके पिछले युगसे ही भिन्न वादोंके अन्तर्गत हुए हैं। युरॅपमें १८५० ई० के बाद ज्ञान-विज्ञानके क्षेत्रमें भारी परिवर्तन हुए हैं। डारविन, फ्रॉयड तथा मार्क्स आदिने पुरानी आस्थाओंको जड़-मूलसे हिला दिया है। भौतिक-विज्ञानकी उन्नतिसे युरॅप चमत्कृत हो गया। इसी बीच अनेक संहारक युद्ध तथा क्रान्तियाँ हुईं। इन सब बातोंका प्रभाव वहाँके काव्यके अनेक रूपोंमें देखा जा सकता है। जो बात युरॅपमें क्रमशः हुई है, वह हमारे युगके सामने जैसे एकाएक उपस्थित हो गयी है। परन्तु परिस्थितिकी यह समानता वास्तविकसे अधिक आभास-मात्र है। एक तो हमारे देशकी परिस्थिति भिन्न है और दूसरे ये सब विचार युरॅपके बाद यहाँ आये हैं, इस कारण इनका प्रभाव कम हो चुका है। फिर भी इन सभी नवीन विचारों तथा बदले हुए आदर्शोंकी पीठिकापर इस काव्यमें वस्तु-सत्यको या शैलीको लेकर अनेक प्रवृत्तियाँ युरॅप तथा इंग्लैण्डके पिछले काव्यके समान मिल जायें तो आश्चर्य नहीं। इस काव्यमें विचारोंका तीव्र संघर्ष, भावोंका संकुलित उलझाव, अचेतनके प्रभावोंका वर्णन मिलता है। उसी प्रकार इसमें नवीन अनुभूतियों, सत्यों तथा विचारोंको व्यक्त करनेके लिए पुरानी व्यंजना-

शैलीक प्रति विद्रोह है। पर घोर व्यक्तिवादी दृष्टिकोणका वह रूप इन कवियोंमें नहीं है और इसलिए उस सीमाकी असामाजिकता भी इनमें नहीं है। मैं कह चुका हूँ कि युरॅपकी पिछली परिस्थितिसे हमारे देशकी आजकी स्थिति भिन्न है; पर साथ ही यह भी निश्चित है कि पिछली परिस्थितिसे आजकी स्थिति बदल रही है, अब नयी मान्यताओंको निर्धारित करनेकी जिज्ञासा बढ़ गयी है। इस बदलती हुई परिस्थितिके अनुकूल अपनी अभिव्यक्तिका माध्यम खोजना आजके कविके लिए अनिवार्य है। आजके युगमें पुरातन साधारणीकरणकी स्थिति बदल गयी है। व्यक्ति और समाजकी प्रतिक्रियाओंको व्यापक आधार देना ही साधारणीकरण है और कविता केवल रसकी सिद्धि नहीं ढूँढ़ती, वरन् मनको संवेदन-मात्रका प्रभाव देकर भी सिद्ध होती है। भारतीय काव्य-शास्त्रमें भी ध्वनिका सिद्धान्त सर्वमान्य रहा है। यदि जीवन और जगत्‌में नवीन सम्बन्धोंकी स्थिति उत्पन्न हो जायेगी, तो कविको निश्चय ही ध्वनिके रूपमें अर्थ तथा प्रभावकी व्यंजनाके लिए नयी शब्द-शक्ति, नयी व्यंजना-शैली तथा नये छन्द-विधानकी योजना करनी होगी। कवितामें जबतक प्रभावको अधिक संवेदक करनेकी बात स्वीकृत रहेगी, तबतक किसी-न-किसी प्रकारकी छन्द-योजना भी मान्य रहेगी, भले ही वह मुक्त छन्द ही क्यों न हो। मानसिक संवेदनाओं, प्रभावों तथा तीव्र विचारोंको एक साथ अभिव्यक्त करनेके लिए मुक्त-छन्दोंका प्रयोग अनिवार्य हो गया है।

आजका साहित्य केवल अभिव्यक्तिके सौन्दर्य-मात्रको अपना लक्ष्य मानकर नहीं चल सकता। वह अधिक गम्भीर सामाजिक उत्तरदायित्वके निर्वाहका हामी है। यह इस बातसे सिद्ध होता है कि आजका कोई कवि व्यक्तिवादको घोषित करके स्वीकार नहीं कर रहा है। इसके अतिरिक्त वह सामाजिक प्रेषणीयताको मान्यता देता है। मनुष्यके लिए उसके आनन्दकी उपलब्धि बड़ी हो चाहे न भी हो, पर उसकी निजकी सामाजिक स्थिति अधिक सत्य है, यथार्थ है। आज प्रश्नके इस अंशको छोड़नेवाला व्यक्ति

या तो अपनी दमित कुण्ठाओंसे पागल माना जायेगा या अपने अहंकारमें आत्म-विस्मृत। सामाजिक प्रयोजन तथा वर्गहीन समाजके आदर्शको लेकर चलनेवाले नये प्रगतिशील कवियोंका उल्लेख किया गया है। पर दुर्भाग्यसे जैसा कहा गया है कुत्सित समाजवादी विचारको तथा आलोचकोंसे प्रभावित रहनेके कारण वे मार्क्स तथा लेनिनकी साहित्यकी यथार्थवादी समाजशास्त्रीय व्याख्याके वास्तविक अर्थको समझनेमें असमर्थ रहे हैं। प्रोक्रोवास्की, अवरवाख तथा प्लैखनाव आदि संकीर्ण समाजवादी विचारकों तथा आलोचकोंने रूसी साहित्यको संकीर्ण और रूढ़िवादी सीमाओंमें बाँध दिया था। इनके प्रभावमें साहित्य अपनी समस्त शक्तिशाली परम्परासे विच्छिन्न हो गया। पर रूसमें यह स्थिति बहुत दिन तक नहीं रह सकी। जिन परिस्थितियोंमें सर्जी येसेनिन-जैसे भावुक और कोमल कविको आत्म-हत्या करनेपर बाध्य होना पड़ा था और जिनका बोझा अन्तमें मॉयकावस्की-जैसे कविके लिए असह्य हो गया, उनका निराकरण रूसमें शीघ्र ही होना शुरू हो गया। फ़्योडोर लेनिन, मार्क रोज़ेन्थाल तथा माइकेल लीफ़शित्स आदि आलोचकोंने संकीर्ण वर्गवादियोंका तीव्र विरोध किया और उन्होंने स्वस्थ समाजवादी यथार्थकी व्याख्या की। गोर्कीने अपने जीवन और साहित्यमें इसी विचारधाराका पोषण किया है। इस व्याख्याके अनुसार परम्पराको स्वीकार किया गया, स्वस्थ रोमैण्टिक भावनाको ग्रहण किया गया, इसी कारण आज रूसमें पुश्किन तथा तॉल्स्तॉयका महत्त्व स्वीकृत हुआ। इधर कुछ प्रगतिवादी आलोचकोंने संकीर्ण समाजवादियोंका विरोध किया है और साहित्यको नवीन मान्यता देनेका प्रयत्न किया है। पर यहाँ एक बातकी ओर संकेत कर देना आवश्यक है। प्रगतिशील कहलानेवाले कवि देशके वास्तविक यथार्थसे अपरिचित रहे हैं, पर उनकी कविताका महत्त्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इनकी स्थितिसे आजकी कविता-की घोर व्यक्तिवादी तथा असामाजिक प्रवृत्तियोंके विकासमें बाधा पहुँची है, इस प्रकार इन्होंने सन्तुलनका काम किया है।

अन्तमें उस परम्पराकी ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है, जो अभी स्पष्ट रूपसे सामने नहीं आयी है, पर जो गति और शक्तिका परिचय छायायुगके बादसे देती आ रही है। इस वर्गके कविने छायावादी शैलीके सशक्त तत्त्वोंको ग्रहण करके शुद्ध रोमैण्टिक काव्यका प्रारम्भ किया था। प्रगतिवादसे समाजवादी यथार्थकी उदार दृष्टि ग्रहण कर इन्होंने देशकी वास्तविक समस्याओंको जीवनकी भावशीलताके आधारपर ग्रहण किया है। इन कवियोंने समस्त परम्पराको स्वीकार करके भी लोक-जीवन और लोक-साहित्यसे प्रेरणा ग्रहण करना प्रारम्भ किया है। इस परम्परामें प्रयोगशील तथा प्रगतिशील दोनों वर्गके कवि आ जाते हैं। युरॅपमें भी इसी प्रकार लुई अरागाँ, पॉल एलुआर्द, पाँवलो नेरूदा, लोर्का, ओडेन तथा स्पैण्डर आदि कवियोंने अपना मार्ग संघर्षके बीचसे निकाला था। इस दृष्टिसे विचार करनेपर नयी कवितासे शंकित अथवा निराश होनेकी बात नहीं है। यद्यपि ये अभी बहुत कुछ अपने व्यक्तित्व तथा अहंसे उलझे हुए जान पड़ते हैं, पर इनके मनमें जीवनके स्वस्थ मार्गको खोज निकालनेकी उत्कट इच्छा है। वे भाषा और शैलीको नये युगके अनुकूल बनानेका प्रयास कर रहे हैं जो आगत युगकी भावनाओंको सहज रूपसे वहन कर सकेगी। इस प्रकार नवीन काव्यकी सम्भावनाओंके प्रति हम पूर्ण आस्थावान् हैं और अपने युगकी प्रतिभाओंके प्रति हमको पूरा भरोसा है।

स्वातन्त्र्योत्तर काव्यकी दिशा

सोलह वर्ष पहले देश स्वाधीन हुआ है, और ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना राष्ट्रके इतिहासमें हज़ारों वर्षोंमें घटित होती है। साहित्यके इतिहासका अन्वेषक जब ऐसी घटनाओंको अपने अध्ययनकी सीमा-रेखा बनाता है, तब उसका मन अनेक सम्भावनाओंसे आन्दोलित रहता है। हमारे लिए इस स्वाधीनताका दोहरा अर्थ रहा है, एक ओर हम विदेशी साम्राज्यवाद-से स्वतन्त्र हुए तो साथ ही हमने अपने राज्यतन्त्रसे प्रजातन्त्रमें प्रवेश किया है। स्वाधीनता-प्राप्तिकी यह घटना दो कारणोंसे हमारे-द्वारा सहज रूपसे ग्रहण नहीं की जा सकी। दूसरे महायुद्धके बाद हमारे देशके लिए यह स्वाधीनताकी उपलब्धि बहुत कुछ आकस्मिक रही है, देशकी जनता-को इस बातपर विश्वास नहीं था। इसके अतिरिक्त देश-विभाजनकी स्थितिसे सम्बद्ध रक्तपात, उत्पीड़न, अत्याचार, अमानुषिक व्यवहारने हमारी सारी संवेदनाओंको कुण्ठित और विजड़ित कर दिया था। ऐसी स्थितिमें हम अपनी स्वाधीनताका स्वागत मुक्त मनसे नहीं कर सके, और न हम उस सहज उल्लासका ही अनुभव कर सके जो सम्भव था। पर किसी रूपमें क्यों न हो, राष्ट्रके लिए यह अत्यन्त महत्त्वकी घटना थी और इसकी प्रतिक्रिया हिन्दीकी विस्तृत काव्यधारापर होनी अनिवार्य थी। अनेक मनोवृत्तियों तथा परम्पराओंके कवियोंपर इसका प्रभाव विभिन्न प्रकारसे पड़ा। द्विवेदी-युगीन पुनरुत्थानका भावनासे अनुप्राणित कवियोंने इसका स्वागत इस रूपमे किया कि भारतके गत वैभवका युग वापस आनेवाला है और वे अपने-अपने आशीष-वचनोंके साथ विजयका आलिंगन करनेवाले सेनानियोंका विजयघोष करनेके लिए प्रस्तुत हो गये

हैं। उनके रामराज्यमें राजा और प्रजाकी स्थिति इस प्रकार निश्चित है कि वे राजापर सारे रामराज्यकी व्यवस्थाका भार सौंपकर निश्चिन्त हो जाते हैं। उनसे इससे अधिककी आशा करना व्यर्थ भी था। ये कवि कवि-कर्ममें संलग्न रहकर भी युग-जीवनकी धारासे बहुत पहले कट चुके थे।

छायावादी धाराके कवियोंने भी स्वाधीनताको एक आदर्श उपलब्धिके रूपमें स्वीकार किया है। पन्तने भारतकी स्वाधीनताको जन-जागरणके रूपमें लिया है और उसे मानवके ऊर्ध्व संचरणकी एक स्थितिके रूपमें स्वीकारा है। उनके अनुसार मानव इतिहास चेतनाके जिन उच्च स्तरोंकी ओर अग्रसर हो रहा है, उसकी यह भूमिका है :

ओ जन युग की नव ऊषाओ,
आओ, नव क्षितिजों पर आओ !
स्वर्गिक शिखरों के प्रकाश में
भू के शिखरों को नहलाओ !

[अतिमा : आवाहन]

यही कारण है कि पन्तको युगके अनिश्चय, विभ्रम, द्विविधा तथा कटुता स्वर्णिम आशावादसे विचलित नहीं कर पाते और उनको 'नेहरू-युग' 'गान्धी-युग' का नया संचरण ही जान पड़ता है :

गान्धी युगके सूक्ष्म कुहासे से बढ़
प्रौढ़ यन्त्र युग के मारुतिगति चक्रों पर बढ़,
उतर रहा लो, मूर्त रूप धर
जन समाजवादी धरती पर
नेहरू युग, निर्धूम अग्नि-सा उज्ज्वल,
पावन शीतल !

कवि अपने युगको समझ सका है और इसे आत्मविश्लेषणकी ईमान-दारी कहा जा सकता है। गान्धीवादी युग जिस प्रकार सूक्ष्म कुहासेका

युग था, उसी प्रकार छायावादी युगका काव्य सूक्ष्म कुहासेमें आदर्श स्वप्नोंकी रचना करता था। परन्तु कठिनाई यह है कि पन्त मानवीय चेतनाके जिस स्तरपर संचरण करते हैं, उसमें इतना अधिक प्रकाश है कि हमारे युग-जीवनका सन्दर्भ और उसका यथार्थ दोनों ही उसकी चकाचौंधमें ओझल हो जाते हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी-जैसी छायावादके अन्तर्गत राष्ट्रवादी कवियोंने स्वाधीनताका आवाहन आदर्शवादी उन्मेषके साथ किया है। जिस स्वरमें वे देश-प्रेमके गीत गाते थे, स्वाधीनताके बाद उनमें देश-गौरवका वही भाव मुखरित हुआ है :

उठ पूरब के प्रहरी, पश्चिम जाँच रहा घर तेरा !
साबित कर, तेरे घर पहले होता विश्व सवेरा।
तुझ पर पड़ जो किरणें जूठी
हो जातीं, जग पाता,
जीने के ये मन्त्र सूर्य से—
सीखो भाग्य - विधाता।

उनके लिए देश 'माँ' की कल्पनाका एक प्रतीक था, और वीर-पूजाकी भावना उसकी मूल प्रेरणा रही है। इसी आदर्श भावनाके परिणामस्वरूप उनके लिए विभाजनके समयकी सम्पूर्ण नृशंस और अमानवीय घटनाएँ भारतके खण्डित अथवा अखण्डित रहनेकी समस्यामें उलझ गयी हैं :

लाल क़िले का झण्डा हो
अंगुलि-निर्देश तुम्हारा,
और कटे धड़ वाला अर्पित,
तुम को देश तुम्हारा।

[युगचरण : मुक्त गगन है मुक्त पवन]

इसी प्रकार गान्धीकी हत्या हमारे देशके लिए बहुत बड़े आत्म-मन्थनकी अपेक्षा रखती थी। वह किसी मसीहाको मसीहाई दिलानेवाली घटना न होकर देशके लिए बहुत बड़े आन्तरिक संघर्ष झेलनेकी चुनौती थी। किन्तु पिछले युगके सभी कवियोंने बापूको जिस अवतारी रूपमें देखा था, उसका सहज परिणाम यह भी है कि उनकी हत्याको एक मसीहाई गरिमासे अधिक महत्त्व नहीं दिया गया :

मत कहो वह रह गया श्मशान बन कर,
आज वह घर-घर रमा भगवान् बन कर।

[युगचरण : आज झोपड़ियाँ अनन्त सुहागिनी हैं]

परन्तु छायावादी भावभूमि तथा उससे प्रेरणा ग्रहण करनेवाली उत्तर-युगीन मानवतावादी भावभूमिने गान्धीको इसी प्रकार अवतारी-पुरुष रूपमें ग्रहण ही किया था, जो वीरपूजा तथा आध्यात्मिक पलायनकी सम्मिलित उपलब्धि है। पन्तकी 'बापूके प्रति' और दिनकरकी 'बापू' नामक कविताओंके भाव-साम्यको देखा जा सकता है। यद्यपि दिनकरकी कवितामें भावावेश तथा ओजस्विताके साथ परिस्थितियोंकी कल्पना उसे अधिक उत्कृष्ट काव्य-गुण प्रदान करती है, पर युगके समस्त गुणोंके आदर्शीकरण तथा देशके और मानवताके उद्धारकी एक मात्र आशाके रूपमें बापूका चित्रण समान रूपसे दोनों कविताओंमें हुआ है :

तुम शुद्ध-बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण ! हे चिर नवीन !
तुम पूर्ण इकाई जीवन की,
जिसमें असार भवशून्य लीन,
आधार अमर, होगी जिस पर
भावी की संस्कृति समासीन !

[पन्त : युगान्त]

दिनकरकी भावना इसके अति निकट है :

तू कालोदधि का महास्तम्भ, आत्मा के नभ का तुंग केतु,
बापू ! तू मर्त्य-अमर्त्य, स्वर्ग-पृथ्वी, भू-नभ का महासेतु।
[चक्रवाल]

ये दोनों कविताएँ स्वतन्त्रतासे पूर्वकी हैं, पर इनमे छायावादी युगकी वह मनोवृत्ति अन्तर्निहित है जिसके कारण आज गान्धी युगकी गत्यात्मक और विस्फोटक शक्तिके रूपमें स्वीकृत न रहकर केवल श्रद्धा और समर्पणके उपलक्ष्य रह गये हैं।

स्वाधीनता प्राप्तिकी महान् घटनासे कई प्रकारके कवि विभिन्न कारणोंसे अप्रभावित भी रहे। प्रगतिवादियोंने तो इसे देशकी वास्तविक स्वतन्त्रताके रूपमें तब माना ही नहीं। छायावादी युगकी मुक्तधाराके बच्चन, नरेन्द्र तथा नवीन आदि कवियोंने देशके लिए आशीर्वादस्वरूप इसे स्वीकार कर इसकी अभ्यर्थना की है। इनका प्रायः यही भाव है कि देश स्वतन्त्र हो गया तो और सब अपने-आप हो जायेगा, इसी कारण ये उसका अभिनन्दन करते ही देखे जाते हैं :

किन्तु अब तिमिरमयी निशा चली गयी,
शापमुक्त पापमुक्त, हो रही मही!
तिमिर-क्रोड़ फोड़ भानु भासमान रे—
नव विहान, नव निशान, भारती नयी !
[नरेन्द्र : अग्नि शस्य]

नव्य स्वच्छन्दतावादी गीतकारोंमें स्वाधीनताके प्रति ऊपरसे असम्पृक्त भाव ही दिखाई देता है, यद्यपि उनके आशा, निराशा, प्रेम, व्यथा-सम्बन्धी भावावेशोंमें इसका प्रभाव ढूँढ़ा जा सकता है। सम्भवतः इन कवियोंकी मुक्त प्रकृतिके यह प्रतिकूल था कि वे सीधे स्वाधीनताकी घटनाका अभिनन्दन-वन्दन करते।

परन्तु स्वाधीनताको किसी दायित्वके रूपमें ग्रहण करनेवाले कवि इस समस्त पिछली परम्पराओंके कवियोंसे भिन्न हैं। आवश्यक नहीं है कि इन कवियोंने स्वाधीनता-दिवसको लक्ष्य करके ही कविताएँ लिखीं हों, पर उनमें स्वतन्त्रताके प्रति कठोर दायित्वकी चेतना मिलती है। दिनकर-जैसे कुछ सजग कवियोंमें भी स्वतन्त्रताको लेकर आत्म-मन्थनका भाव देखा जा सकता है :

सबसे विराट् जनतन्त्र जगत् का आ पहुँचा,
तैंतीस कोटि-हित सिंहासन तैयार करो,
अभिषेक आज राजा का नहीं, प्रजा का है
तैंतीस कोटि जनता के सिर पर मुकुट धरो।

[जनतन्त्रका दिवस]

पर कवि अपने भावावेशमें इतना बह जाता है कि उसकी यथार्थ दृष्टि अवरुद्ध हो जाती है। उसके मनमें सिंहासन और राजमुकुटोंका वैभव और उनकी चकाचौंध ऐसी व्यापी हुई है कि वह युगके सन्दर्भसे बिलकुल हट जाता है। इसके स्थानपर प्रयोगवादी परम्पराके कवियोंमें दायित्वका भाव अधिक स्पष्ट है, उनकी दृष्टि देशके यथार्थके अधिक निकट है। गिरिजाकुमार माथुरकी 'पन्द्रह अगस्त' शीर्षक कवितामें स्वाधीनताके बादके खतरोंसे सावधान किया गया है। इस कवितामें मुक्तिका उल्लास तो है, पर दायित्व वहनकी चिन्ता भी है :

ऊँची हुई मशाल हमारी
आगे कठिन डगर है
शत्रु हट गया, लेकिन उसकी
छायाओं का डर है

शोषण से मृत है समाज
कमज़ोर हमारा घर है
किंतु आ रही नयी ज़िन्दगी
यह विश्वास अमर है।

[धूपके धान]

यही दायित्वका भाव अज्ञेयकी 'जनवरी छब्बीस' नामक कवितामें अधिक काव्यात्मक तथा आत्माभिव्यक्तिके रूपमें व्यक्त हुआ है। इसमें उल्लासके भाव।वेगके स्थानपर सुस्थिर चिन्तन और आत्मोपलब्धि है। इसमें राजा, राजमुकुट, सिंहासन-जैसे वैभवशाली उपकरणोंका उल्लेख तो है ही नहीं, साथ ही जनता, जनतन्त्र-जैसे नारोंको भी त्याग कर केवल-वैयक्तिक चिन्तन और आत्म-विवेचनके स्तरपर दायित्वको आधारित किया गया है। सचमुच 'युगोंके स्वप्नको नयी आलोक-मंजूषा समर्पित' करते समय बहुत बड़े संकल्पकी आवश्यकता है :

आज हम अक्लान्त, ध्रुव, अविराम गति से
बढ़े चलने का कठिन व्रत धर रहे हैं
आज हम समवाय के हित, स्वेच्छया
आत्म-अनुशासन नया यह वर रहे हैं।

[बावरा अहेरी]

यहाँ पिछले दस वर्षोंकी काव्य-धारापर विचार करते समय विभिन्न परम्पराओंके कवियोंका स्वतन्त्रता-सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रस्तुत करनेका उद्देश्य है। वस्तुतः हिन्दी काव्यके विस्तार और प्रसारके बीचसे आजकी सच्ची युग-धर्मी काव्यधाराको पहचाननेमें इससे सहायता मिलती है।

छायावादी काव्य एक विशेष युगकी मनःस्थितिसे सम्बद्ध रहा है, उसकी सम्पूर्ण उपलब्धि और उसकी सारी सीमाएँ अपने युग-जीवनके

सन्दर्भमें ही विकसित हो सकी हैं, उसकी आत्मानुभूति, सौन्दर्यबोध, जिज्ञासा, विस्मय और प्रकृतिके प्रति सर्वचेतनवादी दृष्टिकोण, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक विद्रोह तथा उन्मुक्त प्रेमकी प्रवृत्तियाँ स्वच्छन्दवादी आन्दोलनके समान हैं। प्रथम महायुद्धके बाद गान्धीके नेतृत्वमें हमारा स्वाधीनताका संघर्ष इस भाव-भूमिको प्रस्तुत करनेमें सहायक हुआ था। परन्तु इसके साथ ही देश जिन सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियोंसे गुज़र रहा था, उनके परिणामस्वरूप इस युगके काव्यने भारतीय नवजागरणके तत्त्वोंको भी आत्मसात् किया है, जिसके कारण इसमें भारतीय सांस्कृतिक उद्बोध, दार्शनिक आध्यात्मिक चिन्तन, राष्ट्रीयताके साथ विदेशीपनके प्रति विद्रोहकी भावनाका विकास सम्भव हो सका है। गान्धीवादी राजनीति अपने अन्तर्गत भारतीय धर्म और समाजकी परम्पराओंको स्वीकार करके चली है, शुद्धतावादी नीति अन्ततः परम्परा और रूढ़िकी स्वीकृतिपर आधारित होती है। गान्धीके सामने विदेशी शक्तिसे संघर्ष करनेका सवाल था, और उसके लिए समस्त भारतीय जनताको संगठित करनेकी बात थी। परन्तु उस समय भी समस्या मात्र विदेशी शक्तिको देशसे निष्कासित करनेकी नहीं थी, क्योंकि भारतीय जन-समाज स्वतः इतनी विभिन्न प्रकारकी जड़ताओं, रूढ़ियों और कुण्ठाओंसे विजडित था कि उसकी सारी गति अवरुद्ध हो चुकी थी। इस प्रकार उस समय समस्याके दो पक्ष थे, एक ओर विदेशी शक्ति और दूसरी ओर अवरुद्ध, गतिहीन, कुण्ठित जन-समाज, और साथ ही ये दोनों स्थितियाँ एक-दूसरेपर प्रतिक्रियाशील भी थीं। अब प्रश्न था कि इन प्रतिक्रियात्मक स्थितियोंके बीचसे रास्ता किस प्रकार निकाला जा सके। विदेशी शक्तिसे लोहा लेनेके बाद अपनी ओर मुड़ा जाये अथवा अपने अन्दर विद्रोह तथा विध्वंस करनेके बाद विदेशी शक्तिसे लोहा लिया जाये। तत्कालीन इतिहासको देखनेसे इन दोनों ही विचार-धाराओंके प्रतिनिधि इस युगमें मिल सकेंगे।

परन्तु उस समयका हमारा संघर्ष प्रमुखतः विदेशी-शक्तिकी ओर

उन्मुख हो गया। जन-जीवनको संगठित तथा प्रेरित करनेके लिए जनताके विवेक, तर्क, निर्णय-बुद्धि तथा सन्तुलनको विकसित करनेकी अपेक्षा उनमें भावावेग, कल्पना, श्रद्धा, समर्पण आदिको जगाया गया; और इस सबके प्रतीक उस समयके हमारे नेता बन गये। जैसा कहा गया है, श्रद्धा और वीर-भावनाके संयोगसे इस युगमें अवतारी पुरुषोंकी कल्पना की गयी। जनताके लिए यह सब ग्रहण करना आसान था, एक तो इस सबको स्वीकारनेमें उनके पिछले संस्कार सहयोगी थे, दूसरे इसमें आत्म-विद्रोह और मन्थनकी पीड़ासे बचनेकी सुविधा भी थी। इस भावनासे गान्धी जन-जीवनको एक शक्तिके रूपमें संगठित तथा संचालित तो कर सके, पर ऐसा नहीं है कि उनको समय-समयपर इस बातका अनुभव न हुआ हो कि जन-जीवन जिन सड़े-गले संस्कारोंको लेकर जी रहा है, जिन रूढ़ियों तथा कुण्ठाओंमें उसका जीवन ग्रसित है, वे उनके मार्गको सबसे बड़ी बाधाएँ बन-बन जाती हैं। अनेक बार उनको युद्ध स्थगित करना पड़ा था, अनेक बार उनको आत्म परिष्करणके लिए व्रत करना पड़ा था, यह इस बातका निर्देशक है। पर फिर भी युगके विशिष्ट व्यक्तित्वों तथा गान्धीके व्यक्तित्व-के आकर्षणसे जन-जीवनका नेतृत्व चलता रहा और अनेकानेक विरोधी तथा असंवादी स्तरके लोग स्वातन्त्र्य संग्राममें कन्धेसे-कन्धा मिलाकर भाग ले सके। हिन्दीका छायावादी काव्य इसी युगकी मनोवृत्तिका प्रतिनिधित्व करता है। जिस प्रकार जनताका जीवन समस्त आदर्श कल्पनाओं, स्वप्नों तथा प्रेरणाओंके बावजूद अन्दरसे खोखला और बौना था, उसी प्रकार इस काव्यका सारा सौन्दर्य, सारी कल्पना, सारे आदर्श वायवी रहे हैं। जिस प्रकार जनताके जीवनका सारा अध्यात्म, भक्ति, समर्पण, आन्तरिक आस्था तथा विश्वासपर आधारित न होकर मात्र बाह्य आकर्षण और चमत्कारसे प्रेरित थे, उसी प्रकार छायावादका सारा रहस्यवाद, आनन्दवाद, मानवतावाद अन्तः अथवा बाह्य यथार्थके सन्दर्भसे हीन, मात्र खोखला था।

इस शताब्दीके चौथे दशकके उत्तरार्द्ध तक इस स्थितिका विरोधाभास दिखाई भी देने लगा था। मार्क्सवादी तथा समाजवादी विचार-धाराओंने इन असंगतियोंकी ओर ध्यान आकर्षित करना प्रारम्भ किया था। परन्तु जिन लक्षणोंकी ओर इनका ध्यान गया वे ऊपरी थे। असंगतियों तथा विरोधाभासोंकी आन्तरिक प्रक्रियाको न समझ सकनेके कारण ही प्रगति-शील आन्दोलन वास्तविक यथार्थ दृष्टि तथा उससे प्रेरित शक्तिका परिचय नहीं दे सका, वह विदेशी विचार-धारा और नारोंमें उलझकर अपनी वास्तविक जनताकी भाव-भूमिको स्पर्श नहीं कर सका। फिर भी यथार्थकी ओर देखनेके आग्रहकी आवाज़ इन्होंने अवश्य उठायी थी, यही कारण है कि एक बार इनकी ओर हिन्दी साहित्यके सभी प्रमुख लेखकों और कवियों-का ध्यान आकर्षित हुआ। पन्त तथा निराला-जैसे छायावादी कवियोंने सामाजिक विषमता तथा शोषणको अपनी कविताका विषय बनाया। यह बात दूसरी थी कि किस कविने किस स्तरपर और किस भाव-बोधके साथ इसको ग्रहण किया है। पन्तने बौद्धिक सहानुभूति अधिक दी है, पर निराला-ने मुक्त रहकर भी अधिक क्रान्तिकारी स्वरका परिचय दिया है। इन्होंने जिस शक्तिके साथ सामाजिक विरोधाभासको अपनी इस बादके युगकी कविताओं (बेला, नये पत्ते तथा कुकुरमुत्ता) में व्यक्त किया है, उसी प्रकार इन्होंने भाषा तथा छन्दोंके रूपके सम्बन्धमें विद्रोह किया है। पन्तका 'ग्राम्या' तथा 'युगवाणी' में प्रगतिशील जीवन-दर्शनके प्रति सैद्धान्तिक सहानुभूति ही अधिक है और उसमें भी वह अपने छायावादी समन्वयको नहीं छोड़ सके हैं।

दूसरे महायुद्धके प्रारम्भ होनेके पूर्व ही, जब अनेक प्रान्तोंका शासन कुछ कालके लिए काँग्रेस मन्त्रिमण्डलके हाथ आ गया था, देशके सामने स्वाधीनता-संग्रामके अन्तर्गत स्वीकृत विरोधी तत्त्वोंका रूप उभरने लगा था। परन्तु उसी बीच सारा संसार महायुद्धकी भयानक छायामें आ गया, और देशने देखा स्वाधीनताका जो हलका सपना झलक रहा था, वह भी

ओझल हो गया, साथ ही उसे अपनी असमर्थता तथा दयनीयताका बोध हुआ। देशने देखा, संसारके सन्दर्भमें असहयोग, अहिंसा, सत्याग्रह-जैसे उज्ज्वल सिद्धान्त थोथे हैं, देशोंकी मदान्ध शक्तियोंके सामने हम कितने अकिंचन हैं। यहीं पता लगता है कि जनताके जीवनको श्रद्धा और भक्तिके कुहासेमें जो सत्य और अहिंसाका सम्बल दिया गया था, वह उनके लिए कुहासेके मिटते ही ओझल हो सकता है। ऐसी स्थितिमें एक ओर प्रगतिशील विदेशी नीतिसे परिचालित होकर संसार-व्यापी युद्धके प्रति अपना दृष्टिकोण निर्धारित करनेमें ही लगे हुए थे, तो दूसरी ओर उत्तर छायावादी कालके अनेक कवि तथा गीतकार घोर नियतिवाद, निराशावाद, अहंवाद, अराजकतावाद तथा असामाजिक प्रवृत्तियोंसे पीड़ित तथा शासित थे। उनके लिए देशके सारे उथल-पुथल, आन्दोलन निरर्थक रहे। बंगालका अकाल तथा १९४२ की जनक्रान्ति-जैसी घटनाओंसे ये दोनों वर्ग विभिन्न कारणोंसे अछूते रहे।

जिस सामाजिक तथा राजनीतिक भावभूमिमें छायावादी काव्यकी प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई, उसकी कई परिणतियाँ सामने आयीं। प्रगतिशील आन्दोलनके सामाजिक यथार्थके आग्रह और उसकी असफलताकी ओर संकेत किया गया है, यद्यपि भाषा तथा अभिव्यक्तिके क्षेत्रमें इसकी अपनी उपलब्धियाँ भी हैं। दूसरी प्रतिक्रियाके विषयमें भी कहा गया है, ये कवि मुक्तभावसे अपने निजी दुःख-सुख, प्रेम-विरह, निराशा-अवसाद, ऐन्द्रियता तथा मधुचर्यामें व्यस्त हो गये। परन्तु एक तीसरी प्रकारकी प्रतिक्रिया भी हुई जिसको प्रयोगवादके नामसे बादमें पुकारा गया है। यद्यपि इन तीनों प्रतिक्रियाओंका रूप कहीं-कहीं उलझा हुआ है और कई कवियोंमें दो प्रकारकी प्रतिक्रिया एक साथ देखी जा सकती है, पर इनकी दिशाएँ स्पष्टतः अलग हैं। आगे आनेवाले युग और उसकी संवेदनाओंकी दृष्टिसे प्रयोगवादी प्रतिक्रिया सबसे महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह मात्र प्रतिक्रिया न रहकर काव्यकी एक सशक्त धाराके रूपमें (नयी कविता) प्रस्तुत युगमें

प्रवाहित हुई है। प्रयोगशील कवियोंको परम्परावादी तथा प्रगतिशील दोनों वर्गके आलोचकोंकी कटु आलोचना सहनी पड़ी है। इन कवियोंको दुरूह संस्कृति-च्युत, चौंकानेवाले, नक़्क़ाल, परम्परा-विरोधी, असामाजिक, व्यक्तिनिष्ठ, शिल्पवादी, बुद्धिवादी तथा केवल तृष्णाको उपलब्धि माननेवाला कहा गया है। परन्तु काव्यक्षेत्रके इन प्रयोगशील अन्वेषियोंने व्यक्तिगत निष्ठा तथा ईमानदारीके साथ अपने युग-जीवनके यथार्थको देखनेका प्रयत्न किया है और उसे नये परिप्रेक्ष्य, सौन्दर्यबोधके नये धरातल तथा संवेदनाओंके बाह्य और आन्तरिक तादात्म्यके रूपमें अभिव्यक्त किया है। वस्तुतः स्वतन्त्रता प्राप्तिके समयसे काव्यके क्षेत्रमें आधुनिकताका जो दृष्टिकोण अधिकाधिक स्पष्ट होकर विकसित हो रहा है और नये मूल्योंकी उपलब्धि कर रहा है, उसको भूमिका प्रयोगकालीन कवियोंकी बौद्धिक जागरूकता, आत्मान्वेषणकी प्रवृत्ति, वैज्ञानिक दृष्टि तथा युगके विघटित मूल्योंके प्रति अनास्थामें देखी जा सकती है। वास्तवमें प्रयोगशील कहलानेवाले कई प्रमुख कवि आज नयी कविताके साथ हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्तिके समय देशकी मनःस्थिति अस्थिर रही। यही नहीं कि विभाजनके परिणाम बहुत कुत्सित तथा बीभत्स रूपमें हमारे सम्मुख थे, वरन् ऐसी महान् घटनाको आत्मसात् करने-जैसे चरित्रबलका हममें नितान्त अभाव था। युद्धकी विभीषिकाने सारे संसारके साथ हमारे देशके चरित्रको और भी विघटित किया था। पहले देशकी स्वाधीनताके संग्राममें जिस चरित्रबलका हमने संग्रह किया था, जैसा कहा जा चुका है, वह आन्तरिक विवेकसे शासित या नियन्त्रित न होकर, केवल भावावेशसे संचालित तथा वीर-पूजाकी भावनासे नियन्त्रित था। ऐसी स्थितिमें हमारी स्वाधीनता देशके जीवनमें बहुत बड़ी संक्रान्तिके रूपमें उपस्थित हुई, वास्तवमें जिससे होकर हम आज भी गुज़र रहे हैं। हमारे देशकी राजनीति और शासन-व्यवस्था जिन हाथोंमें उसके बाद गयी हैं, वे जिस भावावेशसे सदा संघर्षरत रहे थे, उसमें उनको जन-जीवनके वास्तविक यथार्थको

जानने-समझनेका यथेष्ट अवसर नहीं मिला था। जो दृष्टि संघर्ष-युगीन काल्पनिक आदर्शवाद तथा स्वाधीनोत्तर यथार्थका सन्तुलन कर सकती थी, वह बापूकी हत्याके साथ जैसे हमारे सामनेसे ओझल हो गयी। देशके पुराने नेताओंको आज इस बातकी खीझ होती है कि जनतामें योजनाओंके नामपर उत्साह नहीं आता है, देशमें जातिवाद है, सम्प्रदायवाद है, अवसरवादिता है, आदि-आदि। पर उनके सामने आज भी यह यथार्थ स्पष्ट नहीं हो सका है कि किसी नये निर्माणकी उन्होंने भूमिका ही कब तैयार की है। उनकी परम्परा अबतक समन्वय, समझौते और सबको साथ लेकर चलनेकी रही है। उन्होंने उस आत्म-विश्लेषण और आत्म-विवेचनकी पीड़ाको ही कहाँ झेला है, जिसमें न जाने कितना पुराना और परम्पराका, अपनी थातीमें-से तोड़ना-फोड़ना और छोड़ना पड़ता है।

देशकी राजनीतिक तथा सामाजिक स्थितिके समान ही हमारे साहित्य-में आज बहुत अस्थिरता और विभ्रमके चिह्न हैं। देशकी स्वाधीनताके साथ सहज ही हमारे पुराने तथा प्रतिष्ठित नेताओंकी शक्ति और प्रभाव बढ़ा है और देशके भावी निर्माणमें उनका ही हाथ है। दूसरी राजनीतिक पार्टियोंके सामने भी देशके यथार्थसे अधिक शक्ति और शासनका आकर्षण है, यही कारण है कि सम्प्रति यह कह सकना कठिन जान पड़ता है कि किस राजनीतिक दलके हाथमें देशकी भावी व्यवस्था अधिक उन्नतिशील तथा जनहितकी होगी। अवसरवादिता, व्यक्तित्वका विघटन, विवेक-हीनता, स्वार्थपरता, रूढ़िवादिता आदि अनेक दोष आजकी राजनीति तथा समाजमें समान रूपसे देखे जा सकते हैं। आजके हिन्दी काव्यमें वे सभी परम्पराएँ क्रियाशील हैं, जो द्विवेदी-युगसे चली आ रही हैं और उनके अध्ययनके माध्यमसे हम युगके इस जीवनकी प्रतिच्छाया देख सकते हैं। यह ठीक है कि काव्यकी जीवन्त धारासे ये सभी परम्पराओंके कवि बहुत दूर जा पड़े हैं, क्योंकि हिन्दी-साहित्य और काव्य अपने इस संक्रान्तियुगीन दायित्वको न केवल समझ सका है, वरन् उसका वहन भी

कर रहा है। परन्तु प्रत्यक्षमें स्थिति यह है कि काव्यधाराके महत्त्वपूर्ण कवि आज भी लब्धप्रतिष्ठ द्विवेदीयुगीन तथा छायावादी कवि जान पड़ते हैं। परन्तु यह उनकी स्थिति उनकी ऐतिहासिक अनिवार्यताके रूपमें ही स्वीकृत है। आज भी ये कवि प्रायः अपनी पिछली उपलब्धियोंमें जी रहे हैं, यही इनकी थाती है। साहित्यकी वास्तविक काव्यधारा नये हाथोंमें जा चुकी है, ये हाथ कितने ही कच्चे और नौसिखिए क्यों न हों, पर आधुनिक युगकी सारी सम्भावनाएँ इन्हींपर केन्द्रित हैं, नये आनेवाले युगके मूल्योंका उपलब्धिका सारा दायित्व इन्हींके कन्धोंपर है। यह संक्रान्तिका समय सैलाबका समय है, और इस सैलाबमें न जाने कितना विस्तार है, प्रसार है, कितनी-कितनी धाराएँ-उपधाराएँ मिलकर दिशाओं और सीमाओंको प्लावित कर रही हैं। प्लावनके प्रवेगमें कूड़ा-करकट, मैल-कुचैल, खर-पतवार उमड़ता आ रहा है। इस सैलाबमें यह कह पाना कि मुख्य धारा कहाँ है और किधर है, कठिन है। परन्तु सारे तूफ़ानको वास्तवमें झेलनेवाली वही धारा मुख्य होती है जो भविष्यकी नदीकी धारको निश्चित करनेवाली है। और आजकी नयी कविता हिन्दी काव्यकी वही धारा है।

पिछले दस वर्षोंमें लिखे गये महाकाव्योंकी संख्या शायद इतनी निकलेगी, जितनी पिछले किसी दशकमें नहीं है। ऐसा नहीं कि इनमें-से किसीके द्वारा स्वाधीनताके उपरान्त देशकी युगीन समस्याओंको स्पर्श किया गया हो। ये सरकारके द्वारा पुरस्कृत होनेका सम्मान अवश्य पा सके हैं, पर कदाचित् इनका इससे अधिक कुछ महत्त्व है भी नहीं। इनमें-से अधिकांशमें द्विवेदी-युगके 'प्रियप्रवास'-जैसी वर्तमान युगके अनुरूप चरित्रोंकी उद्भावना भी नहीं की गयी है। 'अंगराज' तथा 'पार्वती'-जैसे महाकाव्य केवल भद्दी अनुकृतियाँ हैं, जो प्रस्तुत युगके सन्दर्भमें उपेक्षित रहनेके लिए ही शायद लिखी गयी हैं। परन्तु गुप्तजीके 'जयभारत' तथा दिनकरके 'रश्मिरथी' न तो इस अर्थमें महाकाव्यकी कोटिमें आते हैं और न ये युग-सन्दर्भसे ऐसे च्युत ही हैं। दोनोंमें अपने-अपने ढंगसे महाभारतके कथानक-

को लेकर युद्ध और शान्तिकी समस्याको उठाया गया है। गुप्तजीने महा-भारतके पात्रोंकी स्थितिको उसी रूपमें स्वीकार किया है, वे मर्यादावादी हैं। परन्तु महायुद्धोंकी विभीषिकाओंने उनके मनमें युद्ध और शान्तिकी समस्याको किसी-न-किसी रूपमें उपस्थित किया है :

केवल इसे कुरु-वंश का ही नाश कहना भूल है,
केशव, हुआ इस युद्ध में यह देश नष्ट समूल है।

गान्धारीके मनमें यह सहज प्रश्न भी आता है :

तुम रोकते तो रोक सकते सहज दुष्कर काण्ड को,
पर फूटना ही था हमारे भाग्य के इस भाण्ड को।

[जयभारत : कुरुक्षेत्र]

परन्तु गुप्तजीके लिए इस भाग्यवादी समाधान और प्रभुके प्रति समर्पणकी भावनाके अतिरिक्त गति नहीं है। वे अन्त तक इस काव्यमें धर्मराजके चरित्रके उन्नयनमें संलग्न रहे हैं, वे उनको काँग्रेस सरकारके समान धर्मराज्य अथवा स्वराज्यकी स्थापनाका प्रतीक मानते हैं और इसके लिए उन्होंने धर्मराजकी सभी कायरताओं और अन्यायोंसे रक्षा करनेका प्रयत्न किया है। गुप्तजीके लिए अपने युगकी सम्पूर्ण विषमताओं तथा विकलांगताओंके बावजूद स्वराज (जो उनकी भावनामें देशी राज्यसे भिन्न नहीं है) धर्मराज्य है और उनकी भक्ति-भावनाके सामने नारायणके प्रति समर्पित हो जाना ही जीवनका परम लक्ष्य है :

सस्मित नारायण प्रकट हुए
"आओ, हे मेरे नर आओ !
जो कुछ है जहाँ, तुम्हारा है,
मुझको पाकर सब कुछ पाओ।"

[स्वर्गारोहण]

गुप्तजीकी भाषा और शैली परिचित है, केवल कथोपकथनकी नाटकीयतामें किंचित् प्रौढ़ता परिलक्षित होती है।

दिनकरके पिछले काव्य 'कुरुक्षेत्र' का स्वर था न्यायके लिए युद्ध करना कर्मयोग है और कायरतापूर्ण शान्ति 'नागिनका विषसे भरा दशन है'। उनका ओजस्वी प्रश्न था :

> पापी कौन ? मनुज से उसका न्याय चुरानेवाला ?
> या कि न्याय खोजते विघ्न का शीश उड़ानेवाला ?

'कुरुक्षेत्र' में अन्त तक कवि न्यायके पक्षसे किये गये युद्धका समर्थन करता है। पर युद्धोपरान्त कविने अनुभव किया है कि युद्धकी कल्पनाके साथ न्याय-अन्यायकी पक्षधरताको निभा पाना सम्भव नहीं रह गया है— "संग्राम धर्मगुणका विशेष्य किस तरह भला हो सकता है ?" साधन और साध्यका विवेक युद्धकी विभीषिकामें कुण्ठित हो जाता है। कौरव-पाण्डवोंके इस युद्धके धर्मयुद्ध रूपपर प्रश्न करना आधुनिक युगका सन्दर्भ है— "सत्पथसे दोनों डिगे, दौड़कर विजयबिन्दु तक जानेमें।" छायावादी कवियोंमें प्रमुखतः पन्त तथा उसके उत्तरकालके मानवतावादी कवि दिनकरने युगके परिवर्तनको पहचाना है और स्वीकार किया है, और यह उनकी दूर दृष्टि तथा संवेदनशीलताका परिचायक है। वरन् अपनी सहज ओजस्विताके कारण युगकी पीड़ा तथा व्यथाको दिनकरने अनेक बार गहराईसे अभिव्यक्त किया है। आधुनिक मनोभावको वे पहचान सके हैं, यह उनके 'चक्रवाल' की भूमिकासे स्पष्ट है : "कविता पुनर्जन्म लेनेकी तैयारीमें है और यह तैयारी नयी कविताके जन्मके पूर्व बहुत काल तक चलनेवाली है। और यह बात मैं इसलिए नहीं कहता कि अपने चारों ओर मुझको कोलाहल सुनाई देता है, मैं उसके प्रभावमें हूँ। सच तो यह है कि आगामी कविताकी दूरागत चाप मुझे अपनी रचनाओंके भीतर सुनाई पड़ी है !···इस संग्रह (नील कुसुम) की विशिष्टता उन कविताओंमें

देखी जा सकती है, जिनका छन्द गद्यकी भंगिमा लिये हुए हैं तथा जिनकी भाषा बिलकुल साधारण बोल-चालकी है। और इन्हीं कविताओंमें भावुकता भी बौद्धिकताके अनुशासनमें चलती है।" पन्तने भी मुक्त भावसे नयी कविताका स्वागत किया है, "नयी कविता विश्व वर्चस्वसे प्रेरणा ग्रहण करके तथा आजके प्रत्येक पल बदलते हुए युग-पटको अपने मुक्त छन्दोंके संकेतोंकी तीव्र-मन्द गति-लयमें अभिव्यक्ति कर युग-मानवके लिए भाव-भूमि प्रस्तुत कर रही है।" यही नहीं 'अतिमा' में ऐसी रचनाएँ भी संकलित हैं जिनकी प्रेरणा युग-जीवनके स्तरोंको स्पर्श करती हुई सृजन-चेतनाके नवीन रूपकों तथा प्रतीकोंमें मूर्त हुई है। हिन्दी काव्यकी इस नयी धाराको पिछले ऐसे महत्त्वपूर्ण कवियोंका समर्थन प्राप्त हो सका है, यह उसकी वेगवती धाराकी शक्तिको प्रकट करता है।

पन्त छायावादी काव्यके प्रमुख उन्नायकोंमें होकर भी तीव्रतासे बदलती हुई विभिन्न काव्य-भूमिओंपर संचरण कर सके हैं और यह कविकी गत्यात्मक शक्तिका परिचायक है। पिछले दस वर्षोंमें उनकी प्रमुख भूमिका अरविन्दके अध्यात्मकी रही है। उन्होंने 'स्वर्णकिरण' तथा 'स्वर्णधूलि' की परम्पराको अधिक प्रौढ़ रूपमें 'उत्तरा' से लेकर 'अतिमा' तक अग्रसर किया है। मानव-चेतनाके ऊर्ध्व संचरण और जन-जीवनसे उसका सामंजस्य, यही उनका प्रमुख सन्देश रहा है जिसे उन्होंने छायावादी शैलीके क्लैसिकल रूपमें अभिव्यक्त किया है। यही सन्देश उनके गीतनाट्योंमें भी सृष्टिकी विराट् कल्पनाके साथ व्यक्त हुआ है। परन्तु उनके इस अध्यात्म-दर्शनने उनकी दृष्टिको युगके कठोर यथार्थको पहचाननेमें बाधा पहुँचायी है। यह उर्ध्व संचरण वायवी भले न हो, पर इतना ऊँचा है कि युगकी भूमिका अपने-आप इसके बहुत नीचे खिसक जाती है। आगत युगोंके प्रति व्यक्तिका कितना ही दृढ़ विश्वास इसके माध्यमसे व्यक्त हुआ हो, पर इस संक्रान्तिके युगकी व्यथा और पीड़ासे यह भावभूमि सन्दर्भहीन है। इसमें झेलनेका दर्द तो है ही नहीं, वह शक्ति भी नहीं जिसके भरोसे आदमी

झेल जाता है। इसी ऊँचाईके स्तरसे पन्तको देशका सारा जीवन भी प्रगतिकी दिशाओंमें बढ़ता दिखाई देता है और वे देशकी वस्तु-स्थितिसे पूर्ण परितोष प्राप्त करते हैं। ऐसा नहीं कि वे युगके सारे विघटनसे परिचित नहीं हैं, पर वे मनुज-चेतनाके आरोहणके निर्भ्रान्त सत्यकी निष्ठाके साथ सब कुछ अपनी बाँहोंमें समेटे हुए हैं :

इसीलिए, मैं शान्ति क्रान्ति, संहार सृजन को,
विजय पराजय, प्रेम घृणा, उत्थान पतन को।
आशा कुण्ठा को, युग के सुन्दर कुरूप को···

[अतिमा : शान्ति और क्रान्ति]

'अतिमा'के अन्तर्गत पन्तकी वे कविताएँ जिनके विषयमें ऊपर निर्देश किया गया है, काव्यकी नयी भावभूमिके निकट हैं। इनमें–सुनजुही, आः; कौए, बत्तखें और मेढ़क; प्रकाश, पतिंगे और छिपकलियाँ; केंचुल; धरती कितना देती है; स्वर्णमृग आदि हैं। यद्यपि कवि इन कविताओंमें साधारण भाषा तथा नये प्रतीकों, रूपकोंकी ओर आकर्षित हुआ है, पर उनके माध्यमसे सन्देश तथा उपदेश देनेकी प्रवृत्ति ही परिलक्षित होती है।

उत्तर छायावादके कवियोंमें दिनकरने स्वातन्त्र्योत्तर युगमें अपेक्षाकृत स्पष्ट दृष्टिका परिचय दिया है। उन्होंने आज़ादीके बादकी देशकी स्थिति-पर दृष्टि डाली है और चलनेवाली विकृतियोंको समझा है। उनकी 'नेता' 'भारतका यह रेशमी नगर', 'नींवका हाहाकार' आदि कविताओंमें युग-सन्दर्भकी हलकी झाँकी अवश्य है :

तोड़ दो इसको, महल को पस्त औ' बर्बाद कर दो।
नींव की ईंटें हटाओ।
दब गये हैं जो, अभी तक जी रहे हैं।
जीवितों को इस महल के बोझ से आज़ाद कर दो।

[नील कुसुम : नींवका हाहाकार]

छायावादी मानवतावादकी जिस भावभूमिपर दिनकरके व्यक्तित्वका विकास हुआ है, उसकी आदर्श भावनाके कारण इस ओर दृष्टि डालकर भी वे न तो देश तथा समाजके जीवनके यथार्थमें अधिक गहरे उतर सके हैं और न उनके मनमें आत्म-मन्थनकी वह स्थिति ही परिलक्षित होती है जो युग-सत्यको धारण करनेके लिए अपेक्षित है। यही कारण है कि 'व्याल-विजय', 'भूदान' 'किसको नमन करूँ मैं ?' 'लोहेके पेड़ हरे होंगे', 'भग्न मन्दिर बन रहा है'-जैसी कविताओंके आशावाद और उल्लासमें कविने अपने मनका समाधान ढूँढ़ लिया है। वास्तवमें संक्रान्तिकालमें अतिरंजित आशावाद यथार्थ-दृष्टिको आविल ही करता है। छायावादके उत्तरकालमें बालकृष्ण राव एक गीतकारके रूपमें स्वीकृत रहे हैं, पर पिछले वर्षों ये युगसे सम्पृक्त नयी अनुभूतियोंके साथ काव्यके क्षेत्रमें आये हैं। इनमें भी नयी कविताके प्रति सहानुभूति है और एक प्रकारसे अपने छायावादी संस्कारोंके साथ ये नयी कविताकी भावभूमिपर प्रवेश कर रहे हैं। परन्तु रचना-प्रक्रियाकी आन्तरिक संवेदनीयताके अभावमें इनकी कविताओंपर अब भी छायावादी प्रभाव देखा जा सकता है। अनेक कविताओंमें युग-मानसके मन्थन और आत्मविश्लेषणकी प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, पर इनमें अनेक बार कवि इस सीमा तक तटस्थ जान पड़ता है कि आन्तरिक संवेदनकी उपलब्धिके रूपमें काव्य न लगकर 'बातका निर्वहण' लगता है।

स्वातन्त्र्योत्तर युगमें प्रमुख छायावादी धारासे भिन्न उस युगके कवियोंका योग भी महत्त्वहीन है। उसका मुख्य कारण उनका युगके सन्दर्भसे अलग पड़ जाना ही है। बच्चनकी शैली और शक्तिकी सीमा 'खादीके फूल' और 'सूतकी माला' तक परिलक्षित हो चुकी है। आजके युगसे वे ऐसे कट गये हैं कि उनको धारसे अलग मानना चाहिए। मूल्यवान् कथ्य तो उनके पास कदाचित् कभी नहीं था, पर अनुभूतिकी ईमानदारी ज़रूर उनकी बड़ी विशेषता थी जिसे उन्होंने खो दिया है। वास्तवमें पिछली

ईमानदारी जिस अनुभूतिके स्तरकी थी उसको आज बनाये रखना सहज नहीं है और उन्होंने अपने लिए नयी भावभूमि कभी तैयार नहीं की। बच्चनके साथ प्रेम तथा सौन्दर्यके रोमैण्टिक कवियोंमें नरेन्द्र शर्मा तथा अंचलका नाम लिया जाता रहा है। युगके साथ ये भी आगे बढ़नेमें असमर्थ रहे हैं। नरेन्द्र शर्माने आध्यात्मिक रहस्य-संकेतोंमें अपनेको विस्मृत कर दिया है और उनके संकलन 'अग्नि शस्य' में यही प्रवृत्ति प्रधान है। अंचलके 'वर्षान्तके बादल' में उनको यौवन और सौन्दर्यसम्बन्धी भावनाका ही अभिव्यक्तीकरण है, यह अवश्य है कि कवि अपने मनोभावोंकी ताज़गीकी रक्षा कर सका है। विशेषकर प्रकृतिके साथ प्रेमकी मनःस्थितियोंका सामंजस्य अच्छा बन पड़ा है, पर यह सब आजके युग-जीवनमें काफ़ी विचित्र लगता है। सुमित्राकुमारीके प्रणय-गीतोंकी स्थिति भी वैसी ही है, एक प्रकारसे अपनेको दोहराने-जैसी स्वादहीन। राष्ट्रवादी कवियोंमें माखनलाल चतुर्वेदी तथा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' में स्वाधीनताके बाद अध्यात्म तथा रहस्यका विशेष आग्रह बढ़ा है। लगता है आदर्शवादी राष्ट्र-प्रेमका यही पर्यवसान है, देशकी स्वाधीनताके बाद देशके सम्बन्धमें जैसे उनके पास कहनेके लिए विशेष कुछ रहा नहीं है।

छायावादके बाद एक ओर प्रगति प्रयोगकी काव्य-परम्पराका विकास हुआ और दूसरी ओर नव्य स्वच्छन्दतावादी गीत-परम्पराका उत्थान हुआ। प्रगति-प्रयोगकी परम्परा यदि विद्रोहकी प्रेरणा लेकर चली है तो इस गीत-परम्पराका उत्थान छायावादी कविताके उत्तराधिकारके रूपमें हुआ है। इन कवियोंने छायावादी भाषा और शैलीको एक प्रकारसे स्वीकार किया है, यद्यपि ये अपनी अभिव्यक्तिमें छायावादी कवियोंसे अधिक सीधे और सहज हैं। वास्तवमें इन्होंने छायावादके आध्यात्मिकता, दर्शन तथा रहस्यके लबादेको उतारकर सहज जीवनकी भूमिको अपनाया है। इन्होंने व्यक्तिगत दुःख-सुख, पीड़ा-व्यथा, प्रेम-वियोगकी संवेदनाओंको लौकिक भावावेशके स्तरपर अभिव्यक्ति दी है। प्रकृतिका सौन्दर्य अनेक

स्थितियोंमें इनकी मन:स्थितियोंको ग्रहण करता है और इनके मनोभावोंको अधिकाधिक प्रभावित और उद्वेगशील बनाता है। इन कवियोंमें प्रेमकी अनुकूलता और उद्वेग जितना वास्तविक है, इनको निराशा और विषाद उतना ही मार्मिक है। एक विशेष बात इन कवियोंके सम्बन्धमें यह है कि इनमें निराशाके सघनतम क्षणोंमें भी जीवनका विश्वास बना रहता है, वरन् यह विश्वास इतना अदम्य है कि कवि जीवन और मृत्युका आत्म-साक्षात्कार निर्भीक होकर करता है। शम्भुनाथ सिंहके 'दिवालोक' के अनेक गीतोंमें निराशा और विषादकी भावना परिव्याप्त है – 'मैं सभीका हूँ न कोई किन्तु मेरा !', 'दीप मैं' बिखरे-बिखरे बन्धन, टूटे-टूटे नाते', 'दिन है खोये-खोये भूली-भूली रातें !', 'दूरी।', 'तुम्हें याद मेरी न आती कभी क्या ?', 'प्रश्न' आदिमें। परन्तु कविमें इतना बड़ा आत्म-विश्वास भी है कि वह जीवन-मरणको समान रूपसे स्वीकार कर लेता है :

तुम पुकारो पार से जब,
स्वर सुनूँ स्वरकार के जब,
मैं तुम्हारा प्यार ले तब,
प्रिय तुम्हारे चरण पर मर
भी सकूँ चुपचाप।
प्रिय, मैं जी भी सकूँ चुपचाप।

गिरधर गोपालके 'अग्निमा' के गीतोंमें प्रेमकी निराशाका स्वर मृत्युकी भयानक छायाके नीचेसे मुखरित हुआ है। परन्तु इस निराशाकी तीखीसे तीखी पुकारके पीछे यौवन और जीवनकी बहुत गहरी प्यास छिपी हुई है। ऐसा लगता है मृत्युकी छायामें भी कवि उदास अथवा विरक्त होना नहीं जानता, वह अन्त तक जीवनको पकड़े रहना चाहता है :

ऐसे में मैं ही क्या धरती
का कण – कण चिल्लाता,
कोई बाँहों में भर उसको,
ओ क्षण – भर दुलराता,
मेरे प्राणों को अपने प्राणों के संग सुला लो।

[अग्निमा : 'घरका दीप']

कवि अन्धकारका साक्षात्कार भी शक्ति और आवेशके साथ करता है। गिरधर अपनी अनुभूतिकी तीव्रतामें उपमानों और चित्रोंका व्यंजक शैलीका उपयोग सहज रूपमें कर सके हैं। रमानाथ अवस्थीके गीतोंमें (आग और पराग) प्यारकी विवशता और प्यास है जो मुक्त हृदयसे अभिव्यक्त की गयी है, इनमें घुटनके स्थानपर सरल उल्लास व्यंजित हुआ है। कविके अलंकरण प्रेमने उसके भावावेगको कम किया है, यद्यपि उससे उसका आकर्षण बढ़ा भी है। क्षेमकी कविताओंमें कल्पनाकी कोमलता, सौन्दर्य-स्वप्नोंकी तन्द्रिलता, रूपाकर्षणका लाक्षणिक अंकन विशेष रूपसे पाया जाता है। क्षेमके गीतों ('जीवनतरी' तथा 'नीलम' 'ज्योति और संघर्ष') में कल्पना तथा स्वप्नका विचित्र माधुर्य है, परन्तु उनकी शैलीपर छायावादी विशेषणोंका विशेष प्रभाव है। इन गीतकारोंमें रवीन्द्र भ्रमरका नाम भी महत्त्वपूर्ण है, इनके गीतोंमें परिस्थितिके सुन्दर अंकनके साथ भावोंकी कोमल व्यंजना प्रस्तुत की गयी है। इनके गीतोंमें जीवनकी ताज़गी विशेष उल्लेखनीय है। इन गीतकारोंमें कुछमें युग-जीवनका सन्दर्भ अधिक विकसित हो रहा है और ऐसे ही कवि धारामें आगे भी बढ़ सकेंगे। शम्भुनाथ सिंह, भ्रमर, रूपनारायण त्रिपाठी, रमानाथ अवस्थी, क्षेम आदि इस भावभूमिका ओर अधिक अग्रसर हो रहे हैं। शम्भुनाथ सिंहकी 'दिवालोक' के अन्तर्गत कई कविताओंमें युग-जीवनकी चेतना व्यक्त हुई है—'कबतक तुम मौन रहोगे ओ जन-देवता ?', परन्तु उनके दूसरे संकलन 'माध्यम मैं' की

कविताएँ भाषा और छन्दकी दृष्टिसे तथा विषय-वस्तुकी दृष्टिसे भी आधुनिक मनोवृत्तिके अधिक निकट हैं। उनमें एक ओर आत्मानुभूति तथा आत्मचिन्तनके तत्त्व उभर रहे हैं, तो दूसरी ओर लोकतत्त्वके संयोगसे भावात्मक मुक्तिका स्वरूप मिलता है। कुछ अन्य कविताओंमें लोक-गीतोंकी मुक्त व्यंजना शैलीका प्रभाव ग्रहण कर अपने गीतोंको जन-जीवनके अधिक निकट लानेका प्रयास कर रहे हैं।

छायावादके विद्रोहमें जो प्रगति तथा प्रयोगकी भाव-धाराएँ काव्यमें आयी हैं, उनके कवियोंमें स्पष्ट विभाजक रेखा पहले भी नहीं थी। प्रथम तार-सप्तकके अधिकांश कवि प्रगतिशील विचारोंके थे, यद्यपि उनमें-से एकको छोड़कर अन्य सभी काव्यके क्षेत्रमें प्रयोग तथा आत्मान्वेषणके सत्य-को स्वीकार करते हैं और काव्यको कोरे नारेबाज़ीसे अलग माननेवाले हैं अर्थात् वे काव्यको किसी वादके अन्तर्गत सीमित नहीं मानते। नयी कविताके आन्दोलनके साथ इनमें-से अनेक प्रतिभाशील कवि आ गये हैं, क्योंकि आधुनिक युग-जीवनके साक्षात्कार और आत्मानुभवकी दृष्टि यही है। इस युगके कम ही कवि हैं जो प्रयोगकी सीमासे अबतक आगे न बढ़े हों और प्रगतिशील आन्दोलनके खोखलेपनसे परिचित होकर किसी-न-किसी अर्थमें उससे अलग न हो गये हों। कुछ कवि ऐसे अवश्य हैं जो उन्हीं गलियोंमें आज भी भटक रहे हैं और अपना मार्ग नहीं निकाल सके हैं। शिवमंगल सिंह 'सुमन' प्रारम्भमें रोमैण्टिक प्रेम-भावनाके कवि रहे हैं; इन्होंने राष्ट्र-भावनाकी कविताएँ भी लिखी हैं, पर बादमें ये समाज-वादी विचारधारासे प्रभावित हुए हैं। लेकिन उनके काव्य-संकलन 'पर आँखें नहीं भरीं' में प्रगतिशीलता तथा रोमान्सका विचित्र मेल है। साथ ही इधरकी उनकी कवितामें पहलेके गीति-तत्त्वका भी ह्रास हुआ है। नागार्जुनके पास विस्तृत कनवेन्स है, और उनमें अनुभूति तथा चिन्तनका सम्मिलित तीखापन भी है, पर जनवादिताके नामपर उनमें जो रूढ़िवादिता है उससे वे उबर बहुत कम पाते हैं (युगधारा)। केदारनाथ अग्रवाल उन

प्रगतिवादी कवियोंमें हैं जिनमें इस धाराको उपलब्धि देखी जा सकती है। उन्होंने यथार्थ जन-जीवनकी मार्मिक अभिव्यक्ति की है। इस बीच उनकी कविता (नींदके बादल; युगकी गंगा) में छायावादी प्रभाव परिलक्षित होता है, पर गाँवके जीवनके चित्र कहीं-कहीं सुन्दर बन पड़े हैं। रामविलास शर्मामें रूढ़ि अधिक परिलक्षित होती है, वैसे काव्यके प्रति उनकी विशेष रुचि नहीं है। प्रभाकर माचवे प्रयोगसे आगे नहीं बढ़ सके हैं, उनमें या तो सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियोंके प्रति तीखा व्यंग्य है अथवा स्थान तथा स्थितियोंका असम्पृक्त चित्रण। कुछ स्थितियोंके अंकनमें भी व्यंग्यका पुट है। 'उनके स्वप्न भंग' नामक संग्रहमें उनको स्वाधीनताके पहले और बादके—दोनों युगोंकी कविताएँ हैं, पर उनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जैसा पहले कहा गया है, प्रगति तथा प्रयोग-परम्पराके प्रायः सभी गतिशील कवि आज नयी कविताकी आन्तरिक प्रवृत्तिके साथ हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर युगकी प्रमुख काव्य-दिशापर विचार करते समय हमको कुछ तथ्य मानकर चलना चाहिए। समकालीन साहित्यपर विचार करनेमें सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि साहित्यके नामपर कच्चा, अधकचरा, पक्का, कूड़ा-करकट जो भी लिखा जाता है वह साराका-सारा सामने मौजूद रहता है। अन्य युगोंके साहित्यका अधिकांश समयके प्रवाहमें बह जाता है और केवल वही अंश रह जाता है, जो युगकी कसौटीपर खरा उतर चुका होता है। समसामयिक आलोचकका दायित्व है कि वह युगकी वास्तविक धाराको पहचान सके और अपने चतुर्दिक् फैले हुए साहित्य नामके सैलाबमें-से उचित और मूल्यवान् तथ्योंको ग्रहण कर सके। वर्तमान नयी कविताके सम्बन्धमें यही बात सत्य है। परम्परावादी आलोचक सारे विस्तार-में-से चौंका देनेवाली, अनुकरणात्मक, असंयत तथा अपरिपक्व रचनाओंके आधारपर मूल्यांकन करना चाहते हैं। परन्तु जैसा कि पिछले किसी भी युगके सम्बन्धमें ठीक है, वर्तमान युगकी कविताकी शक्तिका अनुमान उसकी

उपलब्धिसे ही लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जैसा कि प्रयोगशील कविताके लिए कहा गया था, यह बात नयी कविताके लिए सोलह आना सत्य है कि इसका सम्बन्ध किसी वादविशेषसे नहीं है और न इसे किसी वादके अन्तर्गत रखा जा सकेगा। वास्तवमें इसके अन्तर्गत अनेक विभिन्न रुचियों और दृष्टियोंके कवि आ जाते हैं। किसी एक कविके आधारपर अन्य सभी प्रवृत्तियोंको नहीं समझा जा सकता है। पर इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि इनमें किसी प्रकारकी एकता है ही नहीं, ऐसा होनेपर इसे नयी कविताका आन्दोलन कहनेका अर्थ ही क्या रह जाता है? इनकी व्यक्तिगत विभिन्नता तथा वैयक्तिक निष्ठा अपने-आपमें एक ऐसा मूल्य है जो इनको एक साथ स्वीकार कर लेता है। इसके अतिरिक्त नयी कविताकी मौलिक एकताका सूत्र है, उसका विकसित आधुनिकताका परिप्रेक्ष्य तथा उसका समसामयिकताके दायित्व-निर्वाहका आग्रह। लक्ष्मीकान्त वर्माके अनुसार, "आधुनिकता एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यमें कुछ युगविशेष प्रवृत्तियोंके आधारपर हमें हमारा ऐतिहासिक भूगोल बताती है जिससे हम अतीत और भविष्यके अनावश्यक आग्रहोंसे मुक्त होकर अपनेको एक विशेष गुणसे सम्बद्ध पाते हैं और उस सम्बद्ध चेतनासे यथार्थ और वस्तुस्थितिको देखनेकी चेष्टा करते हैं। किन्तु जहाँ आधुनिकताका यह आग्रह है वहीं समसामयिकताका आग्रह इन दृष्टियोंको क्रियाशील रूप देनेमें है, उनको कर्मरत जीवनके क्षण-क्षणकी गतिशीलतासे सम्बद्ध करनेकी है।"

(नयी कविताके प्रतिमान : आधुनिकता और समसामयिकता।)

यद्यपि नयी कविता अपने स्वर, अपनी अभिव्यक्ति तथा उपलब्धिकी दृष्टिसे प्रयोगशील कवितासे आगे विकसित हो चुकी है, उससे इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रयोगशील कविताने परम्परासे विद्रोहके रूपमें प्रयोग तथा मार्गका अन्वेषण प्रारम्भ किया था, परन्तु नयी कविताके सन्दर्भमें

प्रयोग तथा मार्गान्वेषण उसकी प्रकृतिके रूपमें स्वीकृत हैं। प्रयोगशील कविताके अन्य अनेक तत्त्व आजकी कवितामें भी पाये जाते हैं, परन्तु दृष्टिकोणमें पर्याप्त अन्तर आ गया है। और यही अन्तर नयी कविताकी प्रयोगकालीन कवितासे अलग करके अगले चरणके रूपमें प्रतिष्ठित करता है।

■

नयी कविताकी समसामयिक भावभूमि

समस्त वाद-विवादके बीच यह सत्य प्रत्यक्ष होता जा रहा है कि आजके युगकी कविता नयी कविता ही है, अर्थात् वर्तमान युगके संक्रान्ति-कालीन जीवनकी, उसकी सम्पूर्ण विषमताओं और विविधताओंके साथ, इसी काव्यमें अभिव्यक्ति हो रही है। इसके समानान्तर अन्य जो भी काव्यधाराएँ हैं, उनका आधार आजके युगका यथार्थ नहीं है। ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि ये समस्त अन्य धाराएँ युग-जीवनके किसी स्तर-को छूती नहीं, पर इन सबका सन्दर्भ जीवनके ऐसे कृत्रिम स्तरोंसे है, जिनका निर्माण आजकी अवसरवादी राजनीतिने अथवा पतनोन्मुखी सामाजिक आचरणने किया है। अतएव इन काव्यधाराओंमें युग-जीवनके यथार्थ-की वह अभिव्यक्ति नहीं मिल सकती, जिसके आधारपर ही भविष्यके नये मूल्योंका तथा आचरणकी नयी मर्यादाका विकास सम्भव है। प्रस्तुत लेखमें युग-सन्दर्भकी इसी दृष्टिसे नयी कविताकी व्याख्या करनेका प्रयत्न किया गया है। आज नयी कवितामें केवल युग-यथार्थका साक्षात्कार मात्र नहीं है, वरन् उसमें उपलब्धिकी दिशाएँ स्पष्ट होने लगी हैं। प्रस्तुत अध्ययनमें इस सम्पूर्ण परिवेशको ध्यानमें रखा गया है।

कुछ विवेचक नयी कविता और प्रयोगशील कवितामें तात्त्विक अन्तर नहीं करते। वे इन्हें प्रायः समानार्थक शब्द मान लेते हैं। पर नयी कविता अपनी अभिव्यक्ति, प्रेषणीयता तथा उपलब्धिकी दृष्टिसे प्रयोगशील कविता-के आगेकी स्थिति है। दोनोंमें घनिष्ठ सम्बन्ध है, पर ऐतिहासिक दृष्टिसे एक-दूसरेका विकास है। दोनोंमें अनेक समान तत्त्व भी मिल जायेंगे, पर दोनोंकी भाव-भूमिमें पर्याप्त अन्तर है। प्रयोगशील कविताने परम्परासे विद्रोहके रूपमें प्रयोग तथा अन्वेषणका मार्ग स्वीकार किया था, पर नयी

कविताके सन्दर्भमें वे उसकी प्रकृतिके सूचक हैं। प्रयोग-युगके कविके मनमें अपने मार्गके विषयमें अनेक संशय और द्विविधाएँ थीं। मर्यादा और मूल्योंके संघर्षके बीच आजके कविमें संक्रान्तिकालीन संशय और द्विविधा भी देखी जा सकती है। परन्तु जब प्रयोग-युगका कवि अपने संघर्षके प्रति निश्चित नहीं था, आजका कवि अपनी सारी शंकाओंके बीच अपने व्यक्तित्वके प्रति आस्थावान् है और उसमें संघर्षका विश्वास उभर रहा है :

लेकिन इन दोनों के बीच
मेरे तीखे पर एकाकी स्वर
केवल सच्चाई का आश्रय लेकर
गूँजेंगे या रव में खो जायेंगे
या ये स्वर पहुँचेंगे जन-जन के द्वार,
लज्जित माथे पर काँटों का सिंगार
या मंगल वादन, जय ध्वनि वन्दनवार
क्या पायेंगे
प्रभु,
हम क्या पायेंगे !

[धर्मवीर भारती]

और यह उस कविकी आन्तरिक अन्वेषणसे प्राप्त आस्था है, जो युग-जीवनमें पिछले युगकी कोमल कल्पनाओं, स्वप्नों और मधुक्रीड़ाओंको छिन्न-भिन्न होते देखकर सूनेपन और अवसादका अनुभव करता है। प्यार और स्वप्नके गीतोंके टूट जाने और समर्पित विश्वासोंपर जमती हुई ठण्डी पर्तके कारण निराशाका स्वर परिव्याप्त है। परन्तु यथार्थके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यके साथ जब कवि अपने युगकी सारी विषमता, कलुष तथा अन्धकारको झेलनेका संकल्प करता है, उस समय वह अपनी 'छाया' को वापस उन्हीं

स्वप्नोंमें भेजना चाहता है, जिनका मोह उसकी बहुत बड़ी कमजोरी है ('मेरी परछाँही'), परन्तु अन्ततः समस्त भ्रम, संशय, कलमष, दिग्भ्रान्ति-में कविका अहं विश्वासका एक आधार ढूँढ़ लेता है :

चलना तो हमको ही होगा
चलने में ही हम टूटों और अधूरों का
शायद होगा कुछ नया गठन
आश्रय देंगे हमको अपने
जर्जर पर अपराजेय चरण !

['कौन चरण']

अपने दृश्य-काव्य 'अन्धा युग' में भी भारतीने युगके समस्त अन्धकारके बीच आन्तरिक अनासक्त भावकी आस्थाको व्यंजित किया है ।

पर एक-दूसरे स्तरपर आजके कविमें संशयकी स्थिति मिलती है जो भावात्मक रागसे असम्बद्ध केवल युग-जीवनके यथार्थ बोधसे उत्पन्न कहा जा सकता है । इस संशयमें जीवन अननुभूत रह गया है, हमने न सुखको ग्रहण किया, न दुःखको झेला और इस प्रकार :

यों बीत गया सब : हम मरे नहीं, पर हाय ! कदाचित्
जीवित भी हम रह न सके ।

[इन्द्रधनु रौंदे हुए ये : 'योगफल']

इसी प्रकार इतिहासके व्यापक प्रवाहमें अपने व्यक्तित्वकी अकिंचनताका आभास भी मिलता है और यह भी संशयकी ही मनःस्थिति है :

हम, तुम और वे,
सभी भूगर्भ में छिप जायेंगे,
कहीं गति में दबे
हम बस चिह्न ही रह जायेंगे ।

[चक्रव्यूह : 'उस छोरपर']

परन्तु जिस अहंकी उपलब्धिपर आजका कवि विश्वास करता है, वह ज्वार उतर जाने तथा जलयान चले जानेके बाद भी आश्वस्त है :

किन्तु हमारे मन का
संशय, दर्प और विद्रोह वही है
कैसे हम तब झुकते
ओ मेरी गति !
कैसे अब झुक पायें ! !

[नरेश मेहता : बनपाखी सुनो]

आजके युग-जीवनका यह यथार्थ है। आतंकित क्षणोंमें, विषम एटम-युद्धकी सम्भावनामें तथा आस्था और मर्यादाओंके विघटनमें व्यक्ति-मनकी यह सहज स्थिति हो जाती है :

चिन्तित मस्तक, व्यथित हृदय में
थके चरण में, घायल मन में
पथ में, श्रम में, जीवन-क्षण में
कितनी शंका ?
कितनी दुविधा ?
कितनी पीड़ा ?

[लक्ष्मीकान्त वर्मा : 'गीता और गटर']

पर यह वह संशय है जो किरण (मूल्य अथवा मर्यादा) भले ही न हो, परन्तु जिसके माथेपर निरन्तर मृत्युका संघर्ष लौके रूपमें काँपता रहता है, ऐसी दीप-ज्योति है। इस प्रकार यह अहंकी सत्यको झेलनेकी शक्तिके रूपमें स्वीकृत है (धुएँकी लकीरें : संशय)।

संशयके समान प्रगति-प्रयोग-युगका विद्रोह भी अनेक नये सन्दर्भोंमें नयी कवितामें उभरा है। उस युगमें कविने परम्परा तथा रूढ़ियोंसे विद्रोह किया था और रीतिगत व्यवस्थाके अन्तर्गत खोते हुए मानव-व्यक्तित्वकी

प्रतिष्ठाका आग्रह प्रकट किया था। पर उस समयका विद्रोह नया रास्ता निकालनेकी छूटके लिए था और आजका विद्रोह कुण्ठित, विघटित तथा सन्दर्भ-च्युत मर्यादाओंको ताड़कर नयी मर्यादाओंकी स्थापनाके लिए है। कविके स्वरमें इतिहासको मोड़नेकी आकांक्षासे पिछले संस्कारों और विजड़ित मर्यादाओंको 'तोड़ दो' की पुकार है। वह न तो इतिहासकी गाड़ियोंके गुज़रनेकी पटरियाँ बनना चाहता है और न केवल किसीकी डालरपर दो कूकका जीवन जीने-भरका दर्द स्वीकारता है, वह नयेके निर्माणकी पीड़ाका आवाहन करता है :

दर्द हूँ तो—
साल के आख़िरी दिन की साँझ का
जो धार से ज़्यादा नये की प्रार्थना है,
हर नया शुभ हो!
हर क्षण बने माथे पर धरा मंगल-तिलक,
अभी तो तोड़ दो, बस,
बाद में हम चाँदनी की फ़सल काटेंगे!

[केदारनाथ सिंह : नयी कविता ३]

इसी प्रकार आजके कविके मनमें प्रतिष्ठित प्रतिमाओंके प्रति गहरा विद्रोह है। वह ऐसे देवताके प्रति प्रश्नशील हो उठा है, जिसकी बड़ी होती मूर्तिके सामने आजका व्यक्ति छोटा और कुण्ठित होता जाता है और जिसने जन-मनके मुक्ति-दूत देवताके द्वारा खोले गये क्षितिजोंको भी ढँक लिया है। देवता जब मूर्तिमें प्रतिष्ठित होता है तो उसकी तानाशाही शक्तिके नीचे जनका व्यक्तित्व छोटा, ओछा, और नगण्य होकर तममें बन्द छटपटाने लगता है। फिर इस व्यक्तित्वकी मुक्तिके लिए कवि देवताकी मूर्ति तोड़नेका संकल्प करता है, पर उसे आसमान (सहज) के प्रकाशको ग्रहण करनेमें असमर्थ दृष्टियोंके प्रश्नचिह्नकी स्थितिका बोध भी है :

हर अन्धी श्रद्धा की परिणति है यह खण्डन !
हर खण्डित मूर्ति का प्रसाद है यह प्रश्न-चिह्न !!

[भारतभूषण अग्रवाल : नयी कविता ३]

आजका कवि परम्पराकी झूठी पड़ गयी मर्यादाओंसे सतर्क करते हुए 'महाप्रलयके बाद नये उगे शिखरों' (सत्यान्वेषी यक्तित्वों) को चुनौती देकर अडिग खड़े रहनेको कहता है। ये कुण्ठित रूढ़ियाँ मानव-व्यक्तित्वको विघटित करनेमें ही अपनी सार्थकता मानती हैं :

कितने अगस्त्य आयेंगे गुरु का वेश धरे,
आशीष वचन कहने वाले
चिर विनत तुम्हारा मस्तक यों ही झुका छोड़
ये गुरु पर वापस नहीं लौट कर आयेंगे।

[साही : युगचेतना]

नयी कवितामें इस विद्रोहकी प्रधान माँग अहंकी स्वीकृति और व्यक्तित्वकी खोज और प्रतिष्ठाकी रही है। पिछले युगोंमें सबसे अधिक विघटन मानव-व्यक्तित्वका हुआ है और व्यक्तिको वैज्ञानिक भौतिकवाद अथवा यान्त्रिक समूहवादने पग-पगपर कुण्ठित और अपमानित किया है। अतः आजके कविकी पहली माँग अपने अहंकी स्वीकृति है :

चित्रकारी के
रंगों में बन
स्वयं
फैल-फैल मैं गया
हूँ, कहाँ-कहाँ !

[शमशेर : नयी कविता २]

कवि अपने-आपकी स्वीकृति बाह्य यथार्थमें पाता है। यह अहं कविके साधारण 'मैं' और उसके कृतित्वसे अधिक व्यापक है, जिसे व्यक्ति 'दुःख,

दर्द और संघर्षोंके माध्यमसे सचाईकी मंज़िल तक पहुँचकर विराट् सत्यके रूपमें' ग्रहण करता है ('ठण्डा लोहा' निवेदन)। यही उसकी खोज है। इसके प्रति कविके मनमें पूरी सजगता और आस्था है, यह व्यक्तिका वह आन्तरिक स्फुरण है जो 'किरणके रूपमें मित्र, वरुण, सविता और पूषा' सभी शक्तियोंकी गति है। इस व्यक्तित्वको महलोंके लोग (स्थापित मूल्यों-वाले लोग) निरन्तर कुण्ठित करनेका प्रयत्न करेंगे, वे हमारे व्यक्तित्वको खरीदनेके लिए 'मनायेंगे, बातें बनायेंगे, ढंग-ढंगसे रिझायेंगे', लेकिन कवि सतर्क करता है : 'न खाना तरस, बेचना न किरणें' (राजेन्द्र किशोर : 'मुझे चीन्हो')। कभी कवि ऐतिहासिक दायित्वको वहन करने-वाले अहंके रूपमें अपने व्यक्तित्वके प्रति उन्मुख हुआ है और अपनी सारी अकिंचनतामें भी वह दृढ़तासे उसे स्थापित करता है :

छिली हुई पपड़ी पर छाल चढ़ जाती है,
दुधियारे पत्तों में बाल बस जाती है।
जटाएँ भी झुकती हैं भूतल को छूती हैं
चरवाहे की वंशी को टेर भटक जाती है
मगर
एक मैं हूँ : फ़ौलाद की थाती लिये
जीता हूँ—
मैं आज भी जिन्दा हूँ !

[लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता १]

कवि इस वैयक्तिक चेतनाको आत्म-शक्ति और आत्म-संस्कारके रूपमें ग्रहण करता है और 'भोरके बावरे अहेरी' के रूपमें उसका आवाहन करता हुआ उसको आलोककी अनीसे अपने 'खण्डहरकी शिरा-शिराको छेदने' की अभ्यर्थना करता है। कवि शक्तिके रूपमें इस वनस्पतिको अमर मानता है जो 'सदा बसती रही पिछली दरारोंमें समयकी' और इतिहासके

रूपमें 'मीनार, क़ब्रिस्तान खण्डहर' इसी व्यक्तिकी चेतनाकी 'लहलहाती बाढ़' में अपने सारे ऐश्वर्यके साथ बह गये हैं (कुँअरनारायण : चिटके स्वप्न)। यह अहं कविकी अपराजेय शक्तिके रूपमें युगोंके सन्धि-कालकी हारी-थकी मर्यादाओंके बीच अकेले शुक्र तारेके रूपमें चमक उठती है :

ऊगा तारा :
मैंने देखा नहीं कि कब
बुझ गया
लाल आलोक सूर्य का। पर जब देखा
देखा यही :
कि पेड़ों-चट्टानों में उलझी
हारी हुई
लालिमा में द्योतित है शुक्र
अकेला तारा।

[अज्ञेय : बावरा अहेरी]

वास्तवमें आजके कविका अहं उसकी आन्तरिक उपलब्धि (वैयक्तिक स्वातन्त्र्य) की माँग ही है और उसके लिए वह संघर्षरत है। यथार्थकी दृष्टि ग्रहण कर मूल्योंके अन्वेषणकी पहली शर्त इसीलिए अहंकी मुक्ति है। संघर्षका 'संकल्प' लेकर चलनेवाला कवि 'अपने दुर्बल मनकी द्विविधाओं' से पापोंकी 'प्रेतात्माओंसे लोहा लेने'को प्रस्तुत है, वह अपनी असमर्थतामें, बिक जानेके पूर्व मरणकी गोद तकका वरण करनेमें हिचकेगा नहीं और फिर भी प्राणोंकी समिधाओंकी रक्षा करेगा (श्याम-मोहन : 'संकल्प' : नयी कविता १)। यह संघर्ष पिछले युगोंकी प्रगति अथवा अगतिके मानदण्डोंको बदलनेके लिए है। इसमें जूझनेवाला 'मैं' ही है जो 'नया बननेके लिए खरादपर चढ़ रहा है' और 'लड़ता हुआ नयी राह गढ़ता हुआ आगे बढ़ रहा' है (दुष्यन्तकुमार : 'मापदण्ड बदलो')।

इस संघर्षके बीच सारी विफलताओंके बावजूद अहं अपराजित ही रहता है। अपने युगके 'चक्रव्यूह' में घिरकर व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रताके लिए अन्त तक युद्ध करना चाहता है और 'मृत्यु निष्पक्ष, समयातीत घेरेमें घिरे अस्तित्वका हर पक्ष' पहचाननेकी कोशिश करता है (कुँअरनारायण : 'चक्रव्यूह')। युगके यथार्थसे जूझनेके लिए वह नया अभिमन्यु है, जो मानव व्यक्तित्वके पैतृक युद्धको लड़नेके लिए दृढ़संकल्प है और हर आघातको सहनेके लिए उत्सुक है :

कौन कबतक बन सकेगा कवच मेरा ?
युद्ध मेरा, मुझे लड़ना
इस महाजीवन समर में अन्त तक कटि-बद्ध

[कुँअरनारायण : चक्रव्यूह : 'विरासत']

कविका यही अहं अस्तित्वके विस्तारमें फैलकर अनेक बार सारे बाह्य-जीवनके यथार्थसे सम्पृक्त होकर आन्तरिक आस्था तथा विश्वासकी व्यंजना करता है। इन कविताओंमें यथार्थ परिस्थितियों तथा मनःस्थितियोंका सुन्दर संयोग देखा जा सकता है और अनेक बार इनमें साधारण भाव-बोधके होते हुए भी गहरी उपलब्धिसम्बन्धी व्यंजना मिलेगी। कविके 'बिखरे हुए अहं' में जीवनका सारा परिवेश भाव-बोधके स्तरपर अंकित है, और उसमें अपनी चेतनाके अंशको वह पहचान रहा है :

पर जो मिटे थे—अमिट हैं,
मेरे इन सब बिखरे-बिखरे अंशों को
कौन सँजोये
मुझे कौन पूरा करे,

[जगदीश गुप्त : नावके पाँव]

इस प्रकारकी कविताओंमें कभी पुराण और इतिहासके साथ अस्तित्व एक रस हो जाता है और अपनी सार्थकताको व्यंजित करता है। ऐसी स्थितिमें

अहं अपनी लघुताके परिवेशमें ऐतिहासिक दायित्वका निर्वाह करता है। कभी कवि जीवनके बहुत विस्तृत यथार्थके साथ अपनी चेतनाको अभिन्न मानकर बाह्यके सारे वर्णनोंमें अहंकी सार्थकताको अभिव्यक्त कर सका है। बाह्य यथार्थका सूक्ष्म अंकन किया जाकर भी यह प्रभाव उत्पन्न किया गया है और विस्तारपूर्वक वर्णन करके भी। 'प्लेटफ़ॉर्म'का अनेक मनःस्थितियों और परिस्थितियोंकी प्रतिक्रियाके रूपमें वर्णन करके कवि अन्ततः अपने अहंका उसे प्रतीक ग्रहण कर लेता है :

क्योंकि कल
यदि मैंने सुना
कहीं मेरे आसपास
सुख है, शान्ति है,
सृजन है, निर्माण है
प्रगति है, विकास है,
तो मैं अपनी
इस निरर्थक आत्मा को भी
एक अर्थ दे लूँगा।
अनुभव करूँगा
इन सब के साथ
कहीं मैं भी बँधा था,
कहीं मेरा भी योग था।

[सर्वेश्वरदयाल : निकष २]

सबसे साथ बँधकर अपने योगमें अपनी आत्माकी सार्थकताकी अनुभूति इस कविताकी वास्तविक आत्मोपलब्धि है, मात्र यथार्थ दृष्टि नहीं। अपनी व्यक्ति-चेतनाको इस प्रकार सम्बोधित करनेवाला कवि भी सहज और अनलंकृत आधुनिक शैलीमें अहंका ही उद्‌घोष कर रहा है :

भगवान् !
तुम सबसे बड़े हो,
मैं तुमसे छोटा हूँ,
बाक़ी लोग मुझसे छोटे हैं,

[विपिन अग्रवाल : धुएँकी लकीरें]

व्यक्तित्वकी माँग और अहंकी स्वीकृतिके साथ कुछ कवियोंमें रोमैण्टिक मनोभावका पर्याप्त आकर्षण पाया जाता है। इनमें भी कुछ कवि नव्य-स्वच्छन्दवादियोंके समान जीवनकी मुक्तिके साथ रोमान्सको स्वीकार करते हैं, यह अवश्य है कि उनमें प्रेम और रूपका आकर्षण जीवनके यथार्थसे सामंजस्य स्थापित करता हुआ व्यंजित है। प्रकृतिकी स्थितियोंके साथ अथवा अपनी अनेक मनःस्थितियोंमें रूमानी वातावरणका आकर्षण बना रहता है। गिरिजाकुमार माथुरमें यह प्रवृत्ति विशेष रूपसे देखी जाती है :

भीगता रस
भीगती मुसकान
किन्तु सुधि होती अधिक रसवान
और मोती की मधुर पहचान

['सिन्धु तटकी रात']

कवि प्रकृतिके कोमल वातावरणमें विशेष संवेदित हुआ है ('न्यूयार्ककी एक शाम', 'सावनके बादल' आदि)। कवि 'आगतकी फ़सलकी राहमें' भी विश्वास करता है कि यह ऋतु-रंगका 'फूल मुरझाया नहीं' है। पर साथ ही इस 'व्यक्ति और समाजके उत्तप्त मन्थन काल' और 'संक्रान्तिकी घड़ियों' की जागरूकता भी कविमें है ('आग और फूल')। नेमिचन्द जैन, प्रयागनारायण त्रिपाठी, राजेन्द्रकिशोर, विजयदेवनारायण साही, दुष्यन्तकुमार तथा वीरेन्द्रकुमार आदिमें यह मनोभाव देखा जा सकता

है। त्रिपाठीमें आकांक्षाके साथ वातावरणके माध्यमसे उसका बोध भी है :

दो क्षण का प्यार हुआ
नीर अभिसार हुआ
मिट गयी सभी थकान
मिल गयी नवीन स्फूर्ति, नयी शान्ति, नये प्राण
धन्य स्नान।

['स्नान' : नयी कविता २]

वीरेन्द्रकुमारके इस मनोभावमें अवसादकी व्यंजना भी है ('वह गयी हैं फूल बीनने' : निकष १), पर भारती अपने रोमैण्टिक मनोभावके साथ आधुनिक युगकी विषमताओं और असंगतियोंका सामंजस्य न हो पानेके कारण अवसादसे खिन्न और उदास हो उठते हैं। नारीके रूप-सौन्दर्य तथा प्रेमकी स्थितिके प्रति आधुनिक दृष्टिकोण बिलकुल भिन्न है। इनके प्रति आजकी दृष्टि असम्पृक्त भाव-स्थितिकी है :

देह—
वल्ली
रूप का
एक बार बेझिझक देख लो
पिंजरा है ? पर मन इसी में-से उपजा।
जिसकी उन्नत शक्ति आत्मा है।

[अज्ञेय : 'देह-वल्ली']

आजका कवि जीवनके यथार्थ और उसकी व्यस्तताके बीच अपने प्रेम और आकर्षणके प्रति भावावेगकी दृष्टिसे तटस्थ होता जाता है। जब वह इस कोमल तथा मधुर सम्बन्धको जीवन और बाह्य-जगत्के साथ रखकर देखता है, तब उसके सामने निश्चय ही वे स्वप्न और कल्पनाएँ नहीं आतीं जो रोमैण्टिकके लिए बेहद प्रिय हैं :

आराम कुर्सी पर
पैर सिकोड़े
आँखें मींचे
तुम्हारा शरीर है
जैसे नींद की गोद में हो
कोई सलोना स्वप्न !

[विपिन : 'सुहागरात']

फ़र्श, दीवारों, वातायन, कुरसी और अपनी प्रेयसीको वह एक तटस्थ भावसे देखता है और उसके मनमें 'सीमा और असीमके बीच क्षितिजपर धरतीके बरसाती वृक्षकी हरियाली' की कोमल कल्पनासे अधिक भावप्रवणताके लिए मनोभाव नहीं है। पर आजके कवियोंमें जिनमें रोमान्सका आकर्षण कम नहीं है, जगदीश गुप्तका नाम महत्त्वपूर्ण है। भारतीके समान अपनी प्रारम्भिक कविताओंमें वह स्पष्ट रोमैण्टिक मनोभावोंसे आक्रान्त हैं, उनके सुन्दर तथा व्यंजक प्रकृति चित्रोंमें सौन्दर्य और प्रेमका यही भाव व्यंजित है। बादकी कविताओंमें यही मनोभाव अवसादकी व्यथाके साथ व्यक्त हुआ है ('अव्यक्त चुम्बन', तुम्हारा आगमन', 'अतृप्ति, प्यारका सपना' आदि) :

तन ने सम्पर्कों की सारी सीमाओं को पार किया,
पर न हुआ तृप्त हिया।
फूलों की बाँहों में,
पलकों की छाँहों में
सपने की तरह जिया,
पर न हुआ तृप्त हिया।

['अतृप्ति' : नावके पाँव]

अंकन-शैलीकी पूर्णता तथा रूपकों और प्रतीकोंका संश्लिष्ट निर्वाह भी जगदीशको आधुनिक मनोवृत्तिसे किंचित् अलग करता है। देवराजका प्रेम तथा सौन्दर्यका बोध संस्कृतके क्लैसिक कवियों-जैसा है।

आधुनिक दृष्टिमें मुक्तिके साथ जीवनकी सहज स्वीकृति भी महत्त्व-पूर्ण है। आजका कवि जीवनकी नश्वरता और क्षणिकतामें भी उसको अपने अहंके लिए सबसे अधिक मानता है। ज़िन्दगीमें सबसे बड़ा प्रयोजन ज़िन्दा रहना है (कुँअरनारायण : 'कुछ नहीं' वाली पहेली)। एक प्रभाव-चित्रके रूपमें जीवनकी सार्थकता पथ होनेमें, आदमीकी पथमय होनेमें है :

आज का नहीं दिन
ठीक;
कल जाना,
मीत।
—यह भी पथ है;
तुम भी पथमय;
पंथी की लय
पथमय।

[शमशेर बहादुर : नयी कविता १]

जीवनकी समस्त विकृतियोंमें जिसमें व्यक्ति मन 'रुग्ण, जर्जर औ' त्रस्त होकर युगके उत्पीड़नका विसूवियस पाले' जी रहा है, जीवनका स्वप्न लेकर आदमी चलता है, इस विश्वासके साथ कि एक दिन 'स्वप्न सत्य होते हैं' और 'जीवनके मूल्य नये दीप्तमान अर्थोंकी ज्योति-रेख खींचेंगे' (मलयज : हम स्वप्नदर्शी हैं : निकष १)। यह युगका कठोर यथार्थ, उसकी उलझनें और व्यस्तताएँ भी आजके कविको जीवनके साक्षात्कार करनेके लिए प्रेरित करती हैं :

मेरी लालसा गाढ़ी हो गयी है,
जीवन ने मुझे जीत लिया है।

मैं जगत-धर्मा हूँ :
मैं प्रजाकाम हूँ ।

[सुरेश अवस्थी : प्रजाकाम : नयी कविता ३]

जीवनकी अदम्य आकांक्षा कविके मनको मृत्युके प्रति भी उत्साहके साथ प्रेरित करती है । जिस असम्पृक्त भावसे उसने जीवनकी सम्पूर्ण स्थितियों-को अंगीकार किया है, उसी प्रकार 'सान्ध्य बेला झुरमुटोंसे निकली हुई मृत्यु' को वह जीवनके अंगके रूपोंमें स्वीकार करता है :

उठी मुस्कान मेरे ओठों के प्रशान्त तटों से !
हँस कर किया मैंने मृत्यु साक्षात्कार,
हँस कर किया मैंने मृत्यु को
जीवन के अंग के स्वरूप में स्वीकार ।

[मनोहरश्याम जोशी : 'मृत्यु' : नयी कविता १]

और यह जीवन भी अपने प्रत्येक क्षणमें संवेदनीय है, क्योंकि उसका भी महत्त्व है, उसकी उपलब्धि भी संग्रहणीय है :

वह वन-पाँखी
जाने गरिमा
महिमा
मेरे छोटे
चेतन
छन की !

[अज्ञेय : 'प्रथम किरण']

वास्तवमें यही लघु क्षण आत्मोपलब्धिका क्षण हो सकता है जो सारे जीवन-को सार्थक कर देता है । जीवनके यौवन (उपलब्धि) का क्षण कब आकर प्रस्तुत हो जाये, कौन जानता है ? अतः उसके लिए कवि निरन्तर

प्रस्तुत रहनेकी तथा उसके प्रति समर्पित होनेकी बात कहता है ('समयका भिक्षु,' 'पुनः भिक्षु' : नरेश मेहता)। इसी जीवनको आजका कवि बहुत सहज भावसे स्वीकार कर लेता है और उसके साथ प्रत्येक स्थितिको समान रूपसे ग्रहण करता है। उसके लिए कविताका लिखना, सूरजको डूबते देखना, स्नान करना और एक बच्चीका किलककर कन्धेपर चढ़ जाना, जीवनकी सहज उपलब्धिकी स्थितियाँ हैं—"आज फिर शुरू हुआ जीवन" (रघुवीर सहाय : 'आज फिर' : नयी कविता २)।

जीवनको आन्तरिक गहराईसे ग्रहण कर लेनेके कारण ही इन कवियोंने वेदना और दुःखको आत्मान्वेषणका और उसके माध्यमसे आत्मोपलब्धिका कारण माना है। यह दुःख सबको माँजता है, अतः इससे बचनेकी आवश्यकता नहीं वरन् इसे स्वीकार करना ही वास्तविक जीवन है। यह वेदनाकी कोर ही मानवके हृदयका आलोक है जिससे उसकी चेतनाकी नदी गतिशील रहती है, कुण्ठित नहीं होती (अज्ञेय : 'वेदना वही : की कोर' : बावरा अहेरी)। व्यक्तिकी अकेली व्यथाके बीज लोक-मानसकी विस्तृत भूमिपर पनपा सकनेवाला व्यक्ति मानव मूल्योंको वहन करनेवाली हँसीका अधिकारी है (वही : तुम हँसी हो : इन्द्रधनु रौंदे हुए ये)। व्यक्ति-मर्यादाको शासित और मर्यादित करनेकी पद्धति भी यही है :

> क्योंकि तपस्या
> चमक नहीं है,
> वह है गलना :
> गल कर मिट जाना-मिल जाना-
> पाना।
>
> [वही : 'बर्फ़की झील' : वही]

गगनमें उन्मुख होकर जगत्पर छा जानेका विस्तार जीवनको यही वेदना दे सकती है जो उमड़कर जीवनके सहस्र स्रोतोंको खोलनेमें सफल होती है

(कुँअरनारायण : 'सिद्ध वेदना' : चक्रव्यूह)। आजके कविके लिए दुःख गानका स्रोत न होकर किसी "चिड़ियाके अजन्मे बच्चे-सा' है जो भविष्यके प्रति अनन्त आस्था लेकर जन्मा है (दुष्यन्त कुमार : 'मैं और मेरा दुःख' सूर्यका स्वागत)। व्यक्ति ही दर्दका स्वामी है, क्योंकि वह जीवनको ग्रहण करता है (राजेन्द्र किशोर : 'दर्दका स्वामी कौन है' ?) । भारतीकी 'प्रमथ्यु गाथा' में पौराणिक कथानकके माध्यमसे मानव मर्यादाओं और मूल्योंकी रक्षा करनेमें तत्पर प्रमथ्युकी वेदनाओं और पीड़ाओंका आश्रय ग्रहण किया गया है। वह अपनी वेदनाओंके माध्यमसे ही आगत युगकी सम्भावनाओंको विकसित करनेका विश्वासी है :

कोई तो ऐसा दिन होगा
जब मेरे ये पीड़ा सिक्त स्वर
उसके मन को बेध मूच्छित प्रमथ्यु को जगायेंगे।

सर्वेश्वरने दर्दको मानव व्यक्तित्वकी बड़ी शक्तिके रूपमें स्वीकारा है। हवाके बहुत सहज प्रतीक-द्वारा कवि ऐतिहासिक परिवेशोंमें व्यक्तिकी सारी पराजयों और भटकावोंमें उसके अहंको अग्रसर करनेवाली शक्ति और आस्था दर्दको मानता है :

"मैं स्वयं को बाँटती ही फिरी
किसीने मुझको नहीं यति दी।"
लगा मुझको उठाकर कोई खड़ा कर गया,
और मेरे दर्द को मुझसे बड़ा कर गया,
आज पहली बार।

['आज पहली बार' : नयी कविता २]

इस दर्दके माध्यमसे व्यक्ति स्वयंको समष्टिको बाँट सकता है। उसके अहं-का गर्व-भरा मदमाता दीपक अपनी लघुतामें भी अकम्पित, अपनी पीड़ाओं-

की गहराईको स्वयं ही मापते हुए पंक्ति (समाज) के लिए विसर्जित होता है :

यह दीप अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

[अज्ञेय : 'यह दीप अकेला']

अपने व्यक्तिकी पूर्ण उपलब्धिको समष्टिको समर्पित करना आजके कविके अहंकी पूर्णता है।

आजके युगका नया परिप्रेक्ष्य है असम्पृक्त यथार्थ दृष्टि। छायावादी दृष्टि परिप्रेक्ष्य सत्य और मूल्योंपर विश्वास करती थी; प्रगतिशीलताने जिस सामाजिक यथार्थको ग्रहण करनेकी घोषणा की थी वह अपने-आपमें एक आदर्श दृष्टि तो है, पर साथ ही उसके सामने ऐसे भ्रम भी रहे हैं जिनके कारण वह एक कल्पित सामाजिक यथार्थसे उलझकर कुण्ठित होती रही है। पर जब आधुनिक परिप्रेक्ष्य जीवनको समग्रतासे आत्मसात् करनेके लिए तत्पर हैं तो वह यथार्थको पूर्णतः ही स्वीकार करेगा। अज्ञेय इसी सत्यकी 'विज्ञप्ति' करते हैं ;

फूल को प्यार करो
पर झरे तो झर जाने दो
जीवन का रस लो; देह-मन-आत्मा की रसना से
पर जो मरे उसे मर जाने दो।

[बावरा अहेरी]

पर शुद्ध आधुनिक दृष्टि यथार्थके प्रति ऐसा असम्पृक्त भाव लेकर चलती है जो उसकी आन्तरिक प्रक्रियाको संवेदित तो गहराईके साथ करे, पर किसी कोटिका मोह अथवा आसक्ति न जन्मने दे। उसकी आसक्ति भी यथार्थकी गति और सर्जनकी पीड़ासे सम्बद्ध है, स्वप्नोंके परीलोकमें नहीं

भटकती। ऐसा नहीं कि इस दृष्टिके सामने कोई स्वप्न रहते ही नहीं, पर वे धरतीकी अपनी मर्यादा और मूल्यका सन्दर्भ रखते हैं, किसी निरपेक्ष शाश्वत सत्यका नहीं। 'रास्ता तय करता हुआ' कवि अपने चतुर्दिक्से, उसके समग्र विस्तार और बोधको ग्रहण करता हुआ भी असम्पृक्त रह पाता है और उससे जो दृष्टि मिलती है उसके लिए वह कृतज्ञ है :

मैं कृतज्ञ हूँ। उन सब का आभार मानता—
धन्यवाद है, उनको मेरा नमस्कार है।

[उमाकान्त : निकष २]

यथार्थकी अनावृत स्थितिको सामने पाकर आजका कवि किन्हीं रंगीन और स्वप्न-कल्पनाओंमें खो नहीं पाता, यह उसको नयी मनोवृत्तिकी कठिनाई है; क्योंकि उस स्थितिमें व्यक्तिका बोध बर्फ़की चोटी-सा पिघलना चाहता है, उसकी तूफ़ानी चेतना रुकना चाहती है और उसका अहं न खोनेके लिए तैयार है, न मिटनेको ही प्रस्तुत है। वह (व्यक्तित्व) केवल आत्मोपलब्धि (हाथ बढ़ाकर बत्ती जलानेके समान) के माध्यमसे सारे यथार्थका अनुभव करता है :

उसमें मैंने पहचाना
किताबों, तस्वीरों और कुर्सियों को,
और आँखों ने यह भी देखा
सब के रंग एक थे
सब की गहराइयाँ एक थीं
और मेरी परछाईं भी
उन्हीं में से एक थी !

[विपिन : परछाइयाँ]

सारे दृश्यबोधके इस विषय और विविध विस्तारमें उसका अहं ऐसा बिखर जाता है और वह ऐसी समग्रतासे उसका अनुभव करना चाहता है कि

उसे स्वयं अपने व्यक्तित्व तथा यथार्थकी सापेक्षताके विषयमें प्रश्नशील होना पड़ता है—'पर इन असम्बद्ध चित्रोंमें कौन-सा रंग समन्वय भर रहा है! क्या मैं भी इस रीलका पात्र हूँ या इसका अध्येता हूँ!' (शिवकुटी लाल : 'न्यूज़रील' : निकष २)

आधुनिक दृष्टि इतिहासको बिना युग-जीवनके सन्दर्भके थोथा मानती है। जीवनकी धाराको अविच्छिन्न और अप्रतिहत स्वीकार करके न चलनेवाला इतिहास अयथार्थ है और ऐसे इतिहासकी घटनाएँ मानव-सन्दर्भसे अलग होकर इतिहासके पृष्ठोंके बीच दबकर मर गये कीड़ेके समान महत्त्वहीन हैं ('इतिहास और कीड़ा' : न० क० १ : लक्ष्मीकान्त)। और यह गतिहीन इतिहास मानव-मूल्योंकी जो अनासक्त, शाश्वत, परम्परागत तथा आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत करता है, वह मानव व्यक्तित्वको कुण्ठित और विजड़ित ही करती है। युग-यथार्थसे सम्बद्ध इतिहास ही गतिको पहचानता है और मानव-आचरणकी मर्यादा स्थापित करता है, अन्यथा :

नीचे आ, बोला ऊपर का डण्डा नेक
अरे, ओ ऊपर के सिरो !
आचरण करो मेरा;
संस्कार हूँ मैं
इतिहास का उलट-फेर देखा है मैंने
मैं अस्तित्व की जड़ हूँ
तुम पल्लव हो,
आचरण करो मेरा।

[लक्ष्मी० : 'शाश्वत सत्य' : नयी कविता ३]

शाश्वतवादी इतिहास केवल अनुकरणकी माँग करता है। यह इतिहासका उलट-फेर समझनेवाली दृष्टि ही है जो आगत मूल्योंकी स्थापनामें सहायक हो सकती है। पर इतिहासकी गतिमें, यथार्थकी प्रवाहित धारामें, मानव

विवेकमें और मानव-भविष्यमें भी उत्तरदायित्व वहनकी शक्ति नहीं, जब-तक कि व्यक्तिका अहं उद्दीप्त होकर सबके वहनका दायित्व अपने ऊपर नहीं लेता। नहीं, यथार्थको इतिहासकी गतिसे और मानव-भविष्यसे बाँधने-वाला निखरा हुआ मानव व्यक्तित्व ही है (अज्ञेय : 'इतिहासकी हवा' : इन्द्रधनु रौंदे हुए ये)।

यथार्थकी यह दृष्टि, सबसे पहले युग-जीवनके विघटनकी ओर ध्यान आकर्षित करती है। इस संक्रान्ति कालमें मूल्यों और मर्यादाओंका ऐसा स्खलन और विघटन हुआ है कि कविके स्वरमें अनेक बार निराशा और अवसाद ध्वनित होता है। वह युगके अन्धकारमें घुटते हुए जीवनको देखता है और मेज़ोंकी कोरोंपर माथा रखकर रोनेवालोंको आश्वासन देता है कि 'हर एक दर्दको नये अर्थ तक जाने दो' (भारती : 'फूल' मोमबत्तियाँ, सपने')। आजका मनुष्य ऐसी संक्रान्तिकी स्थितिमें है कि उसके लिए जैसे कहीं ठौर ही नहीं हैं, वह मर्यादा-च्युत ऋषि-पुत्र है, वह लुटा हुआ गुमसुम अपने युगको देख रहा है (राजेन्द्र किशोर : 'आजका मनुष्य।) पर' इस जीवनके 'दिमाग़की सीलन'से कवि सतर्क भी करता है और आत्म-विवेकको उससे संघर्ष करनेका आवाहन भी करता है :

> दिमाग़ की पर्तों में सन्धि जो क़ायम है
> उसे और कसो,
> अन्तर की छाया ज्योति को छा लेगी
> किरन की रेखा आ रही आने दो,
> ज्योति टकराने दो,
>
> [लक्ष्मीकान्त : धुएँकी लकीरें]

इस युगका विस्थापित व्यक्ति युगके विकसित मूल्योंको ग्रहण करनेमें अस-मर्थ है, वह समस्त शान्ति और मानव-मर्यादाकी चर्चाके बावजूद अपनी रूढ़ियोंके साथ चिपका हुआ है—'पर जो हुआ सो हुआ इन्हें इससे क्या,

ये तो मेढक हैं, अपनी नालियोंमें बैठे—टरटराते रहेंगे।' (विपिन : 'अखबारका पृष्ठ' धुएँकी लकीरें)।

पिछले जीवनकी कुण्ठित और विजड़ित मर्यादाओंके साथ आजके जीवनकी यान्त्रिक निरीहता भी आजकी कवितामें व्यक्त हुई है। कहीं तो यह केवल अनावृत यथार्थको प्रस्तुत करके ही व्यंजित की गयी है। इनमें सामाजिक (विशेषकर नगरके) जोवनकी विविधतामें उसकी कुण्ठाएँ, कृत्रिमता, नोरसता, बासीपन, झूठ तथा विवशताओंका विस्तृत अंकन किया गया है (अनन्तकुमार पाषाण : 'नाटक', निकष २; 'बम्बईका क्लर्क' : नयी कविता २। देवराज : 'अखबार' 'नाटक' : धरती और स्वर्ग)। वस्तुतः यह यथार्थका कटुतिक्त निराशावादी रूप विवेकहीन, लक्ष्यच्युत आशावादकी अपेक्षा जीवनके प्रति अधिक गहरी दृष्टि देनेमें समर्थ है। यथार्थके ग्रहण करनेमें आजका कवि सुन्दर-असुन्दर, शिव-अशिव, कुत्सित-वर्जित आदि मानकर नहीं चलता, वह समग्र यथार्थको आत्मसात् करके युग-मूल्योंका अन्वेषण करनेमें विश्वास करता है। अज्ञेयकी कविता 'महानगर : रात'में ऐसे ही यथार्थका अंकन है, पर उसके अन्तमें जो गहरी व्यंजना है वह सारे वातावरणको दूसरा धरातल दे देती है। सभ्यताकी समस्त सुविधाओंके बीच सभ्य कहलानेवाले लोगोंसे मानवताकी ओरसे कविने बड़ा मार्मिक प्रश्न किया है :

> और अचानक तुम को ले पहिचान
> अचानक पूछे
> धीरे धीरे धीरे
> "हाँ, पर मानव,
> तुम हो किस लिए ?"

वस्तुतः यथार्थका अनावृत्त वरण करनेके पीछे आजके कविके मनमें यही प्रश्न गूँज रहा है—तुम हो किसके लिए ?

सम्पूर्ण यथार्थको ग्रहण करनेवाली आजकी दृष्टि आधुनिक वैज्ञानिकता तथा बुद्धिवादके आधारपर विकसित हुई है। इस भूमिकाके बिना यथार्थ-का उसके समस्त शिव-अशिव, सुन्दर-असुन्दर रूपमें साक्षात्कार करना सम्भव नहीं था। इस युगकी समस्त कल्पनाएँ, रहस्यभावना, परियों और अप्सराओंका लोक तथा प्रकृतिका सारा कौतूहलपूर्ण आकर्षण धीरे-धीरे विलीन होता जा रहा है। इस कारण आजकी कविता काव्यकी पिछली परम्पराके अनेक क्षेत्रोंको छोड़ चुकी है। काव्यके ये सारे उपकरण पिछले युगोंकी मनोवृत्ति और भावनाओंके निकट थे, और आज सन्दर्भहीन हो रहे हैं। युगकी यथार्थ दृष्टिके सामनेसे वह सारा स्वप्नलोक तिरोहित हो रहा है, और वह अपने जीवनमे अधिकाधिक परिचित होती जा रही है :

बादल के रथ दल पर
जातीं निशि परियाँ अब,
थोड़े से सिकुड़े घन चिन्तन की रेखाएँ :
हर जगने वाले से कहता रसहीन "आज"
"जीवन से परिचित हो।"

[कुँअरनारायण : चक्रव्यूह : 'स्वप्न चित्र']

इस संक्रान्ति-कालमें (गोधूलिकी बेला) यह वैज्ञानिक दृष्टि और उसका यथार्थ, अनेक बार ऐसा भी लगता है, मानव-भविष्यको लौह-यन्त्रकी विवशतामें तमिस्राच्छन्न कर देंगे और मनुष्यकी समस्त कोमल कल्पनाएँ उसके साथ नष्ट हो जायेंगी :

पर लौह-यन्त्र की एक भुजा फैला
जिस दिन मानव उन्हें छू देगा
चांद तारे नष्ट होंगे—
तमिस्र में !

[विपिनकुमार : धुएँकी लकीरें : 'यंत्रस्थ']

पर निश्चय ही यह विज्ञानकी भौतिकवादी परिणति है जो अपनी जड़ यान्त्रिकतामें युरॅपको १९वीं शतीसे कुण्ठित करती आयी है। वस्तुतः वैज्ञानिक युगके प्रारम्भिक उन्मेषमें, मनुष्य ऐसा उल्लसित हो उठा था कि वह स्वयंको अपनी ही जड़ यान्त्रिकताका विवश बन्दी बनाता गया है। यन्त्रोंके इस उत्पीड़नका अनुभव आजका कवि करता है, और वह स्पष्ट देखता है कि इनके द्वारा प्राप्त अवकाशको मनुष्य अपने मूल्योंकी उपलब्धिके लिए लगानेमें असमर्थ है :

यन्त्र हमें दलते हैं
और हम अपने को छलते हैं,

बाहर हैं वे–वही तारे, वही एक शुक्र तारा,
वही सूनी ममता से भरा आकाश है !

['अज्ञेय' : बावरा अहेरी : 'दफ़्तर : शाम']

परन्तु आधुनिक दृष्टि यान्त्रिक-जीवनकी घुटनका अनुभव करके भी पिछले पौराणिक और आध्यात्मिक स्वप्नों और कल्पनाओंसे जीवनकी प्रेरणा ग्रहण करनेमें असमर्थ है, वह वैज्ञानिक यथार्थसे अलग नहीं हट सकती। यान्त्रिक जड़वादसे वह आगे बढ़कर मानवतावादकी प्रतिष्ठा कर रही है, और साथ ही पिछले युगमें मानवतावादके नामपर जो सामाजिक यान्त्रिकताका विकास हुआ था उससे मुक्त होकर वैयक्तिक स्वातन्त्र्यका आवाहन करती है। आजके कविका आग्रह पिछले वायवी और निष्प्राण आदर्शवादके आकाशसे नीचे उतरकर धराकी यथार्थ भूमिपर पैर रखनेका है, क्योंकि इसी मिट्टीपर उसे मनुष्यका साक्षात्कार होगा :

खड़ा मिलेगा
वहाँ सामने तुमको
अनपेक्षित प्रतिरूप तुम्हारा

नर, जिसकी अनझिप आँखों में नारायण की व्यथा भरी!

['अज्ञेय' : इन्द्रधनु रौंदे हुए ये : 'हवाई यात्रा : ऊँची उड़ान']

आधुनिक यथार्थकी यह दृष्टि समसामयिक जीवनको उसकी गतिमें पूर्णतः ग्रहण करती है। यही कारण है कि आजके काव्यमें जीवनकी समग्र विकृतियोंका रूप स्वीकृत रहा है। एक स्थिति ऐसी भी थी जब युग-जीवनकी विकृतियों और कुण्ठाओंके बीच व्यक्ति टूटता या बिखरता दिखाई देता था। पर आजका कवि इन सबको झेलकर उनके प्रति व्यंग्यशील हुआ है। इन व्यंग्योंमें कहीं तिक्तता और गहरे आघातको देखकर नयी कवितामें 'सिनीसिज़्म' का आरोप लगाया जाता है। ऐसा नहीं कि नयी कवितामें 'सिनीसिज़्म' नहीं है, पर विघटित मूल्यों और विस्थापित व्यक्तित्वोंके इस युगमें इस प्रकारकी आस्थाहीनता और उसका आक्रोश आवश्यक है। नये मूल्यों और नये व्यक्तित्वके संगठनके लिए यह आधार-भूमि है। आजकी 'विपर्ययोंकी दुनिया' में ज़िन्दगीकी निष्ठाका रूप ही बदलना सहज है [शकुन्त माथुर : निकष २]। कहीं यह व्यंग्य बहुत सहज शैलीमें युग-जीवनके सत्यका बोध कराता है। संक्रान्ति-कालके इस सम्भ्रममें व्यक्ति और उसका मन विवेकहीन शिशुके समान 'मेलेमें' भटक गया है और प्रत्येक चमकीली चीज़से आकर्षित होकर खुश होता है, परन्तु :

यों : ऐसा हुआ कि : नक़ली फूलों को
मेले में जाकर भूले बच्चे ने
असली से भी कुछ बढ़कर जाना है,

[अजितकुमार : नयी कविता २]

सामाजिक परिस्थितियोंपर व्यंग्य प्रभाकर माचवेके सॉनेटोंमें तथा 'मुक्त' के मुक्तकोंमें विशेष रूपसे मिलेगा, पर प्रायः यह उक्ति और विषयके निर्वाहके रूपमें है। इनमें व्यापक जीवनके सन्दर्भके स्थानपर परिस्थिति-जन्य विरोध अधिक व्यंजित हुआ है :

दाना पानी, कपड़े लत्ते, लेना देना,
बीवी बच्चे···तेली के बरदे-सा हरदम
पिसना घिसना···झाँसा किटकिट, कुछ मज़ा नहीं
ज़िन्दगी तल्ख···ला, लालमुहम्मद एक बढ़ा !

['मुक्त' : यायावर : 'कश']

इसके विपरीत मुद्राराक्षस, अनन्तकुमार, तथा मदन वात्स्यायनमें युग-जीवनकी गहरी उलझनके बीच आधुनिक जीवनकी कुण्ठा, विघटन, मर्यादाहीनता, नग्नता, ढोंग आदिपर गहरा और कठोर व्यंग्य है और वह परिस्थितिगत नग्न यथार्थके विकृत चित्रणमें सन्निहित है। आजके जीवन-का ऐसा घटाटोप और नग्न चित्रण इस काव्यमें अनेक स्थलोंपर मिलता है। उसमें एक ओर असुन्दर तथा कुत्सितका बहुत अंश सिमट आता है और दूसरी ओर अंकनकी क्रमहीनता, शिल्पहीनता आदि प्रमुख हो उठती हैं। अनेक बार सारे काव्यका अर्थ निरर्थक तथा भावहीन थोथा जान पड़ता है और विरोधी आलोचक इस प्रकारके काव्यको प्रमुखतः दृष्टिमें रखकर नयी कवितापर यह आरोप लगाते भी हैं। परन्तु आधुनिकताके सन्दर्भमें यह सम्पूर्ण जीवनको आत्मसात् करनेका आग्रह है, और इस प्रकार नया कवि समसामयिकताके दायित्वका निर्वाह सच्चे अर्थोंमें करता है, क्योंकि वह जीवनकी वास्तविक गतिके अन्दरसे युगके व्यंग्यको अत्यधिक प्रखरता और गहराईके साथ व्यंजित करता है (मदन वात्स्यायन : 'नयी परकीया' : नयी कविता ३; 'एक्सपर्ट : निकष २)। इस गोरखधन्धा लगनेवाले यथार्थके बीच कवि आजके जीवनके विघटित मूल्योंपर व्यंग्य ही उभारता है :

सब के सब
एक्सपर्ट के पाँवों पर एक साथ गिरे,
भूकम्प में मकान की तरह

"पिता ! पिता !
क्षमा करो, रक्षा करो,
हम अब फिर कभी टेकनिकल मामलों में
मानवीय तत्त्वों का नाम नहीं लेंगे।"

[मदन वात्स्यायन : 'एक्सपर्ट']

आजकी नयी कवितामें यथार्थसे उपलब्ध व्यंग्य बहुत बड़ी शक्ति है, जो युग-जीवनके 'सिनीसिज़्म' से सम्बद्ध भी है और उससे उबरकर मानव-भविष्यकी ओर संकेत भी करती है। आजके काव्यमें यह व्यंग्य अनेक स्तरोंपर व्यंजित हुआ है और कवियोंने उसके लिए अनेक शिल्प-विधियोंका प्रयोग किया है। एक प्रकारसे नयी कविताकी यह व्यापक शैली है : यही कारण है कि उसकी अनेक प्रवृत्तियोंके साथ व्यंग्यका माध्यम स्वीकृत रहा है। कभी यह सामाजिक जीवनका व्यंग्य बहुत सीधे सहज ढंगसे कविकी केवल आन्तरिक ईमानदारीके माध्यमसे व्यक्त होता है। भवानीप्रसाद मिश्रके 'गीतफ़रोश' में जीवनके सहज विपर्ययका ही व्यंग्य है, आजका जीवन किन असंगतियों और विरोधाभासोंसे गुज़र रहा है, इसका सहज अंकन 'मैं गीत बेचता हूँ' कहनेवाले कलाकारकी विवशता-में प्रतिफलित हुआ है। भवानीप्रसाद मिश्रको शैली सोधो सरल होकर भी मार्मिक व्यंग्य करती है :

आप बड़े चिन्तित हैं मेरे पिछड़ेपन के मारे,
आप चाहते हैं कि सीखता यह भी ढंग हमारे।
मैं उतारना नहीं चाहता, जाहिल अपने बाने,
धोती कुरता बहुत ज़ोर से लिपटाये हूँ याने।

['जाहिल बाने' : नयी कविता १]

कई बार कवि प्राचीन इतिहास, पुराण तथा साहित्यके चरित्रों और घटनाओंको लेकर उनके माध्यमसे आजके जीवनके विघटित मूल्यों, विस्था-

पित व्यक्तित्वों और झूठे सम्बन्धोंपर गहरा व्यंग्य करता है। बालकृष्ण रावने इसी अपने युग-जीवनके व्यंग्यको महाभारतके युद्धके माध्यमसे व्यंजित किया है :

> भूमि पूजा-द्रव्य ले, नतग्रीव, सादर
> पूछती है, "कौन-सा है शिविर जिसमें
> बैठकर अभ्यास करता है, युधिष्ठिर
> झूठ-सच को साथ कहने, देखने का।"

इसमें अर्जुनका संशय, संजयकी दृष्टि और धृतराष्ट्रकी दृष्टिहीनता सभी युग-जीवनके नये सन्दर्भमें नया अर्थ ग्रहण करते हैं। इस प्रकारकी व्यंजना अधिक व्यापक तथा मार्मिक हो सकी है और उसमें भाव-सौन्दर्य भी अधिक स्पर्शी है। भारतीकी 'बाणभट्ट', 'बृहन्नला', 'टूटा पहिया' आदि कविताओंमें युग-जीवनके सन्दर्भको प्राचीन प्रसिद्ध चरित्रोंके द्वारा व्यंजित किया गया है और आजकी विकृतियोंपर गहरी चोट है। उनके 'अन्धा युग'में महाभारतके अन्तिम समयकी कथाके माध्यमसे संक्रान्ति-युगीन विघटनका बहुत सशक्त चित्रण प्रस्तुत किया गया है, जिसमें आजकी महायुद्धोंके बादकी मर्यादा तथा आचरणका यथार्थ अंकन है। सारी रचनामें क्लॉसिकल गम्भीरताका वातावरण परिव्याप्त है, फिर भी युगका सन्दर्भ बहुत सचाईके साथ व्यक्त हो सका है, इसी कारण इसके अन्तरालमें व्यंग्यकी अन्तर्वर्तिनी धारा प्रवाहित है जिसके माध्यमसे इसमें आगत मूल्योंका आभास मिलता है। अनेक आलोचकोंको उसमें केवल युगकी कुण्ठा, अनास्था, घुटन, कुत्सा तथा आचरणहीनताका उद्घोष मिलता है, पर उन्होंने इस रचनाकी आन्तरिक प्रकृतिको नहीं पहचाना है। कविने संक्रान्तिकी कठोर तथा निर्मम परिस्थितिमें भी मानव-विवेकके उदय तथा मानव-भविष्यकी रक्षाका संकेत दिया है।

आजकी संक्रान्ति और उसका विघटन किसी देश तथा समाजमें सीमित

न होकर संसार-व्यापी है। उसके पीछे सारे विश्वकी राजनीति और अर्थनीति है। आजके कविकी दृष्टि इस व्यापक सन्दर्भको पहचानती है और वह उसकी सारी पीड़ा वेदनाको झेलकर उसके प्रति व्यंग्यशील होता है। यह ऐसा व्यंग्य है जिसमें कविकी अपनी चोट, अपनी व्यथा और अपनी तड़प शामिल है। कभी कवि प्रतीकोंका आश्रय लेता है, पर इन प्रतीकोंमें भाव अथवा चित्र-निर्वाहकी अपेक्षा संवेदनाकी गहराई और अनुभूतिकी मार्मिकता ही अधिक है। इसी कारण अनेक बार सामान्य अर्थमें ये प्रतीक असम्बद्ध, उलझे हुए, अस्पष्ट तथा प्रभावात्मक (इम्प्रेसिनिस्टिक) हैं। परन्तु इस प्रकारकी सफल रचनाओंमें व्यंग्यके तीखेपन और मार्मिकताके साथ ही उच्चकोटिकी संवेदनकी सम्प्रेषणीयता भी है। लक्ष्मीकान्तके इस प्रकारके व्यंग्योंमें यथार्थकी स्थितियोंका बहुत उलझा हुआ रूप है, पर पूरी कवितामें गहरी संवेदनीयता प्रायः रहती है और विशेष बात है कि कवि अन्ततः सारी कटुता तथा कुत्साको आत्मसात् कर मानवताके प्रति गहरी सहानुभूतिका परिचय देता है :

लेकिन पृथ्वी सहनशीला है
जननी है सबकी···
जब दूसरी बार
पृथ्वी-पुत्र उधर से गया
एक चींटी की लाश पर
हज़ारों चींटियाँ मातम मना रही थीं
पृथ्वी के ठोकर
और पनप आये थे !

['पृथ्वीपुत्र' : धुएँकी लकीरें]

अनेक स्थितियोंमें कवि युगकी विवशताका चित्रण मार्मिक ढंगसे करता है। वह आजके आतंकित जीवनके क्षणकी अनमनी तथा बेसुध मनःस्थितिमें

देखता है कि 'काँप रहे केशोंकी चोटीमें एटम बम' हैं, 'माँग-भरी सिन्दूरी आभामें लोहूका भ्रम' होता है, 'बाँह-भरी चूड़ीमें लिपटी रोटी बोटी श्रम' है तथा 'उन हाथोंमें संगीनें हैं जिनमें रचनाका क्रम' रहना चाहिए। इसीके साथ जब वह अप्रचलित और उलझे हुए प्रतीकोंका प्रयोग करता है तब सम्पृक्त जीवनकी व्यंजना करनेमें सफल होता है :

> खो जाने वाली नयी परिस्थिति
> गटर और गीता का संगम
> रथ टूटा है
> अश्व मर गये
> लाश सरीखा सारा बीड़ा....
> ['गीता और गटर' : धुएँकी लकीरें]

जिस प्रकार सर्वेश्वरमें युग-जीवनके प्रति गहरी सम्पृक्ति है, उसी प्रकार वह आजकी समस्याओंके प्रति सबसे अधिक जागरूक कलाकार हैं। उन्होंने अपने युग-व्यापक सन्दर्भमें आजकी राजनीति, राष्ट्रनीति, युद्धनीति तथा गुटबन्दियोंमें कुण्ठित होते जन-मानस तथा मानव-व्यक्तित्वकी स्वतन्त्रताके लिए तीखे व्यंग्यके रूपमें विरोध प्रस्तुत किया है ('सरकण्डेकी गाड़ी', 'पीस पेगोडा', 'कलाकार और सिपाही', 'पोस्टर और आदमी' आदिमें)। इन कविताओंकी विशेषता न केवल उनके तीखे और गहरे व्यंग्यमें है, वरन् मानवीय संवेदनाओंकी कलात्मक प्रेषणीयतामें है। कविने बहुत सहज, पर नये प्रतीकोंके माध्यमसे आजके विघटित होते मूल्योंपर, भ्रामक आस्थाओंपर, मानव-व्यक्तित्वको कुण्ठित करनेवाली शक्तियोंपर, अपने गुटोंके माध्यमसे मानव-भविष्यको गलत दिशाओंपर ले जानेवाले राज-नीतिक दलोंपर तीखा व्यंग्य किया है :

> एक लाश खड़ी करके
> दूसरी लाश उसके सर पर लिटा दी गयी है,

ताकि उसकी छाँह के तले
ठण्डक से ऐंठे हुए
दो बेहोश ज़हरीले साँपों के फन
एक ही कमल की पंखुरी पर
सुलाये जा सकें।

['पीस पेगोडा' : नयी कविता २]

यहाँ इस प्रतीकपर, जो अपने नये तथा उलझेपनके कारण एक साथ व्यंजक तथा आकर्षक है, आजकी युद्धनीति तथा शान्तिकी घोषणाओंका व्यंग्य बहुत सरल और सीधी शैलीमें आधारित किया गया है। सर्वेश्वर अपनी विषय-वस्तु, मान्यताओं तथा शिल्पविधि, सभी दृष्टियोंसे आधुनिक हैं। आजके मानवीय मूल्योंके विघटनको कविने न केवल पहचाना है, वरन् उसकी मार्मिक वेदनाको भी झेला है। आज पोस्टरों (मानव व्यक्तित्वको आक्रान्त करनेवाले थोथे मूल्योंके लोग) के युगमें मनुष्य कैसा अकिंचन लगता है :

और मैं उनके सामने
नन्हा-सा दबा हुआ खड़ा हूँ,
बेजाना, बेपहचाना—

लेकिन मैं देखता हूँ
कि आज के ज़माने में
आदमी से ज़्यादा लोग
पोस्टरों को पहचानते हैं,
वे आदमी से बड़े सत्य हैं।

['पोस्टर और आदमी' : नयी कविता २]

आजके कविकी दृष्टि युगजीवनके यथार्थसे इस प्रकार सम्पृक्त है कि

प्रकृतिके सारे सौन्दर्य-विस्तारमें वह रोमैण्टिक भावके स्थानपर अन्ततः अपनी परिस्थितिके व्यंग्यको ही ग्रहण करता है। प्रकृतिके प्रति आधुनिक कविकी दृष्टि असम्पृक्त यथार्थकी है, जिसके कारण वह एक ओर तो उसे वस्तु-तत्त्वके रूपमें ग्रहण कर केवल अपने मानसिक प्रभावोंके साथ स्वीकार कर लेता है, दूसरी ओर उसमें किसी रोमैण्टिक भावावेशका आरोप नहीं स्वीकार करता। ऐसा नहीं कि प्रकृतिके प्रति सभी नये कवियोंकी समान दृष्टि है, पर रोमैण्टिक सहचरणके स्थानपर उनमें उसकी वस्तुस्थितिको अपने व्यक्तित्वके प्रसारमें समाहित करनेकी प्रवृत्ति विशेष महत्त्वपूर्ण है। गिरिजाकुमार प्रकृतिके सम्पर्कमें रोमैण्टिक मनोभावसे आन्दोलित अवश्य होते हैं, पर यह भाव यथार्थ दृष्टिको आविल नहीं कर पाता, कवि युगकी विषमताके प्रति सचेष्ट हो जाता है :

> हवा को फाड़ते जाते
> उड़न बम-भरे बड़े बममार
> लगाने सभ्यता में आग
> कि जिनकी चील-सी छाया
> किये है सब गगन काला
> खिंची है एशिया औ' हब्श
> युरॅप, शान्त सागर पार

['न्यूयॉर्कमें फॉल' : धूपके धान]

जिस वस्तुनिष्ठ दृष्टिसे आजका कवि प्रकृतिको देखता है उसमें अपने जीवनका व्यंग्य अधिक सामने आ जाता है। 'हवाई यात्रा' (अज्ञेय) में 'कवि फैले हुए पठारको देखता है, जो सलवटकी ओट कन्थाके समान बिछा है, और उसपर काली परती, भूरे ऊसर, तोतापरी खेत गेहूँके, थिगलियोंके समान जान पड़ते हैं।' पर इस चित्रसे उसका ध्यान चौसरके खेलकी ओर जाता है, जोखिम उठानेवाले किसानकी ओर जाता है और अन्ततः नागरिक सभ्यतापर व्यंग्यमें कविता समाप्त होती है :

ऊँचाई कम चलो : शीघ्र ही वायुयान उतरेगा।
बड़े शहर के ढंग और हैं : हम गोटे हैं वहाँ :
दांव गहरे हैं उस चौसर के।

['हवाई यात्रा' : बावरा अहेरी]

नये कवि प्रभाववादी शैलीमें प्रकृतिके साथ जब सामाजिक जीवनको एक साथ ग्रहण करते हैं, उस समय प्रकृति-चित्रोंकी विशृंखलता और भाव-बोधकी उलझन बढ़ जाती है, परन्तु सब मिलाकर जो प्रभाव पड़ता है उसमें व्यंजकता अधिक मार्मिक हो जाती है। यह व्यंग्य प्रायः प्रकृतिके चित्रणके लिए चुने गये विचित्र उपमानोंसे अधिक उभरता है :

पश्चिम की गगन खिड़की के उन नील धुले शीशों पर
आज की बीमार, बुझी
सांझ की ये रोशनियां—
पीले टिंचर की तरह
फैल रहीं, फैल गयीं।
आज तो बीमार सभी,
बेहोश सभी,

[नरेश मेहता : 'बीमार सांझके किनारे' : बनपाखी सुनो]

आजके काव्यमें प्रकृति-सम्बन्धी इसी दृष्टिकोणके कारण कवि उसके सौन्दर्य और सहचरणका उपभोग करता नहीं देखा जाता। जिन कवियोंका रोमैण्टिक मनोभाव उन्हें प्रकृतिके प्रति इस प्रकार आकर्षित करता भी है, उसमें भी आधुनिकताकी मांगके फलस्वरूप यह सारा रस-बोध द्विविधा और उदासीमें बदल जाता है, अथवा वह शुद्ध मनःस्थितिके स्तरपर प्रकृति और कविका सहसंवेदनमात्र रह जाता है जो प्रकृतिके बिम्बचित्रों (इमेजेस्) अथवा प्रभाव-चित्रों (इम्प्रेशन्स) में व्यंजित होता है। गिरिजाकुमार माथुर तथा भारतीमें प्रकृतिका रोमैण्टिक मनोभाव अधिक है, प्रेम और मुक्तिके

क्षणोंको मनःस्थितिमें प्रकृतिका सहचरण उनमें मिल सकता है ('रात हेमन्तकी' : माथुर; 'फागुनकी शाम', 'बसन्ती दिन' : भारती)। परन्तु युगके सन्दर्भने कविको अधिकाधिक यथार्थ दृष्टि दी है, और यह भाव प्रकृति-सौन्दर्यकी मायाके बीच भी कवि व्यक्त करता है :

आज इस वेला में
दर्द ने मुझको और दुपहर ने तुमको
तनिक और भी पका दिया
शायद यही तिल-तिल कर पकना रह जायेगा
साँझ हुए हंसों-सी दुपहर पाँखें फैला
नीले कोहरे की झीलों में उड़ जायेगी

[भारती : 'नवम्बरको दोपहर' : सात गीत-वर्ष]

ऐसा नहीं कि यह भाव नयी कवितासे पूर्णतः बहिष्कृत हो गया है, प्रकृतिके सह-संवेदनसम्बन्धी प्रभाव-चित्रों तथा बिम्ब-चित्रोंमें यह मनोभाव तथा सौन्दर्यबोधका आरोप बिखरे हुए तथा केवल प्रभाव रूपमें अंकित होता है। स्वयं भारतीकी इधरकी प्रकृतिसम्बन्धी कविताओंमें यही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। 'सागरके किनारे' कवि उसके रहस्य-क्रोड़से निकलती हुई नीली रुपहली परियोंकी झिलमिलाती मायाकी जो विलासमयी रंगरलियाँ देखता है, उससे उसके मनमें सौन्दर्य-समर्पणकी एक निष्काम स्मृति-जगमगाहट मीठे स्वप्नके बोझकी अनुभूति-भर रह जाती है। और वस्तुतः कल (बादमें) उसके मनके रूपमें, कविकी मनःस्थितिमें :

जब ये मिचमिचाती लहरें चकित-सी जागेंगी
जब इनके गुलाबी चेहरों की चटखती ताज़गी में
मुसकरायेंगी छिपी प्रेम लीलाएँ :

[कुंअरनारायण : 'सागरके किनारे' : चक्रव्यूह]

आजका कवि अपने सारे अस्तित्वके साथ जो उपलब्ध करता है उसीको प्रेषणीय बनाता है, अतः उसकी सौन्दर्यकी दृष्टि तथा प्रेमकी भावना इतने विस्तृत सन्दर्भके साथ प्रस्तुत होती है कि उसमें रोमैण्टिक व्यक्तिगत सीमाओंका अतिक्रमण हो जाना सहज है। इसके साथ ही मनःस्थितियोंके बदलते रूपोंके साथ एक ही भावकी क्रमिकता नहीं बनी रह पाती, अनेक भाव और संवेदनाएँ एक-दूसरेसे उलझ जाती हैं। यही कारण है कि व्यक्तित्वकी समग्रतामें यह प्रेम और सौन्दर्य भिन्न स्तर ग्रहण कर लेता है, अस्तित्वकी उपलब्ध करनेकी आकांक्षामें उनकी सारी व्यंजना बदल जाती है :

दो मुझे :
वह मन्त्र
जिससे यह तुम्हारा सरल, पहला जहर
तल को काट दे,
गहरा बना दे,
और मुझको सोख ले
यह तुम्हारा छलछलाता, प्रखर, निर्मल प्यार,
और मेरा डूब जाने को उमगता ज्वार !

[विजयदेवनारायण साही : 'दोपहर : नदी स्नान' : निकष १]

आजका कवि प्रकृतिका (इसी प्रकार किसी भी स्थितिका) वर्णन नही करता और न उससे ग्रहण की हुई अनुभूतियोंको अभिव्यक्त करता है। वह केवल जीवन अथवा अपने अस्तित्वके प्रसारमें प्रत्येक अनुभूत क्षण-की संवेदनाको प्रेषणीय बनानेका प्रयत्न करता है। इसी कारण वह चित्रण न करके प्रभाव-चित्रों और बिम्ब-चित्रोंका सर्जन करता है, जिनमें उसकी संवेदनाके साथ बाह्यप्रकृति एकरूप हो जाती है। ऐसे चित्रणकी सीमा बहुत विस्तृत है। कहीं प्रकृतिका यह अंकन दृश्य-विधान मात्र प्रस्तुत करता

है, इसका अनलंकरण अथवा नये उपमानोंकी योजना नयी काव्यरुचिके अनुकूल पड़ती है :

तालों के जाल
घने, कहीं लदे-छदे
कहीं ठूँठ तने, केलों के कुंज
बने सीसल की मेंड़ बँधे ।

['अज्ञेय' : 'मलाबारका एक दृश्य' : बावरा अहेरी]

कभी इसी प्रकारके सहज दृश्य-विधानमें कवि आन्तरिक संवेदनकी गहराई-की एक झलक भी देता है :

नखत को वह क्षीण परछाइँ
छू गयी हर एक रग जी की ।

[जगदीश गुप्त : 'नखतकी परछाइँ' : नावके पाँव]

परन्तु नयी कविताकी मौलिक प्रवृत्तिमें दृश्यविधान एक ओर वस्तुनिष्ठ खण्डचित्रोंमें उपस्थित होता है, और दूसरी ओर उसीके साथ भावात्मक संवेदनकी मनःस्थितियाँ भी व्यंजित होती हैं । विविधताके बावजूद भी कवितामें प्रभावकी एकता बनी रहती है और अन्ततः जीवनकी गहन व्यंजना भी अन्तर्निहित हो जाती है :

दूर, यमुना पार···
जा कर
टिमटिमाती बत्तियों में
मिल गयी वह ज्योति-माला···
—अभी कुछ ही क्षण प्रथम जो
सेतुपथ दिखला गयी थी ।

[श्याममोहन श्रीवास्तव : 'दूर यमुना पार' : नयी कविता ३]

कभी कवि चित्र और भाव-स्थितिको एक बिम्बके रूपमें प्रस्तुत करता है ।

चित्रांकनकी शैलीमें वर्ण्य-विषय कविके लिए कितना ही व्यक्तिगत होनेपर भी उसके चेतन अस्तित्वके अंगके रूपमें नहीं रहता है, साथ ही उसमें दृष्टि वस्तुनिष्ठ होकर भी असम्पृक्त नहीं हो पाती है। इसके विपरीत नयी कविताकी प्रभावशील बिम्बशैलीमें दृश्य और कविकी चेतना एक ही स्तरपर संवेदनके एक ही बिम्बमें अन्तर्भुक्त हो जाते हैं :

सहस जलधि की कोख में
आलोक का आघात
मानो भोर का संकेत
मेरी यह हँसी भी है नहीं
उस सूर्य की परछाइयों की धूल—

[श्रीराम वर्मा : 'आलोकका आघात' : नयी कविता ३]

दृश्य-बोध तथा मनःस्थितियोंका यह बिम्ब एक ही अनुभूतिके क्षणको संवेदित करता है। कभी इस प्रकारके बिम्बोंमें रूपात्मक अंकनकी पूर्णता रहती है, और सहज जीवनकी व्यंजना उसमें अवैयक्तिक रूपसे सन्निहित रहती है, अवैयक्तिक इसलिए कि कवि स्वयं उपभोक्ता रूपमें प्रस्तुत न होकर अपनी अनुभूत उपलब्धिको असम्पृक्त भावसे प्रेषणीय बनाता है। सर्वेश्वरकी 'भोर' नामक कवितामें ऐसा बिम्ब-चित्र है, जिसमें कवि उस कोमल भावको अन्तर्निहित कर देता है जिसे उसने अनुभूत किया है, जिसने उसे छूआ है :

धरती पर,
नदियों के जल में,
गिरि तरु के शिखरों से ढर-ढर कर
सब सेंदुर फैल गया।

[सर्वेश्वरदयाल : नयी कविता २]

इस प्रकार रूपात्मक चित्रोंमें भी कवि केवल दृश्य-विधान नहीं करता,

वरन् अपने-आपको कहीं किसी स्तरपर व्यक्त करना चाहता है। सरल उपमानोंके स्थानपर जब अपरिचित उपमान या रूपक प्रयुक्त होते हैं तो बिम्ब अपने वैचित्र्यमें अधिक व्यंग्यपूर्ण हो जाता है (लक्ष्मीकान्त : 'आईना' : धुएँकी लकीरें)। कभी जीवनका व्यापक सन्दर्भ आ जानेसे बिम्ब-चित्रोंमें संवेदनाकी अधिक गहराई और अर्थकी व्यंजना आ जाती है :

किरन जो डूबी उस डूँगर पार
चीं-चीं कर गोल बना
लट-सी वह
पश्चिम में उड़ी रँगपाती
क्योंकि वेदना सही नहीं !!

[नरेश मेहता : 'यहीं कहीं' : बनपाखी सुनो]

इस दृश्य-विधानमें भावात्मक चित्रणके साथ विशेष अर्थकी व्यंजना भी है। 'अज्ञेय'की 'सूर्यास्त' तथा 'दूर्वाचल' नामक कविताओंमें प्रकृतिके साथ कविकी भावात्मक उपलब्धिका असम्पृक्त बिम्बांकन है :

पार्श्व गिरि का नम्र, चीड़ों में ?
डगर चढ़ती उमंगों-सी।
बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा।
विहग-शिशु मौन नीड़ों में
मैंने आँख-भर देखा।

['दूर्वाचल' : इन्द्रधनु रौंदे हुए ये]

यहाँ कविका 'आँख-भर देखना' सारे प्रकृति-दृश्यको आत्मोपलब्ध करना है, वह दृश्यके साथ प्रकृति चेतनासे कुछ क्षणोंके लिए अभिन्न हो गया हो जैसे। पर आजका कवि न प्रकृतिके साथ सहचरण कर पाता है और न उसके सौन्दर्यका उपभोग ही करता है, क्योंकि उसके अभिभूत करने-वाले सौन्दर्यके सम्मुख कविको, 'वेदना-शून्य मनकी तर्कातीत स्वीकारने-

की स्थितिसे सिहरकर कहना होता है—नहीं, फिर आना नहीं होगा।'
कवि कभी प्रकृतिके भावमय तथा आत्मलीन बिम्ब-चित्र प्रस्तुत कर अपनी अनुभूतिके भावोद्रेकसे अभिभूत जान पड़ता है, जो उसकी मन:स्थिति पहले प्रकृतिके बिम्बमें समाहित थी, वही प्रत्यक्ष व्यक्त हो जाती है :

कामना,
कुछ व्यथा,
भावों की, सुनहली उमस,
चंचल कल्पना,
यह रात और एकान्त···

[कुँअरनारायण : 'ओस-न्हाई रात' : चक्रव्यूह]

यहाँ प्रारम्भिक बिम्बोंमें प्रकृति निरपेक्ष जान पड़ती है, पर अन्तमें कविकी मन:स्थितिकी व्यंजनाने सारे चित्रमें उसी भावनाको प्रतिघटित कर दिया है। कुछ बिम्ब-चित्रोंमें कल्पनाकी इतनी पूर्णता और शिल्प (उपमान-योजना) का इतना सन्तुलित निर्वाह मिलता है कि वे अपने-आपमें सुन्दर होकर भी आजके प्रभाववादी बिम्ब-विधानसे अलग पड़ जाते हैं। (जगदीश गुप्त : 'सिन्दूरी सवेरा' : नावके पाँव)। अनेक बार प्रभावात्मक बिम्ब-ग्रहणमें चित्र-खण्डोंके स्वतन्त्र संयोग, बदलती हुई मन:स्थितियों, नयी प्रकारकी उपमान-योजनाके कारण वैचित्र्यका आग्रह जान पड़ता है। वैचित्र्य, वैचित्र्यके लिए मानकर लिखनेवालोंकी कमी नये कहलानेवाले कवियोंमें नहीं है। पर जहाँतक नयी कविताकी प्रवृत्तिका प्रश्न है, यह वैचित्र्यका आग्रह काव्यकी अपनी स्थितिके कारण है। इस वैचित्र्यके माध्यमसे कवि अपनी मन:स्थितिकी उलझन, युग-जीवनकी विषमता, तथा अपनी वैयक्तिक अनुभूतिको व्यंजित करना चाहता है। (अनाम : 'तिलमिलाती सन्ध्या' : नयी कविता ३; लक्ष्मीकान्त : 'भोरका धुँधलका, मूँजका चाँद' : धुएँकी लकीरें)।

आजकी नयी कवितामें कवि अपने अहं और व्यक्तित्वको सारी उपलब्धिका माध्यम स्वीकार करता है। यही कारण है कि वस्तु तथा उसकी स्थितिसे अधिक कविके लिए अपनी उस मनःस्थिति तथा अनुभूतिका महत्त्व है, जिसके द्वारा वह उनको ग्रहण करता है। आजकी कवितामें अनुभूत क्षण इसी कारण अधिक प्रमुख है। कविका बिखरा हुआ अस्तित्व न जाने कितनी दिशाएँ ग्रहण करता है और न जाने कितने अनुभव एक साथ करता रहता है, इस कारण जब वह अपने काव्यमें किसी अनुभूत क्षणको पकड़ना चाहता है, उसे प्रेषणीय बनाना चाहता है, तब उसमें बाह्य दृष्टिसे बिखराव तथा स्पष्टताका लगना स्वाभाविक है। उसके आन्तरिक भाव-बोधको ग्रहण करनेके लिए कविके अनुभवका किसी अर्थमें पुनः साक्षात् करना होगा। प्रकृतिके अतिरिक्त अनेक जीवन और जगत्‌की स्थितियोंके प्रति कवि इसी प्रभावशील ढंगसे संवेदित होता है और वस्तुस्थितियोंके असम्पृक्त बिम्बोंमें अपनी चेतनाके विषय-प्रवाहको सन्निहित कर देता है। चतुर्दिक् फैले हुए बाह्यमें कविका अस्तित्व व्याप कर उसके अनासक्त रूपमें अपने संवेदनकी स्थितियाँ भाव-चित्रोंमें बिखेर देता है :

> चिलचिलाती धूप
> ऊँघते बरगद की छाँह
> गोमतीका मटमैला पानी
> लहर ले रहा है।

[श्याममोहन श्रीवास्तव : 'एक याद' : नयी कविता २]

इसी प्रकारके खण्ड-चित्रोंके साथ कवि 'जाने कबसे आ रही है एक याद' की मनःस्थितिमें अस्पष्ट-सा अनुभव कर रहा है 'कुछ शान्ति कुछ अवसाद····कुछ दुःख कुछ आह्लाद'का, अजब-सी मिली-जुली भाव-स्थितिका, जो केवल प्रक्षेपित हो सकती है, व्यक्त नहीं। फिर भी इस अंकनमें दृश्य-बोधकी प्रधानता है, पर अन्य स्थितियोंमें संवेदनकी स्थितियाँ प्रधान होकर बाह्यको अपने अन्तर्गत आत्मसात् कर लेती हैं :

बदल-बदल सामने यों तसवीरें आती हैं;
अनजानी गन्ध एक मिट्टी से उठती है,
छाती है,
जमती है,
फटती है।

[नित्यानन्द तिवारी : 'अजानी गन्ध' : नयी कतिता ३]

अनेक बार वस्तुस्थितियोंके प्रभाववादी चित्रणोंमें वैचित्र्यके माध्यमसे कवि जीवनके सन्दर्भमें कोई गहरी व्यंजना समाहित करता है (ऐसे चित्रण शमशेरबहादुर सिंहकी कवितामें विशेष रूपसे पाये जाते हैं) अथवा युगजीवनके प्रति व्यंग्य करता है (लक्ष्मीकान्तकी कविताओंमें ऐसा अधिक है, 'मेला : एक इम्प्रेशन' : धुएँकी लकीरें)

आजके कविके सामने महत्त्वपूर्ण प्रश्न अनुभूतिकी प्रक्रियाका है। जैसा कहा गया है, नये कविके लिए अनुभूति और अभिव्यक्तिकी सारी प्रक्रिया आत्मोपलब्धिके रूपमें गृहीत है। समग्र यथार्थको ग्रहण करनेमें कविके व्यक्तित्वकी सीमा सामने आती है, क्योंकि अनुभूत सत्य विराट् है। पर कवि अपने जीवनसे तादात्म्य सत्यको किसी महत्त्वपूर्ण क्षणमें उपलब्ध करनेका विश्वासी है :

चाहूँ भी तो कब तक छाती से दबाये
यह आग मैं रहूँगा ?
आज तुम शब्द न दो, न दो
कल भी मैं कहूँगा।

['अज्ञेय' : 'आज तुम शब्द न दो' : बावरा अहेरी]

यह उसका आत्म-सत्य अनुभवके विस्तारमें उसकी समर्थतामें बँधा रहकर भी उसका नहीं रह गया है, उसको व्यापक सन्दर्भ मिल चुका है। इस विषयमें शब्दोंकी भी कठिनाई है, क्योंकि वे 'सीमित हैं और कुछ अर्थ हैं

जो शब्दातीत है।' आन्तरिक अनुभूतिकी व्यथा पूरी तरह व्यक्त नहीं हो पाती ('अज्ञेय' : 'जो कहा नहीं गया' : बावरा अहेरी)। आजके कविके लिए भाषा भी एक बाधा है, भाषा अनुभवकी एकतानतामें अवरोध उत्पन्न करती है, उसके और उसके अनुभूत विषयमें जो मौन अखण्डता है उसको भाषा अभिव्यक्त करनेमें असमर्थ है। इसी कारण कवि पहले भाषाको वस्तुके समान तोड़-फोड़ डालनेका आग्रह प्रकट करता है, पर अपने-आपको व्यक्त करनेका अन्य कोई माध्यम भी क्या है ? अतः बच्चोंके समान उसी भाषाको उसे फिर समेटना-सँजोना पड़ता है। वह आत्मचेतनासे व्याप्त बाह्यको अनुभूत कर अपने ही अस्तित्वके नये अर्थोंको प्रकाशित करता है। वस्तुतः आजकी कविताका पाठक-श्रोता स्वतः कवि है, कविताके माध्यमसे वह कविके अनुभूतको ग्रहण करता है :

> तुम्हें आश्चर्य होगा यह जान कर
> कि कवि तुम हो.........
> और मैं केवल कुछ निस्पृह तत्त्वों का एक नया समावेश,
> तुम्हारी कल्पना के आसपास मँडराता हुआ
> जीवन की सम्भावनाओं का एक दृढ़ संकेत.........

[कुँवरनारायण : 'माध्यम']

अभिव्यक्तिकी कठिनाईके विषयमें कवि स्वतः सचेष्ट हैं (जगदीश गुप्त : 'अभिव्यक्तिका संकट' : नावके पाँव)। कविकी 'आकांक्षा' क्षितिजके स्वप्न देखनेकी है जो अपने-आपको अपने-आपसे बाँधता है, और यह वस्तुके अन्तःसाक्षात्कार-जैसी स्थिति है (विपिन : 'आकांक्षा' : धुएँकी लकीरें), वस्तु-सत्यसे भाव-सत्यको महत्त्व देनेकी बात है। वस्तुतः यथार्थकी छोटीसे-छोटी स्थितिमें जीवनका पूर्ण अर्थ बँटा हुआ है और उसको सम्पूर्णतः किसी क्षणके अनुभवमें ग्रहण किया जा सकता है (कुँवरनारायण : 'थोड़े-से शब्द-में' : चक्रव्यूह)।

अपने-आपको अभिव्यक्त करनेकी विकलता आजकी कविताकी विशेष मनःस्थिति है। कवि अपने अस्तित्वके अंशको अभिव्यक्ति देना चाहता है और सर्जनकी प्रक्रियामें वेदना तथा विकलताकी स्थिति सहज है :

धरती के अनादि चिन्तन में
एक अंश अकुलाये····
इस उद्भव की एक विकलता
मुझको खो जाने दो।

[कुँवरनारायण : 'मिट्टीके गर्भमें' : चक्रव्यूह]

सर्जनकी पीड़ा बिना स्वीकार किये आत्मोपलब्धिकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। कविका अहं (व्यक्तित्व) सत्यकी विशाल वेदनाको आत्मसात् करनेका जन्मजात संस्कार लेकर उत्पन्न हुआ है, और अभिव्यक्तिकी पीड़ा उसीका अंकुर है (नरेश मेहता : 'प्रार्थना' बनपाखी सुनो)। वस्तुत : अनुभूतको अभिव्यक्ति देनेका प्रश्न कविके लिए मन्थनका प्रश्न है, क्योंकि उसमें 'किसी मर्मस्पर्शी शब्दसे या क्रियासे' वह अपने सम्पूर्ण अहं (अपने भावों, अभावों) को व्यक्त करना चाहता है जो अपने-आपमें सर्जनकी कठोर प्रक्रिया है (दुष्यन्तकुमार : 'अभिव्यक्तिका प्रश्न' : सूर्यका स्वागत)। और अहंकी यह अभिव्यक्ति पूर्णतः अपने-आपको दे डालनेका संकल्प है (जो कवि दे नहीं पाया है), जहाँतक अपनेको व्यक्त नहीं कर सका है, यही बेबसी उसे सालती है। अपनेको निःशेष दे डालना ही सच्ची अभिव्यक्ति है, जिसमें वह अपनी 'पराजयको भी समुद दे' सकेगा (अज्ञेय : 'एक दिन जब' : इन्द्रधनु रौंदे हुए ये)। आजका कवि प्रकाशसे अधिक 'धुआँ, कड़आहट, धुँधलापन' को महत्त्व देता है, क्योंकि उसकी अनुभूतिमें सन्निहित वेदना उसे जीवनकी दृष्टि देती है। अपनी आन्तरिक वेदनाकी अभिव्यक्तिमें कवि किसी बड़े और व्यापक सत्यको वाणी देना चाहता है :

शायद कल
मेरी आत्मा का निष्प्राण देवता
अपने चक्षु खोल दे।
शायद कल,
मेरे गूँगे स्वरों के सहारे
कोटि-कोटि कण्ठों की खोयी शक्ति बोल दे।

[सर्वेश्वर : 'काठकी घण्टियाँ']

आजका कवि अपनी अभिव्यक्तिके प्रति पूर्ण ईमानदार है। एक ओर वह अपनी यथार्थ दृष्टिको रुद्ध नहीं होने देता, दूसरी ओर समसामयिकता-के दायित्वके प्रति पूर्ण सजग है। इसके साथ ही वह अपनी सीमाओंके प्रति भी जागरूक है। सागरका सत्य अगाधता है, नदीका मर्यादा तथा आकाशका व्याप्ति। फिर 'जितना तुम्हारा सच है, उतना ही कहो', अपने सत्यके अनुकूल आचरण करो :

तुम नहीं व्याप सकते; तुममें जो व्यापा है
उसीको निबाहो।

['अज्ञेय' : 'जितना तुम्हारा सच है']

इस सत्यकी अभिव्यक्ति अपने व्यक्तित्व तथा बाह्यके यथार्थको ग्रहण करके ही की जा सकती है, और इस सौन्दर्य सर्जनकी प्रक्रियाके अन्तर्गत समस्त असुन्दर, अशुच, उच्छिष्ट स्वीकारा गया है ('अज्ञेय' : 'हमने पौधेसे कहा' : इन्द्रधनु रौंदे हुए ये)। अनुभवके लम्बे विस्तारमें सर्जनका अनुभूत क्षण कभी ही आता है, यह क्षण अपनी उपलब्धिमें लम्बा नहीं होता। पर सर्जनका यह क्षण अभिव्यक्तिकी प्रक्रियामें बरसों ले सकता है—'बरसपर-बरस बीतें, एक मुक्ता-रूपको पकते' ('अज्ञेय' : 'सर्जनाके क्षण')। जीवनके बहुत साधारणमें वह अनुभूति तथा उपलब्धिका क्षण आता है, पर उसके लिए कवि अपनेको प्रस्तुत पाता है :

मैं प्रस्तुत हूँ,
इन कई दिनों के चिन्तन औ' संघर्ष बाद,
यह क्षण जो अब आ पाया है,
उसमें बँध कर मैं प्रस्तुत हूँ,
तुमसे सब कुछ कह देने को।

[कीर्ति चौधरी : 'मैं प्रस्तुत हूँ' : नयी कविता ३]

और इस अनुभूत क्षणकी काव्योपलब्धि सर्जन प्रक्रियाके साथ सन्निहित है। कवि अपने सर्जनकी स्थितिमें इस रसबोधको प्राप्त करता है, और जब वह अपनी कृतिमें उसे अभिव्यक्त कर उससे अलग, असम्पृक्त हो जाता है, तब 'दूर कहींपर, हाय मर्ममें कोई बिंध जाता है।' उसी रस-बोधको पाठक ग्रहण करता है ('अज्ञेय' : 'आखेटक' : इन्द्रधनु रौंदे हुए ये)। अभिव्यक्तिकी सारी पीड़ा झेलनेके बाद, लू, और पाला सहनेके बाद नवसर्जना (अंकुर फूटने) का आनन्द ही और होता है :

किन्तु जब मेरी छाती फोड़ कर अंकुर एक फूटेगा
और भोली गर्व-भरी आस्था से निहारेगा,
तब—उस एकमात्र क्षण में—

['अज्ञेय' : 'मरु और खेत' : इन्द्रधनु रौंदे हुए ये]

परन्तु यह उपलब्ध क्षण (अनुभूति) अभिव्यक्तिके अभावमें व्यर्थ चला जाता है—'तो वह धब्बा भी अर्थहीन ही मर जायेगा !' (लक्ष्मीकान्त : 'धब्बा' : धुएँकी लकीरें)। मात्र अनुभूतियोंको ग्रहण करना कलाके लिए पर्याप्त नहीं है, अपने संस्कारोंसे ऊपर उठकर यथार्थको स्पर्श करनेमें ही उसकी सार्थकता है—'काश यह भर पाता, तो····लहर होता महा-सागरकी ! (लक्ष्मीकान्त : 'स्पंज' : धुएँकी लकीरें)। कविके सर्जक व्यक्तित्वकी पीड़ा, सचाई, यति, आस्था और उसका पावन विश्वास उसके व्यक्ति-मनसे ऊपर है, वह युगसे भी ऊपर है, वह भावी मानवकी

थाती है। अतः उसको वह शब्दोंके माध्यमसे पूर्णतः व्यक्त नहीं कर पायेगा, मूल कृति उसकी यही थाती है, शेष अभिव्यक्ति तो केवल उसकी अनुकृतिमात्र है :

अन्तराल है वह–नया सूर्य उगा लेती है,
नये, लोक, नयी सृष्टि, नये स्वप्न देती है,
वह मेरी कृति है
पर मैं उसकी अनुकृति हूँ;
तुम उसको मत वाणी देना।

[सर्वेश्वर : नयी कविता २]

आजका कवि अपनी अभिव्यक्तिके नये भाव-बोधके प्रति सचेष्ट है। अभिव्यक्तिकी कठिनाईके सम्बन्धमें शब्दोंकी सीमा और भाषाकी बाधाका उल्लेख किया गया है। प्रयोगशीलताका भी यह आग्रह था कि नये युगके सन्दर्भमें, भाव-बोधकी नयी स्थितियोंमें भाषा और शैलीका परम्परासे प्राप्त प्रयोग असमर्थ सिद्ध होगा। अनुभूतिकी बदली हुई दिशाओंको व्यक्त करनेके लिए नये शब्द, विधान और नये शिल्पकी आवश्यकता है। कविके शब्द विद्रोह करते हैं, वास्तवमें वे अब उसकी संवेदनासे अभिन्न होकर उसको अभिव्यक्त करनेके लिए ही विद्रोह करते हैं। आज शब्द और कविका व्यक्तित्व अभिन्न हो गया है—

···कहते हैं हमें सिर्फ़ अपने ही हक़ में
बरतना बन्द करो, हमको अब दीवारों का नहीं
मैदानों का छन्द करो, हमें फैलाओ जैसे किसान
फैलाता है बीजों को, ठहर कर सोचना पड़ता मुझे
शब्दों की नयी तरह, घरियों को, तमीज़ों को
यानी अब, मैं और मेरे शब्द, अलग-अलग
नहीं हैं, एक हैं।···

[भवानीप्रसाद मिश्र : 'शब्दोंके महल' : नयी कविता २]

पुराने छन्द, उपमानों, रूपकों तथा भाषा-शैलीको लेकर कवि उदास होता है, क्योंकि उसके नये उगते हुए भाव-सत्यको उनसे अभिव्यक्ति नहीं मिल सकेगी। पर कविकी अपनी ही सर्जन-प्रक्रिया नये सन्दर्भोंको ग्रहण कर अभिव्यक्तिका माध्यम ढूंढ़ लेगी :

ठहरो ! ठहरो ! ठहरो ! ठहरो ! हम आते हैं
हम नयी चेतना के बढ़ते अविराम चरण !
हम मिट्टी की अपराजित गतिमय सन्तानें,
हम अभिशापों से मुक्त करेंगे कवि का मन !
[भारती : 'कवि और अनजान पगध्वनियाँ' : ठण्डा लोहा]

यह नया सन्दर्भ ही आजकी कविताके शब्दोंकी पुकार है, कवि अपनी आन्तरिक अभिव्यक्तिकी शक्तिसे शब्दोंको नया अर्थ, नया भाव-बोध दे सकेगा (दुष्यन्त : 'शब्दोंकी पुकार' : सूर्यका स्वागत)। इस अनुभूतिको नया अर्थ और नया रूप देनेके लिए अन्दरके ज्योति-कण (संवेदन) अपेक्षित हैं। (जगदीश गुप्त : 'ज्योति-कण' : नावके पाँव)। संक्रान्तिके युगमें विघटित मूल्यों तथा मर्यादाओंके बीच नयी सम्भावनाओंकी भूमिका-पर अवतरित होते कविके लिए नयी सौन्दर्य-दृष्टिकी अपेक्षा है :

ओछी नहीं है दुनिया
मैं फिर कहता हूँ—
महज उसका
सौन्दर्यबोध बढ़ गया है।
[सर्वेश्वर : 'सौन्दर्य-बोध' : नयी कविता ३]

अंकित युगजीवनके व्यंग्य-चित्रोंकी भूमिकामें यह सौन्दर्यबोध कविकी यथार्थ-को ग्रहण करनेकी नयी दृष्टि ही है। आजके बदले हुए युग-सन्दर्भमें वाणी-की अभिव्यक्तिने नये काव्य-रसकी सृष्टि की है जो काव्य-युगीन परम्पराओं-से भिन्न है। यह नया रस कविकी आन्तरिक प्रक्रियासे व्यंजित होता है

(भारती)। काव्यने परम्परासे मोड़ लिया है और आज उसने बिलकुल भिन्न दायित्व स्वीकार किया है। पहले काव्य आनन्द अथवा रसास्वादन-के लिए रचा जाता था, पर आज वह युग-जीवनकी समस्त पीड़ा तथा वेदनाको वहन कर, मानव-भविष्यका पथ प्रशस्त करनेका माध्यम हो गया है :

ऐसे किसी अनागत पथ का
पावन माध्यम-भर है मेरी
आकुल प्रतिभा, अर्पित रसना
गैरिक वसना।

[भारती : 'मेरी वाणी' : नयी कविता १]

आजका कवि प्रकाशके बजाय छायासे बात कह लेनेको अधिक पहुँच मानने लगा है, इस प्रकार उसकी परम्परा नयी है (विपिन : 'मोटर, लाल बत्तियाँ और अभिमान')। वह चतुर्दिक्के सहज जीवनको काव्यका विषय और उपकरण मानता है, इसीलिए परम्परावादीपर वह सरल व्यंग्य करता है : 'हवामें झूमते हुए केलेके बड़े-बड़े गाछ' और 'सोते बालकके बिनचले पैर, गोल-गोल गाल' अपने चित्र बनानेके लिए बुलाते हैं :

और सामने धरे पत्थर में ढले
बुद्ध के अनेकों चित्र
हम बड़ी आस्थाके साथ
बनाते रहे, बनाते रहे !

[विपिन : 'आस्था' : धुएँ की लकीरें]

युगके यथार्थसे विच्छिन्न कलाकारपर यह गहरा व्यंग्य है।

आजके काव्यमें केवल प्राचीन मूल्यों और मर्यादाओंका विघटन ही नहीं हुआ है, वरन् नये मूल्यों और मर्यादाओंको नये कविने अन्वेषणकी

प्रक्रियामें उपलब्ध भी किया है। कुछ मूल्योंकी चर्चा प्रासंगिक रूपसे पिछले विवेचनमें भी आ गयी है, पर अन्तमें नयी कवितामें विकसित होनेवाले मूल्योंकी ओर संकेत करना आवश्यक है। आजका कवि असाम्प्रदायिक मानव-सत्यमें विश्वास करता है, उसके लिए देश और जातिसे ऊपर इस सत्यकी स्थिति है। जीवनकी स्वीकृति, उसके प्रति आस्था और विश्वास नयी कविताकी व्यापक भावना है। जीवनमें जानेका अटूट आग्रह लेकर कवि चला है :

अभी तो जूझ लेने का प्रलोभन,
शून्य से भी जूझ लेने का नियोजन,
फिर कभी क्या मिल सकेगा ज़िन्दगी में
ज़िन्दगी से भी बड़ा कुछ ?

[कुँवरनारायण : 'कुछ नहीं वाली पहेली' : चक्रव्यूह]

प्रत्यक्ष मृत्युसे जूझनेवाला कवि भी जीवनके ममत्वको आग्रहपूर्वक धारण किये हुए है, पर यह ममत्व मोहसे भिन्न ज़िन्दगीके लिए लड़नेकी सबल चुनौती है :

मृत्युकाम बन कर न तुम्हें ललकारा मैंने
विजयकाम बन उबला था विद्रोह !

[सूर्यप्रताप : 'अपराजित' : आस्था]

जीवनकी यह स्वीकृति मनुष्यका वह दायित्व है जो उसके समूचे परिवेशमें मानव-मूल्योंको गति प्रदान करता है।

आधुनिकताकी विकसित भावभूमिपर मूल्योंकी स्थापना प्राचीन मर्यादाओंको तोड़कर नयेके स्वागतके माध्यमसे हो सकेगी। यह नयेका स्वागत 'नयी पीढ़ीका गीत' (दुष्यन्त) है जिसके द्वारा कवि समस्त नये विकसित होते मूल्योंका उद्‌घोष करता है। युग-सत्यको आत्मसात् करनेका आग्रह, और सत्यको निरावरण ग्रहण करनेकी निष्ठा आजके कविमें

है (दुष्यन्त : सत्यान्वेषी, श्याममोहन : संकल्प) । आजका कवि मानव-मुक्तिका आग्रही भी है। पिछले युगोंमें उसके व्यक्तित्वपर संकट रहा है, वह नियतिके हाथोंका खिलौना रहा है। पर आज वह बन्धनोंको तोड़कर मुक्त होना चाहता है। जो अपनी शक्तिसे दूसरोंको आक्रान्त करना चाहते हैं, वे ही इस मानव-व्यक्तित्वकी स्वतन्त्रतासे भयभीत होते रहे हैं ('अज्ञेय' : 'पश्चिमके समूह-जन' : इन्द्रधनु०; भारती : 'ग़ुलाम बनाने-वाले') । मानवके पूर्ण विकासके लिऐ उसे मुक्तिका हक़ मिलना ही चाहिए, अन्यथा वह कुण्ठित हो जायेगा। यह हक़ मानवके विकासकी परम्पराको अग्रसर करनेके लिए चाहिए :

माटी को हक़ दो—वह भींजे, सरसे, फूटे, अँखुआये,
इन मेड़ों से ले कर उन मेड़ों तक छाये,
और कभी हारे,
(यदि हारे)
तब भी उसके माथे पर हिले,
और हिले,
और उठती ही जाये—
यह दूब की पताका—
नये मानव के लिए !

[केदारनाथ सिंह : 'फूलको हक़ दो' : नयी कविता २]

वास्तवमें यह मुक्ति व्यक्तिकी नहीं, वरन् व्यक्तित्वकी है। इस स्वतन्त्रतामें मानव, सहज मानव अथवा लघु मानवको पूर्ण उपलब्धिका अवसर मिल सकेगा। अबतक मनुष्यकी स्वतन्त्रताके नामपर वर्ग, दल, राष्ट्रकी सामूहिक शक्ति अथवा शक्तिमान् नेता मानव-व्यक्तित्वको शासित और नियन्त्रित करते रहे हैं। पर आजका कवि सहज मानव (लघु मानव) की स्थापना करना चाहता है जो अपनी पूर्ण उपलब्धिमें समष्टिको ही सार्थक करता है,

वह स्वयं उसी प्रकार स्वतन्त्र रहना चाहता है और दूसरोंको मुक्त करनेमें अपनी स्वतन्त्रताकी सार्थकता मानता है। (नरेश : 'बनवासें' : बनपाखी सुनो; विपिन : 'जब हवा चली' : धुएँकी लकीरें)। इस पथपर वह सत्यकी निष्ठा और आग्रहके साथ आगे बढ़नेके लिए कृतसंकल्प है :

आकांक्षा का मधुर कुहासा,
संशय का तम
करे न ओझल
वह पैना विवेक जिसको
दुश्चिन्ता कोई करे न ओझल
सच का आग्रह
निष्ठा की हठ
अगजग के विरोध का धक्का जिसको ढहा न पाये।

['अज्ञेय' : 'देना जीवन' : इन्द्रधनु रौंदे हुए ये]

आधुनिकताके सन्दर्भमें आजकी कवितामें विकसित मूल्योंमें मानव-स्वाभिमान तथा मर्यादाकी रक्षा प्रमुख मूल्योंमें है। अहं सम्बन्धी विवेचनमें यह स्पष्ट किया गया है कि आजकी कवितामें मानव-व्यक्तित्वकी स्थापनाका आग्रह है, और यह विस्थापित होती मानव-मर्यादाकी पुनः स्थापना ही है। मानव जब अपने लघु परिवेशमें मुक्त हो सकेगा तभी उसके स्वाभिमानकी रक्षा भी हो सकेगी। मुक्तिके साथ विवेकका प्रश्न भी सन्निहित है। मानव-नियतिका निर्देशक युगोंसे मनुष्यके बाहरकी अनेक आध्यात्मिक अथवा सामाजिक शक्तियाँ रही हैं, पर आजका मानव अपनी नियतिका दायित्व अपने विवेकपर लेना चाहता है। इसीके साथ आस्थाका प्रश्न भी सम्मिलित है, क्योंकि मानव-भविष्यके किसी विश्वासको लेकर ही मनुष्य आगे बढ़ सकेगा। आजकी संक्रान्तिमें मनुष्यके हाथसे यही विश्वास, आस्थाका सम्बल छूट गया है, इसी कारण वह भटक गया है। यदि

मानव-भविष्यकी पुन:स्थापना करना है, तो उसे उसके प्रति पुनः आशा-वान् करना होगा। कवि इस विश्वासको लेकर चलता है कि हमारा आजका मार्ग कितना ही धुँधला हो, पर विवेक साथ देगा और यदि हमारी आस्था न काँपे तो हमारा पथ प्रशस्त है ('अज्ञेय' : 'घुमड़नके बाद' : इन्द्रधनु०)। भारतीकी 'प्रमथ्यु गाथा'में ग्रीक पुराण-कथाके माध्यमसे मानव-मर्यादा तथा विवेकके मूल्योंकी प्रतीकात्मक व्यंजना हुई है। वस्तुतः आजका कवि पिछले युगोंके मोहक स्वप्नोंके स्थानपर जीवन-की सहज उपलब्धिको ही प्रधान मानकर चलता है :

तुम भी इस घाटी में बस कर
नन्हें फूलों से सपनों की
छोटी-सी फ़सल उगा लेना।
बेशक इनमें तूफ़ानों को
मधु सिंचित करने वाली गन्ध नहीं होगी,
ये सरल स्वप्न
यदि बहुत हुआ,
तो सूरज उगने पर अपनी पाँखुरी खोलकर हँस देंगे—

[विजयदेवनारायण साही : 'आये हैं अपने सपने' नयी कविता २]

■

नयी कविताका सामाजिक परिवेश

नयी कविताके सम्बन्धमें प्रचलित पूर्वाग्रहोंके बीच समीक्षा दायित्व अत्यन्त कठिन जान पड़ता है। पक्ष-विपक्षमें विभाजित पूर्वाग्रहोंसे न केवल समीक्षात्मक दृष्टि धुँधली हुई है, वरन् वातावरणमें तनाव भी पैदा हुआ है। ऐसी स्थितिमें समीक्षाका सन्तुलित आधार पा जाना बहुत सरल नहीं है। पर जिस क्षण मैं स्वीकार कर लेता हूँ कि आजकी कविताके सम्बन्धमें पक्ष-विपक्ष ग्रहण नहीं करता, पूर्वाग्रहोंको स्वीकार नहीं करता, उसी क्षण यह सारा कुहासा अपने-आप कट जाता है। लेकिन प्रारम्भमें ही मैं यह कह देना चाहूँगा कि प्रत्येक युगमें जो कुछ कविताके नामपर लिखा गया है वह कविता नहीं सिद्ध हो सका, और आज नयी कविताके नामसे जो कुछ लिखा जा रहा है या छप रहा है, आगे 'नयी' विशेषण मिट जानेपर उसमें-से पता नहीं कितना कविता सिद्ध हो सकेगा, यह भविष्य ही जाने।

सबसे बड़ा प्रश्न-चिह्न जो नयी कविताके विषयमें लगाया जाता है, वह है उसकी असामाजिकता। कहा जाता है कि नयी कविता व्यक्ति-प्रधान है। उनका कहना है कि यह कविता अतिवैयक्तिक तथा असामाजिक है। इस धारणाके मूलमें यह भावना किसी-न-किसी रूपमें निहित है कि आजकी यह कविता युरॅपमें पिछली शताब्दीके उत्तरार्द्धसे प्रारम्भ होकर द्वितीय महायुद्ध तक चलनेवाले विभिन्न वादोंसे प्रभाव ग्रहण करती है। प्रश्नके इस पक्षपर पिछले लेखोंमें विस्तारसे विचार किया गया है। वस्तुतः नये कवियोंमें इस कोटिका असामाजिक व्यक्तिवादी कोई नहीं है जिस कोटिके कवि और कलाकार युरॅपमें विभिन्न वादोंके अन्तर्गत हुए हैं। कुछ आलोचक युरॅपकी पिछली परिस्थितिसे हमारे देशकी

आजकी परिस्थितिकी समानता प्रतिपादित करनेकी कोशिश करते हैं, पर जो समानता परिलक्षित होती है वह वास्तविकसे अधिक आभास-मात्र है। हमारे देशका ऐतिहासिक क्रम भिन्न परिस्थितियोंके बीचसे अग्रसर हुआ है, और हमारी सांस्कृतिक परम्पराएँ भी अनेक दृष्टियोंसे भिन्न रही हैं। इसके अतिरिक्त युरॅपकी पिछली समस्त भावधाराएँ यहाँ बादमें पहुँची हैं, इस कारण इनका प्रभाव कम हो चुका है।

परन्तु यह भी सत्य है कि हमारे देशके जीवनमें एक बहुत बड़ा मोड़ इस नये युगमें उपस्थित हुआ है। प्रत्येक मोड़ संक्रान्ति-युग होता है, जिसमें पुराने और नयेके बीच संघर्ष अनिवार्य हो उठता है। यह संघर्ष विध्वंसक लगता है, पर इसके बीचसे गुज़रकर पुराना नयेका निर्माण करता है। पुरानी आस्था, पुरानी मर्यादा और पुराना विश्वास नयी आस्था, नयी मर्यादा और नये विश्वासको जन्म देता है। पहले युगका सांस्कृतिक जीवन विच्छिन्न होकर नये युगकी सांस्कृतिक उपलब्धियोंकी भूमिका तैयार करता है। क्योंकि इतिहास साक्षी है कि संसारकी प्रत्येक संस्कृति अपने चरम उत्कर्षके बाद पतनोन्मुखी होकर विशृंखल हो गयी है और अतीतकी संस्कृति, कला, साहित्य तथा दार्शनिक चिन्तन आगत युगको विरासतमें दे जाती है।

इस युगके नवागत विचारों तथा बदलते हुए आदर्शोंकी पीठिकापर इस काव्यमें वस्तु-सत्य अथवा शैलीको लेकर अनेक प्रवृत्तियाँ युरॅप तथा इंग्लैण्डके पिछले काव्यकी मिल जायें तो आश्चर्य नहीं। इस काव्यमें विचारोंका तीव्र आघात और संघर्ष, भावोंका संकुलित उलझाव, अचेतन उपचेतन मनके नानाविध प्रभावोंका वर्णन समान रूपमें मिल जाता है। उसी तरह इसमें नवीन अनुभूतियों, मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों, विचारात्मक संघर्षों तथा यथार्थ सत्यको झेलनेकी आन्तरिक पीड़ाको व्यक्त करनेके लिए पुरानी व्यंजनाशैलीके प्रति विद्रोह भी है। स्पष्टतः इसका कारण देश-के व्यापक जीवनका मोड़ है, संक्रान्ति है जो पिछले युगोंके विध्वंसपर

नवीन युगका निर्माण कर रही है। इस संक्रान्ति युगमें निर्माणके अदृश्य अंकुरोंसे अधिक ध्वंसके अवशेष दिखाई पड़ते हों तो आश्चर्य क्या! समस्त युग-चेतनाको संवेदित करके उसको अभिव्यक्तिका रूप देनेवाले कविका दायित्व इस युगमें सबसे अधिक जटिल और असाध्य हो गया है। उसको इस युगके समस्त संघर्ष, विषमता, विशृंखलताको झेलना ही होगा। यदि वह झेल नहीं सकेगा तो युग उसमें संवेदित नहीं हो सकेगा। यह उसीका दुस्तर कर्त्तव्य है कि संक्रान्ति-कालीन संघर्ष और ध्वंसको छातीपर झेलकर नये युगकी आस्था और उसके विश्वासको जन्म दे। फिर इस बदलती हुई परिस्थितिके अनुकूल अपनी अभिव्यक्तिका माध्यम खोजना भी आजके कविके लिए अनिवार्य हो उठा है।

यहाँ अभिव्यंजनाके रूप और शैलीके प्रश्नको जान-बूझकर छोड़ा जा रहा है, क्योंकि हमारे सामने मूल प्रश्न सामाजिकताका है। आजका कवि केवल अभिव्यक्तिके सौन्दर्य-मात्रको अपना लक्ष्य स्वीकार नहीं करता। वह अधिक गम्भीर सामाजिक उत्तरदायित्वको मानकर चलता है। आजका कवि व्यक्तिवादको घोषित करके अपना नहीं सकता। पर स्वीकार करने अथवा न करनेसे समस्याका समाधान नहीं होता। प्रश्न है कि आजकी कवितामें कुण्ठा, निराशा, अवसाद, आवेश, दुरूहता, अस्पष्टता, विशृंखलता आदिका कारण क्या है? इस स्थितिसे दो प्रकारके निष्कर्ष सामान्यतः निकाले जाते हैं। कुछका कहना है कि यह सब पश्चिमकी नक़ल है, आरोपित भावशीलता मात्र है। इन आलोचकोंकी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि ये जितने पश्चिमकी रचनाओंसे अपरिचित हैं उतने ही नयी भावशीलताकी परखमें कच्चे भी हैं। दूसरोंका कहना है कि यह घोर वैयक्तिक दृष्टिकोणका परिणाम है, पलायनवादी मनोवृत्ति है। इन मतवादियोंके विचारमें सत्यका आभास अधिक है। और आभास इसलिए कि इन्होंने अपनी बात स्थापित करनेके लिए वर्तमान कविताको ग़लत दृष्टिबोधका आधार प्रदान किया है। सत्य इसलिए कि जिस युरॅप-

की कवितासे इस कविताको अनुप्राणित मान लिया गया है वह घोर व्यक्तिवादी तथा पलायनवादी कविता थी। जो नयी कवितामें केवल कुण्ठा, निराशा तथा आस्थाहीनता आदि देखते हैं, वे या तो इस कविताके सम्पूर्ण व्यापक अर्थको ग्रहण नहीं कर सके हैं अथवा जान-बूझकर किसी उद्देश्यसे स्वीकार नहीं करना चाहते हैं।

पहले ही इस बातका निर्देश किया गया है कि युरॅप पिछले युगसे जिस संक्रान्तिकी स्थितिसे गुज़रता आ रहा है उसमें और अपने देशकी वर्तमान संक्रान्तिकी स्थितिमें अन्तर है। युरॅपमें १९वीं शतीके विज्ञान-वादसे उत्पन्न अनास्था जितनी गतिशील, प्रवेगपूर्ण थी उतनी ही सर्वग्राही भी, साथ ही उसके मानववादका आधार भी निर्बल था। इसके विपरीत इस देशकी आजकी अनास्था पिछले युगोंकी जड़ अन्ध आस्थाके प्रति गहरा विद्रोह है। युरॅपकी समस्या आस्थाहीनता है तो हमारे देशका प्रश्न आस्थाकी जड़ताका है। शताब्दियोंसे इस देशका जीवन अपनी पिछली सांस्कृतिक मर्यादाओंमें जकड़कर बँध गया है। युग बदले, जीवनधारा आगे बढ़ी पर ऊपर जमी बर्फ़के समान ये मर्यादाएँ ज्योंकी-त्यों बनी रहीं। सैकड़ों वर्षोंके बाद १९वीं शतीके अन्तिम चरणके जागरणमें हमको लगा कि हमारे इस सांस्कृतिक मूल्यों और मर्यादाओंपर गहरी काई जम चुकी है, उनकी सारी उज्ज्वल चमक जाती रही है। फिर भी विदेशी साम्राज्य-वादके अन्तर्गत हमारा विश्वास बना हुआ था कि इस काईके नीचे मूल्यवान् सिक्के हैं। परन्तु पहले महायुद्धके बादसे ज्यों-ज्यों देशके स्व-तन्त्रता-संग्रामका रूप स्पष्ट होता गया, उसीके साथ यह भी स्पष्ट होता गया कि काई छूट जानेपर भी इन पुरानी मूल्य-मर्यादाओंमें चमक शेष नहीं रह गयी है। इस नये आगत युगमें इनको लेकर आगे नहीं बढ़ा जा सकता।

इस स्थितिमें हमको युरॅपसे प्रेरणा और प्रकाश मिलनेकी सम्भावना हो सकती थी, राष्ट्रीय जागरणके दौरानमें देशने ऐसा किया भी था। और ऐसा नहीं है कि इस दिशामें प्रयत्न किया ही न गया हो। परन्तु

दो कारणोंसे ऐसा सम्भव नहीं हो सका। देशकी व्यापक जीवन-धाराका प्रवाह दूसरी धाराओंके नियमसे शासित या नियन्त्रित नहीं हो सकता, संस्कृति और मूल्यगत उपलब्धियोंकी क़लमें नहीं लगतीं, वे जीवनके विकास-क्रममें अपने-आप स्थापित होती हैं। इसके अतिरिक्त युरॅपकी सभ्यता और संस्कृतिकी चमक-दमकके अन्तरालमें स्वयं संघर्ष और विषमता पल रही थी जिसका विस्फोट द्वितीय महायुद्ध था। परिणाम-स्वरूप यह युग अन्धजड़ताका युग है जिसमें समस्त सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक मान्यताएँ झूठी पड़ गयी हैं। हम सत्य और आदर्शकी चर्चा बहुत करते हैं, और ऐसा जान पड़ता है कि हमारे पास इनका बहुत बड़ा आधार है, बहुत बड़ी परम्परा है। परन्तु समाजकी जड़ निष्क्रियताने इन समस्त आदर्शोंको खोखला बना डाला है। हम धर्मनिष्ठ हैं, आदर्शवादी हैं, मानवतावादी हैं, पर सब कुछ होकर भी वह आन्तरिक निष्ठाका बल हममें नहीं है जो जीवन-धाराको अग्रसर करता है। यह समाज-व्यापी कुण्ठा, निराशा, अवसाद तथा अन्ध आस्थाका परिणाम है कि हम इन सबके बावजूद व्यक्तिगत स्वार्थों, बेईमानी, घूसखोरी, चोरबाज़ारी, अकर्मण्यतासे अपनेको बचानेमें असमर्थ हैं। इस सामाजिक जड़तासे न नगर बचे हैं और न गाँव, न शिक्षित और न अशिक्षित, न उच्चवर्ग और न निम्नवर्ग ही। यहाँ ऐतिहासिक कारणोंकी विवेचना जान-बूझकर नहीं की गयी है, केवल परिस्थितिका रूप-भर उपस्थित किया गया है।

आजकी इस सामाजिक परिस्थितिने कविको संवेदित किया है। वह इस सर्वग्राही जड़ता और कुण्ठाका अनुभव अपने जीवनमें कर रहा है। यह कुण्ठा पलायनवादी न होकर परिस्थिति-जन्य है। उसके मनका संघर्ष, विषमता, आवेश, विशृंखलता सभी इस सामाजिक परिस्थितिका संवेदन है। समाज जिस परिस्थितिमें अनायास पड़ा हुआ है, उसका अनुभव वह बहुत अस्पष्ट रूपसे कर पा रहा है। कवि उस परिस्थितिसे टकरा रहा है और यह संक्रान्तिकालीन स्थितिका स्वस्थ लक्षण है। नदीके प्रवाहपर

जमा हुआ बर्फ़ समान रूपसे सारे जल-विस्तारकी गतिको रोक देता है। पर उसकी बाधाका एहसास अन्तर्वर्ती धाराको ही होता है, वह उसको काटनेका दुर्दम प्रयास करती हुई टकराकर नीचेसे बहती है। आजके कवि-का संघर्ष, उसकी आशा-निराशा-जन्य कुण्ठाएँ व्यक्तिगतसे अधिक सामाजिक हैं। उसके विषयमें सबसे बड़ी बात यह कही जा सकती है कि युरॅपके पिछले कवियोंके समान उसने अपने भविष्यको खोया नहीं है, कमसे कम उसका भविष्यका विश्वास बना हुआ है। यह ठीक है कि इन कवियोंमें मार्ग खोजनेका संघर्ष ही अधिक परिलक्षित होता है और यह आगे बढ़कर निर्माणके पथको प्रशस्त करनेवाले संघर्षसे बड़ा नहीं है, फिर भी इस मोड़पर यह संघर्ष कम महत्त्वका नहीं है।

नयी कविताके सम्बन्धमें अन्तिम महत्त्वपूर्ण प्रश्न है सामाजिक प्रेषणीयताका। यह पहले ही निर्देश किया जा चुका है कि आजका कोई भी कवि इसको अस्वीकार नहीं करता। परन्तु आलोचकोंका सबसे अधिक आक्षेप इसी बातपर है। मुझे लगता है कि आजकी साहित्य-चर्चामें सबसे अधिक उलझन और भ्रमकी स्थिति साधारणीकरण तथा समाजीकरणके प्रश्नको लेकर है। साधारणीकरणके माध्यमसे अनेक बार समाजकी भाव-शालताके समस्त स्तरोंको समान मान लिया जाता है और समाजीकरणके रूपमें साहित्य तथा लोक-साहित्यको समान स्तरका स्वीकार कर लिया जाता है। युग-जीवनकी विचारात्मक तथा भावात्मक उपलब्धियोंके वाहक साहित्यको जनताके निकट पहुँचाने और उसकी वस्तु बनानेकी बात और है और समस्त साहित्यको लोक-साहित्यके स्तरपर उतार लाना बिलकुल भिन्न बात है। नदीके सम्पूर्ण प्रवाहके जलका ऊपरी स्तर समान होता है, पर तलकी गहराइयोंमें अन्तर होता है, मूल धाराकी गति और सामान्य प्रवाहकी गतिमें अन्तर होता है। मूल धारा सम्पूर्ण प्रवाहसे भिन्न नहीं है और न उसका अन्य कोई अस्तित्व है। पर साथ ही सम्पूर्ण प्रवाहको नियोजित और गतिशील करनेवाली मूल धारा ही होती है। आजकी

कविताका कवि युग-चेतनाकी मूलधाराका अंग है और उसकी आकुलताकी संवेदनीयता मूल धारा तक ही सीमित जान पड़ती है। परन्तु धारा समग्र प्रवाहकी गतिका लक्षण है, प्रतीक है और इसी प्रकार नयी कविताका सम्बन्ध युगसे है, समाजसे है। वह आजके युगके संघर्षको झेलनेवाली चेतनाका स्फुरण है, और उसकी प्रेषणीयता भविष्यके विश्वास तथा आस्था-को जन्म देनेकी पीड़ा सहनेवालोंकी वस्तु है। ऊपरकी जमी हुई बर्फ़की जड़ताको तोड़कर बहनेवाली धाराके वेगका अनुभव अतलकी गहराइयां नहीं कर पाती हैं, उनके लिए परिवर्तन तथा गतिका कोई अर्थ नहीं। और न उस वेगका अनुभव कटकर अलग हुए सेवारसे आकुलित स्थिर-प्रवाह जल-खण्ड ही कर पाते हैं। यह धारा तो सारे प्रवाहकी गतिको अनायास ही नियोजित करती हुई आगे बढ़ती जाती है।

■

नयी प्रवृत्तियाँ
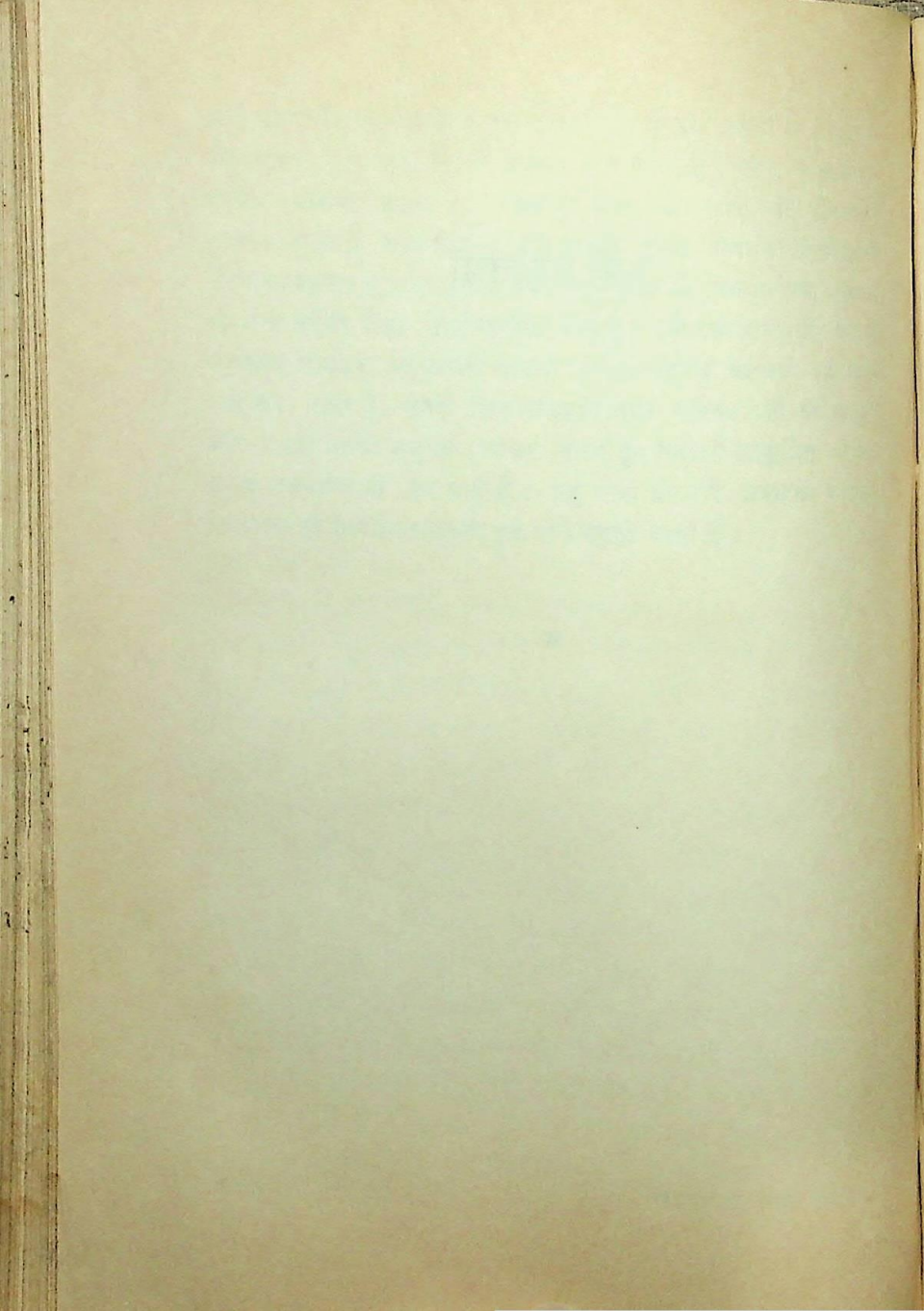
नकेनके प्रपद्य

इस नामका नलिनविलोचन शर्मा, केसरीकुमार तथा नरेशको कविताओंका एक संकलन है। जिस प्रकार इस संकलनमें कविताओंको प्रपद्य कहा गया है, उसी प्रकार इसकी भूमिकाको 'पस्पशा'। और प्रपद्यवादी कवियोंकी भाषा यदि हम सब साधारण जनोंकी भाषासे भिन्न है तथा हमारे लिए दुरूह है तो यह स्वाभाविक है, क्योंकि अपनी घोषणा संख्या ९ के अनुसार वह प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और छन्दका स्वयं निर्माता है। कुछ भी हो, यह भूमिका कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है, और एक अर्थमें इसके कविता-संकलनसे अधिक। तीनों कवियोंकी कविताओं (प्रपद्यों) को पढ़नेसे ऐसा नहीं लगता कि ये कविताएँ हिन्दीके अन्य अनेक प्रयोगशील अथवा नये कवियोंकी रचनाओंसे मौलिक रूपसे भिन्न हैं। परन्तु भूमिकाके विवेचनसे कई महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंपर प्रकाश पड़ता है।

'पस्पशा'के प्रारम्भमें इस बातका उल्लेख किया गया है कि हिन्दी कवितामें प्रयोगवादका वास्तविक आरम्भ १९३६-३८ में लिखी गयी नलिनविलोचन शर्माकी कविताओंसे होता है। इधर हमारे साहित्यमें यह रोचक प्रसंग चल पड़ा है कि प्रयोगवादी काव्यका आदि कवि कौन है। कुछ लोगोंने दावा पेश किया है कि अमुकको यह स्थान मिलना चाहिए और यही क्यों आगे चलकर कुछ और दावेदार पैदा किये जायेंगे। परन्तु प्रयोगवादके सम्बन्धमें यह प्रसंग महत्त्वका नहीं है। इस भूमिकामें प्रयोगवादको प्रयोगशील काव्य-दृष्टिसे अलग करके प्रतिपादित किया गया है जिससे इस काव्यके सम्बन्धमें अधिक स्पष्ट दृष्टिका विकास हो सकता है। उनका कहना है कि 'अज्ञेय' और उनके साथके अन्य प्रयोगशील कवियोंने

'कविताको प्रयोगका विषय मानकर भी स्पष्ट शब्दोंमें प्रयोगको मात्र साधन घोषित करनेकी सावधानी बरती थी जब कि प्रपद्यवादियोंकी प्रयोगके सम्बन्धमें स्पष्ट घोषणा है (सं० ६) कि प्रयोगशील प्रयोगको साधन मानता है, प्रयोगवादी साध्य।

प्रपद्यवादियों तथा 'अज्ञेय' प्रभृति प्रयोगशीलोंके दृष्टिबिन्दुके अन्तरको समझनेके लिए वास्तवमें उनकी स्थितियोंको समझ लेना चाहिए। प्रपद्य-वादियोंकी काव्यसम्बन्धी मान्यताओंपर फ़ान्सके प्रतीकवादियों तथा बिम्बवादियोंसे लेकर अवैयक्तिकतावादी इलियट तककी विचार-धारा, मान्यताओं और स्थापनाओंका सीधा प्रभाव है। यह उनके घोषणा-पत्र प्रपद्य द्वादशसूत्रीके विश्लेषणसे स्पष्ट है। जब कि प्रयोगशीलोंकी आधार-भूमिमें तो ये समस्त विचार-धाराएँ हो सकती हैं, परन्तु इन्होंने बादकी नवीन विचार-सरणियोंको अपनी पद्धतिमें आत्मसात् करनेका प्रयत्न किया है। इनके लिए प्रगतिवादी भावभूमिको उसका विरोध करते हुए भी छोड़ पाना उसी प्रकार सहज नहीं था, जिस प्रकार अस्तित्ववादकी स्थितिसे लेकर वैयक्तिकतावादी तथा नव-स्वच्छन्दतावादी प्रभाव ग्रहण करना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त प्रपद्यवादी एक विशिष्ट घोषणा-पत्रको अपनी मान्यताओंको स्पष्ट रूपमें सामने रखनेके लिए प्रस्तुत करते हैं, जब कि प्रयोगशील तथा नयी कविताके अन्तर्गत स्वीकार किये जानेवाले कवियोंको अपने-अपने अनुभवों, विचारों तथा विशेषकर रचना-प्रक्रियाके आधारपर कवितासम्बन्धी मान्यताओंपर विचार करनेकी छूट रही है। यही कारण है कि जितनी विविधता और व्यापकता इन कवियोंकी रचनाओंके अनुभूत सत्य, संवेदना और शिल्पमें मिलती है, उतनी ही उनकी मान्यताओंमें जान पड़ती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इनमें प्रकृतिगत समता नहीं है अथवा काव्यगत मूल्य तथा प्रतिमानोंमें इनमें कोई समानता नहीं है। वस्तुतः इन्होंने आजके काव्यपर अनेक दृष्टियोंसे विचार किया है, और उसके अनुसार उनकी प्रपत्तियाँ अलग-अलग क्षेत्रकी हैं।

परन्तु प्रस्तुत भूमिकामें जहांतक प्रयोगवादको निश्चित दर्शन स्वीकार करनेवाली दृष्टिका प्रश्न है, वह बहुत स्पष्ट शब्दोंमें और सशक्त ढंगसे प्रतिपादित की गयी है। कुछ विशिष्ट शब्दोंको छोड़कर, जिनमें-से कुछकी स्थिति अनिवार्य भी मानी जा सकती है, इस भूमिकाका विवेचन 'वाद'के रूपमें प्रयोगकी समुचित व्याख्या कर सकता है। इन शब्दोंके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि स्वीकृत अर्थमें व्यवहृत किसी शब्दको लेना अधिक बोधगम्य हो सकता था और यह भूमिका गद्यमें लिखी गयी है जिसका गुण स्वतः लेखकने 'प्रेषण' माना है। यद्यपि इसके अन्तर्गत प्रतिपादित मान्यताएँ युरॅपकी उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धसे लेकर प्रथम महायुद्धके अन्त तककी काव्यसम्बन्धी विचार-धाराओंसे परिचित व्यक्तिके लिए नवीन नहीं हैं, फिर भी अपने काव्यके घोषणा-पत्रके प्रारूपकी व्याख्या और स्थापनाकी दृष्टिसे महत्त्वकी मानी जा सकती हैं।

काव्य-शास्त्रके अनुशीलनमें प्रत्येक युग और देशमें ऐसा हुआ है कि कभी किसी विचार-धाराने काव्यकी अभिव्यक्ति (अलंकार, गुण, वक्रोक्ति, प्रयोग) को महत्त्व दिया है और कभी किसीने अभिव्यक्त (व्यंजना, रसनिष्पत्ति, संवेदनीयता) को। परन्तु काव्यमें ये दोनों इतने अभिन्न हैं कि किसी पक्षपर बल देकर व्याख्या-शक्तिके आधारपर अपनी बात प्रतिपादित की जा सकती है। इस प्रकारकी व्याख्याओंमें भी दूसरा पक्ष अन्तर्निहित रहता है। प्रयोगशील दृष्टिके व्याख्याकार काव्यानुभूतिकी इस विशिष्ट स्थितिसे परिचित हैं, इसी कारण वे कविताकी अनिवार्यता मानकर भी प्रयोगको साधन स्वीकार करते हैं, प्रयोगवादियोंकी भाँति साध्य नहीं मानते (प्र० सू० सं० ६)। यह अन्तर प्रत्यक्षमें जितना दिखाई देता है, उतना है नहीं। अपनी प्रपद्य द्वादशसूत्रीके प्रथम सूत्रमें वे कहते हैं : 'प्रयोगवाद भाव और व्यंजनाका स्थापत्य है' और दसवें सूत्रमें कहते हैं, 'प्रयोगवाद दृष्टिकोणका अनुसन्धान है।' प्रश्न उठता है कि यदि प्रयोग स्थापत्य है तो भाव और व्यंजनाको जिस महत्त्वके साथ घोषित किया गया

है, उससे प्रयोग अपने-आपमें साध्य कैसे हो गया ? इसी प्रकार दृष्टिकोणका अनुसन्धान है, तो इस अनुसन्धानकी अपेक्षा दृष्टिकोण बेचारा क्यों निहित मान लिया गया। यह मान भी लिया जाये कि दृष्टिकोण कोई पूर्ण अथवा अन्तिम नहीं होगा, तब भी यह साधन और साध्यका प्रपंच काफ़ी जटिल है। अपने साहित्यके भक्तिकालमें भक्तोंने बलपूर्वक घोषित किया था कि भक्ति हमारे लिए साध्य है साधनमात्र नहीं, हमारे लिए रामका नाम रामसे भी बड़ा है। इसी प्रकारकी स्थापना इन प्रपद्यवादियोंकी है। यहाँ उनके बारहवें सूत्रका उल्लेख भी किया जा सकता है कि चीज़ोंका एक मात्र सही नाम होता है। भक्त जब कहता है कि भक्ति उसके लिए साध्य है तो उसकी व्यंजना कदापि यह नहीं है कि उसकी भक्तिमें भगवान्-का कुछ महत्त्व नहीं है, या बिना रामकी व्यंजनाके 'नाम' सार्थक है। इसका अर्थ केवल यह है कि भगवान्के साक्षात्कारकी अनुभूति भक्ति है, अतः भक्तिकी साधनाकी प्रक्रियामें भक्ति और भगवान्की स्थिति अलग है ही नहीं। इसी प्रकार भक्तकी उपलब्धिका माध्यम 'नाम' है, अतः व्याव-हारिक दृष्टिसे वह उसे रामसे बड़ा कहता है, अन्यथा तात्त्विक दृष्टिसे दोनों अभिन्न हैं। यदि अपने इन सूत्रोंमें प्रपद्यवादी इसी प्रकार बल देनेके लिए ऐसा कहते हैं तो माना जा सकता है, अन्यथा वाग्जालके अतिरिक्त यह क्या है ? और इस दृष्टिसे प्रयोगशीलोंकी स्थिति, भले ही वे उनको त्रिशंकु मानें, अधिक स्पष्ट है।

प्रपद्य द्वादशसूत्रीके दूसरे सूत्रकी घोषणा है कि प्रयोगवाद सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है, उसके लिए शास्त्र या दल-निर्धारित नियम अनुपयुक्त है। परन्तु यह बारह सूत्रोंकी घोषणाका प्रारूप क्या है ? क्या शास्त्रकी परम्परा इसी प्रकार नहीं निर्धारित होती ? क्या नियमोंके निर्धारणकी पद्धति ऐसी ही नहीं होती ? और क्या प्रारम्भिक आचार्योंको ऐसी ही विवशताकी स्थिति-में अपनी मान्यताओंको प्रतिपादित करना नहीं पड़ता ? और 'प्रयोगवाद-की इकवाक्यपदीय प्रणाली है' (सू० सं० ६), उसके लिए 'जीवन और

कोश कच्चे मालकी खान हैं' (सू० सं० ८) तथा वह मानता है कि 'पद्यमें उत्कृष्टकेन्द्रण होता है' (सू० सं० ११), क्या किसी तन्त्र या शास्त्रके निर्धारित अथवा घोषित नियम नहीं लगते ? कई बार किसी बात-पर अत्यधिक बल दे देनेपर उसमें चमत्कार अवश्य आ जाता है, पर विचार करनेपर उसका अन्तर्विरोध भी स्पष्ट हो जाता है । जीवन और कोशके कच्चे मालके आधारपर प्रपद्यवादी जिस भाव और व्यंजनाका स्थापत्य अपना उद्देश्य मानता है, क्या यह 'भाव और व्यंजना' जीवनका कोई स्तर नहीं है ? प्रपद्यवाद अनुभूतिको शब्दसे (अर्थात् अभिव्यक्ति-से) अलग नहीं मानता, प्रत्येक अनुभवके संश्लेषके रूपमें देखता है, नवीन संगतियोंके लिए नवीन शब्द-संगतियोंकी आवश्यकता स्वीकार करता है । यह सब तो ठीक है और प्रयोगशील कवियोंने भी इस रूपमें अपनी रचना-प्रक्रियाको देखा है । पर यह अनुभूति क्या है जो जीवनकी व्यापक संवेदनाओं और अनुभवोंसे ऐसी परे है ? और वे शब्द तथा शब्द-संगतियाँ भी क्या हैं जो कोश अर्थात् परम्परासे ऐसी असंग हैं ? जहाँ-तक पिछली परम्पराओंसे विद्रोह करके शब्दों और शब्द-संगतियोंको जीवनकी नवीन संगतियोंके अनुरूप नया अर्थ देनेकी बात है, प्रयोगशील भी मानते हैं । फिर पाठककी स्वतन्त्रताको वापस देनेकी बातका क्या अर्थ होगा, यदि प्रपद्यवाद प्रेषण अथवा साधारणीकरणके किसी स्तरको स्वीकार नहीं करेगा (आधुनिक भाष्यको तो असंस्कृत माना जा सकता है) ?

इन समस्त प्रश्नोंके बावजूद इस भूमिकामें प्रयोगशील कवियोंको लक्ष्य करके जो प्रयोगवादपर अभियोग लगाये गये हैं, उनका उत्तर सशक्त ढंगसे दिया गया है । इस प्रकारके आरोपोंका प्रयोगशील कवियोंकी ओरसे अपनी स्थितिके अनुसार समुचित उत्तर दिया जा चुका है । फिर भी इसका अपना महत्त्व है । नगेन्द्र तथा नन्ददुलारे वाजपेयीके बौद्धिकताके आरोपका प्रत्याख्यान करते हुए कहा गया है, "हिन्दी कविताको अपनेमें वयस्क बुद्धि लाना होगा और तभी वह युगकी मेधाको अपने प्रति खींच

सकती है। उसे अपने पुराने हृद्‌रोगसे मुक्त होना होगा।" इसी प्रकार अन्य सभी आरोपोंपर विस्तारसे विचार किया गया है, और उनका उत्तर तर्कसंगत शैलीमें दिया गया है।

जहाँतक इस पुस्तकके संकलन-भागका सम्बन्ध है, इसको पढ़ जानेके बाद यदि भूमिकाको देखा जायेगा, (ऐसा ही क्रम पुस्तकमें है), तो यह समझनेमें कठिनाई होती है कि इन्हीं, आजकी प्रचलित शैलीमें लिखी गयी साधारण लगनेवाली, कविताओंको प्रतिपादित करनेके लिए यह इतना सब कुछ कहा गया है और सूत्रोंकी स्थापना की गयी है। और यदि पहले भूमिकाका अध्ययन कर लेनेके बाद (जैसा प्रस्तुत समीक्षामें किया गया है) संकलनकी कविताओंको पढ़ा जायेगा, तो कठिनाई होगी कि इनमें भाव और व्यंजनाका वह विशिष्ट स्थापत्य कहाँ है ? वह इकवाक्यपदीय शैली या प्रणाली कहाँ है ? इन प्रपद्योंमें उत्कृष्ट केन्द्रण कहाँ है ? हाँ यह ऐसा अवश्य लगता है कि ये सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं, महान् पूर्ववर्तियोंकी परिपाटियोंको त्याज्य मानते हैं, इनमें मनमानेपनका आग्रह है। पता नहीं, घोषणा-सूत्र संख्या ४ में अनुकरणका क्या अर्थ है, पर जहाँतक साधारण व्यवहारमें प्रयुक्त अर्थका सम्बन्ध है, दूसरोंका तथा अपना दोनों प्रकारका अनुकरण इन कविताओंमें देखा जा सकता है। जो स्थापनाएँ भूमिकामें की गयी हैं, उनके अनुसार बिना घोषणाके लिखनेवाले अन्य कवियोंकी कृतियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और उत्कृष्ट भी। अधिकांश शब्दोंकी खींचातानी प्रभावहीन लगती है। सिद्धान्त रूपमें शब्दोंका नया सन्दर्भ, बिम्बके अनुसार उनका खण्डित रूपमें प्रयोग तथा अन्य शब्दोंसे उनकी अथवा उनके कुछ अंशकी सन्धिको स्वीकार किया जा सकता है। पर वस्तुके ध्वनि-बिम्बको ग्रहण करने, अनुभवको संश्लिष्ट रूपमें व्यंजित करने अथवा स्वतन्त्र संयोग या संगतियोंके लिए नयी शब्द-संगतियोंके प्रयोगके रूपमें ही ऐसा प्रयोग सार्थक हो सकता है।

यह प्रारम्भमें ही कहा गया है कि प्रस्तुत संकलनकी रचनाएँ वर्तमान

समयकी प्रयोगशील तथा नयी कवितासे भिन्न नहीं है। और यदि 'पस्पशा'-की घोषणओंको छोड़कर विचार किया जाये, तो इन कविताओंमें आजकी कविताके अनेक तत्त्व व्यंजित हुए हैं। वर्तमान काव्यमें अनेक कवियोंने अपनी दृष्टिको भी प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया है, प्रस्तुत कवियोंने भूमिका लिखनेके बाद अपनी कविताओंमें अपने दृष्टिकोण स्पष्ट करनेका प्रयत्न नहीं किया। फिर भी यत्र-तत्र कविताओंके अन्तर्गत उनकी दृष्टि व्यंजित है। नलिनकी कविता 'गीति-दर्शन'में काव्यप्रक्रियाका स्वरूप है :

मैंने निचोड़ ली कविता :
मैं हूँ पद्मासनासीन
क्षीर-सागर में समाधिस्थ।
मैं अपनी कविता से असन्तुष्ट।
सहसा दिख गयीं गीतियाँ दो छोटी-छोटी—
गीति है भी कौंध क्षणिक विद्युत् की :

[पृष्ठ १७]

इन तीनों कवियोंमें नरेशमें जीवन-दर्शनका आग्रह अधिक जान पड़ता है। इनकी 'तर्कहीन', 'प्यारका गीत' तथा 'आधुनिक नर्गिसका स्वागत' नामक कविताओंमें जीवन-दृष्टि प्रस्तुत करनेका प्रयत्न है।

इन कवियोंने नये कवियोंके साथ वस्तु-स्थितियोंको केवल किसी घटना क्रमके अंग-रूपमें न मानकर उनके स्वतन्त्र अस्तित्वको स्वीकार किया है और उनको अपनी वैयक्तिक अनुभूतिके संश्लेषमें ग्रहण किया है। इस वैयक्तिक अनुभूतिके कारण इन कविताओंमें स्थितियों तथा उनके साथ शब्दोंकी संगतियाँ नयी हैं। नलिनकी 'वसन्त गीत' और 'प्रत्यूष'; केसरी-की 'वर्षहारा' और 'प्रपद्य प्रारूप' (१) तथा नरेशकी 'मान' और 'शाम' नामक कविताओंमें इसी प्रकारका नवीन संगतियोंके आधारपर वस्तु-स्थितियोंका अंकन है। इस शैलीमें साधारण प्रचलित शैलियोंसे कहीं अधिक संवेदनीयता है; नलिनकी 'प्रत्यूष' तथा नरेशकी 'शाम' कविताओं-

में इसका अनुभव किया जा सकता है। नरेशने मनःस्थितियोंका निरपेक्ष अंकन इस शैलीमें अधिक सफलतापूर्वक किया है ('विरह', 'शुक्रिया', 'खामोशी' तथा 'याद' में)। विरहकी यह नयी अनुभूति है :

इक सूनापन इतना
धीरे-धीरे भरता रहता है
अन्तराल में कहीं, किसी कोने में—
झरता रहता
यूँ जैसे हो झरना।

[पृष्ठ ८८]

इन तीनों कवियोंने स्वतन्त्र और नयी संगतियोंके अन्तर्गत अनेक बार अतीत और वर्तमानको एक साथ अनुभूत रूपमें ग्रहण किया है। इनमें कविके लिए अतीतको ग्रहण करनेके लिए प्रायः वर्तमानकी कोई स्थिति या मनःस्थिति प्रेरणाका कार्य करती है, यद्यपि अभिव्यक्तिमें दोनों इस रूपमें मिल-जुल गये हैं कि एक ही अनुभूत सत्य हो गये हैं। नलिनकी 'रामगिरि', केसरीकी 'बोधिवृक्ष' और 'युग-पत्थर' तथा नरेशकी 'क्रौंचवध' और 'अनुरोध' नामक कविताओंमें इसी स्तरका अनुभव है। पर गत और वर्तमानको एक अनुभवमें उतारना आसान नहीं है। अन्य ऐसी ही कविताओंमें पिछले युगोंके जीवनके आदर्शों, कल्पनाओं तथा सौन्दर्यबोधके विरोधमें आजके जीवनकी यथार्थ दृष्टि और स्थितिको व्यंजित किया गया है। नलिनकी 'अजन्ता' इस प्रकारकी सफल कविता है। इसमें अजन्ताकी गुफामें चित्रित जीवनकी अनुभूतिके साथ आजके वैज्ञानिक युगके जीवनका विरोधी चित्र भी प्रस्तुत किया गया है (वस्तुतः 'पहली अजन्ता' और 'दूसरी अजन्ता' को एक साथ ही लेना चाहिए)।

कभी-कभी अपने चतुर्दिक् इन कवियोंने अपने मनके प्रभावोंके स्वतन्त्र संयोगोंके माध्यमसे ग्रहण किया है। इन विश्रृंखल लगनेवाले वस्तु-

संश्लेष चित्रोंमें वातावरणकी सघन व्यंजना है जो किसी प्रकारके अलंकृत वर्णनसे सम्भव नहीं थी। नलिनकी 'चित्राधान', केसरीकी 'प्राक्भाव' तथा नरेशकी 'पथ-रीला-पथ' कविताओंमें आधुनिक जीवनका ऐसा ही अंकन है। ऐसी ही आधुनिक जीवनसे सम्बद्ध अन्य कविताओंमें आधुनिक जीवनके अनेक विरोधाभासों, कुण्ठाओं, कृत्रिमताओंको उसकी मूलभूत अनास्था तथा मूल्यहीनताके साथ व्यंजित किया गया है। नलिनकी 'कंकरीट मिश्र' और नरेशकी 'वेदना-निग्रह', 'तशखीश', 'ब्रासोका विज्ञापन' तथा 'मिस मोनिका' कविताओंमें युग-जीवनके ऐसे ही चित्र हैं। नलिनने 'नवजातक'-में पौराणिक आख्यानके आधारपर आधुनिक जीवनके एक नये मूल्यका संकेत दिया है कि धन्य वह है मनुष्य जो पशु कहलानेका यथार्थ अधिकारी हो। पर यह पशुत्व कैसा है :

> जिस धनुआ ने हरिण, हरिण-शावक
> का शिकार किया था और
> हरिणी को बनाया था दुखी, उसे
> हरिणी ने करुणार्द्र नयनों से निहारा,
> ठिठकी रही देर तक, फिर चली गयी
> धीरे-धीरे, उदासीन, मर्माहत
> उतनी, जितनी मृग और
> शावक को खो कर हुई नहीं थी।

प्रकृतिके प्रति इन कवियोंका मनोभाव आधुनिक है। प्रकृतिसे सम्बन्धित कविताओंमें न मानवीय आकार अथवा भावोंका आरोप है और न उसके प्रति रोमैण्टिक मनोभावोंका आन्दोलन व्यंजित है। न प्रकृति आधुनिक कविकी सहचरी-सखी है और न उसकी उन्मुक्त कल्पनाकी क्रीड़ा-भूमि ही। उसके लिए प्रकृति वस्तु-सत्य है जो उसकी अनुभूतिकी परिधिमें उसके अपने अनुभवका अंग बन जाती है। इन तीनों कवियोंकी दृष्टि

प्रकृतिके प्रति असम्पृक्त रह सकी है; वह उसके अनुभवका अंग तो है, पर प्रभावित अथवा प्रेरित करती अंकित नहीं की गयी है। नलिनकी 'गीति-दर्शन', 'सागर-सन्ध्या', 'आषाढ़का पहला दिन' और केसरीकी 'मरण तू', 'साँझ', 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' तथा 'दोपहर' ऐसी ही कविताएँ हैं। इनमें अनेक स्थलोंपर उत्कृष्ट भाव-बोधका स्तर है और इसी कारण इस संकलनकी श्रेष्ठ कविताएँ इन्हींमें-से हैं। 'गीति-दर्शन' में प्रकृतिकी अनुभूति इस प्रकार व्यक्त है :

> नीचे गर्जित नगराम्बुधि असीम,
> ऊपर विस्तृत अम्बर अपार :
> मैं छत पर लेटा हूँ,
> उफ़ उमस कैसी है !
>
> एक फिसड्डी चिड़िया,
> अन्धकार में पथहारी,
> जाने दूर घोंसले से कितनी,
> भटकती हुई अँधेरे में,
> जैसे कलकत्ते में खो जाये पाँच साल को बच्चो।

'सागर-सन्ध्या' का चित्र है—

> बालू के ढूह हैं जैसे बिल्लियाँ सोयी हुई,
> उनके पंजों से लहरें दौड़ भागतीं।
> सूरज की खेती चर रहे मेघ—मेमने
> विश्रब्ध, अचकित।

केसरीके प्रकृति-चित्रोंमें वैचित्र्यका आग्रह मिलता है, पर अनेक स्थलोंपर उन्हें अनुभूतिके स्तरपर उतारनेमें भी सफल हुए हैं :

रोज़, जैसे रोज़
निःस्वन, आज भी
कुछ फूल मुरझे, पीद मौली,
अघन बादल बह चले
ज्यों वृक्ष उन्मूलित;
उड़े कुछ, उड़ चले
ज्यों काग-कौए-चील ।

['भरण तू']

अन्तमें यह कहा जा सकता है कि इस पुस्तकका भूमिका-भाग यदि एक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है तो संकलन-भाग भी उपेक्षणीय नहीं है । जैसे अन्य आधुनिक कवियोंके संकलनोंमें अनेक साधारण प्रयोगात्मक, अनुकरण-मूलक, वैचित्र्यप्रधान कविताओंके साथ कुछ सुन्दर आधुनिक काव्यके नमूने मिल जाते हैं, उसी प्रकार इस संकलनमें भी कुछ कविताएँ और कुछ कविताओंके अंश वास्तविक काव्यके स्तरके हैं । वैसे जैसा ऊपरकी विवेचनासे स्पष्ट है, आधुनिक काव्यकी प्रवृत्तियोंके अध्ययनकी दृष्टिसे भी इस संकलनका महत्त्व है ।

■

पुरानी कथा और नयी संवेदना

'कनुप्रिया' भारतीकी नवीन कृति है। 'अन्धायुग' में कृष्णकथाका महाभारतपरक रूप आया है, तो 'कनुप्रिया' में 'भागवत' के कृष्णका लीला-रूप स्वीकारा गया है। उनके इस लीला-व्यक्तित्वके साथ कविने उनके 'महाभारत' के राजनीतिज्ञ, कूटनीतिज्ञ, व्याख्याकार व्यक्तित्वको रखकर देखनेका प्रयास किया है। कनुके इन दोनों व्यक्तित्वोंके बीचमें अत्यन्त कोमल तथा भावमय सेतु-रूपमें राधाका व्यक्तित्व आता है जो जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास तथा सूरदासकी परम्परासे पाया गया है। जिस प्रकार 'अन्धायुग' में त्रेताके उस महायुद्धको आधुनिक युगके सन्दर्भमें और आधुनिक संवेदनाके आधारपर प्रस्तुत किया गया है, उसी प्रकार राधा-कृष्णके लीलामय प्रेमको 'कनुप्रिया' में आधुनिक परिवेशमें तथा संवेदनके स्तरपर अभिव्यक्ति मिली है। भाषा, शैली, शिल्प तथा भाव-बोध आदिकी अनेक दृष्टियोंसे 'अन्धायुग' तथा 'कनुप्रिया' भिन्न कोटिकी रचनाएँ होकर भी संवेदनके इस बिन्दुपर समान हैं।

इस अन्तर्निहित संवेदनकी समताको ग्रहण करनेमें असमर्थ पाठक तथा आलोचक इन दोनों रचनाओंके अन्तरको इस सीमा तक मानने लगते हैं कि कभी इस, कभी उस कृतिको कविकी उपलब्धि मानकर दूसरीके सम्बन्धमें असन्तोष व्यक्त करते हैं। यह स्थिति 'कनुप्रिया' के सम्बन्धमें अधिक है। इस मतके अनुसार भारती 'अन्धायुग' में आधुनिकताके प्रश्नको एक ऐसे आयाम और परिवेशमें उठा चुके थे कि उसके बाद 'कनुप्रिया'-का भावबोध उसीका अस्वीकरण और पलायन लगता है। जो आधुनिकता-के प्रश्नको महत्त्व नहीं भी देते हैं, वे भाषा, शिल्प तथा शैलीकी दृष्टिसे

इसे पहली कृतिकी अपेक्षा कमज़ोर मानते हैं। वास्तवमें ये दोनों मत एक ही स्थापनाकी दो भिन्न परिणतियाँ हैं। जो इस कृतिको आधुनिक सन्दर्भसे च्युत रचना मानते हैं, वे इसको रोमैण्टिक प्रेम-प्रणय, विरह-वेदना तथा आकांक्षा-उल्लास मात्रकी अभिव्यक्तिके रूपमें ग्रहण करते हैं। और जो आधुनिक भावबोधके स्तरको नया आयाम न मानकर इस कृतिको रोमैण्टिक काव्यके रूपमें स्वीकार करते हैं, उनको इसकी भाषा, शैली तथा अभिव्यक्ति उस कोमल तथा सूक्ष्म कल्पना और भावनाके सौन्दर्यके अनुकूल नहीं जान पड़ती है, जिसको इसमें व्यंजित करनेका प्रयत्न किया गया है।

ऐसा नहीं कि यह स्थिति अकारण हो। 'कनुप्रिया' के सजग पाठकको भी यह आभास होता रहता है कि इस कृतिकी मौलिक संवेदनामें और अभिव्यक्त संवेदनामें, अभिव्यक्त भावबोध और उसकी भाषा-शैलीमें कहीं कोई असंगति है। और इसी कारण रचनाके सम्पूर्ण आकर्षणके बावजूद उसके सहभोगमें असुखद स्थितिका अनुभव करता रहता है। पर समस्त आकर्षणके साथ इस असुखद स्थितिकी रचनाके सौन्दर्यबोधके साथ स्वीकार कर लेनेपर ही इसके मौलिक भावबोधके स्तरको स्पर्श किया जा सकता है, जो 'अन्धायुग' की आधुनिक संवेदनीयताके समान है। जो ऊपरसे असंगति जान पड़ती है, वही इस रचनाकी सर्जनात्मक प्रक्रियासम्बन्धी सार्थकता भी है।

इतिहास, पुराण और अवदानसे चरित्रों और कथानकोंको ग्रहण करनेकी अपनी कठिनाई और जटिलता होती है। जहाँतक महाभारतके चरित्रों और कथानकको लेनेका प्रश्न था, वे स्वतः ऐसे प्रश्न और समस्याएँ प्रस्तुत करनेमें समर्थ थे जिनको आधुनिक सन्दर्भमें ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु 'भागवत' के कृष्णका लीलामय व्यक्तित्व और राधाका स्वच्छन्द मुक्त भावनावाले प्रेमियों तथा भक्तों-द्वारा अनुभावित व्यक्तित्व रोमैण्टिक भावनाओं और आकांक्षाओंके अधिक अनुरूप है। राधाके व्यक्तित्वकी नितान्त मौलिक कल्पना युगके अनुरूप की जा सकती थी, यह आसान

भी था, पर वह कनुप्रिया राधा नहीं हो सकती थी। परम्परासे चरित्रको लेकर उसे उससे विच्छिन्न कर देना कविकी असमर्थताके साथ काव्यानुभूतिके प्रतिकूल भी है।

'भागवत'के लीलामय कृष्णके व्यक्तित्वको सँभालना फिर एक बार आसान था, पर जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास और सूरदासकी राधाके आधारपर ऐसा चरित्र निर्मित करना जो आधुनिक भावबोधके स्तरपर प्रतिष्ठित किया जा सके, आसान नहीं था। और इस काव्यमें कृष्णकी अपेक्षा राधा ही प्रधान है, क्योंकि 'समस्या तक पहुँचनेका दूसरा बिन्दु' यह कनुप्रिया ही है। 'चरम तन्मयताका साक्षात्कृत क्षण' और 'इतिहासकी दुर्दान्त शक्तियोंकी निर्मम प्रक्रिया' के संघर्षको झेलकर 'उद्घोषित महानताओंसे अभिभूत और आतंकित' हुए बिना अपनी कसौटीपर समस्तको कसनेकी आग्रही राधाका व्यक्तित्व 'कनुप्रिया' में जिस रूपमें परिकल्पित है, वह 'सहज मनसे जीवन' जीनेवाला और 'तन्मयताके क्षणोंमें डूबकर सार्थकता' पानेवाला है। पर इस परिकल्पित राधाके व्यक्तित्वसे राधाके परम्परासे ग्रहीत व्यक्तित्वकी संगति बैठा पाना इस काव्य-कृतिकी जटिल समस्या रही है।

परम्पराकी राधाकी भावाकुलता, प्रणयाकांक्षा, मिलनोत्सुकता, विरह-वेदना और आत्मतन्मयता अपनी अलौकिकतामें भी इतनी प्रत्यक्ष और मांसल रही है कि उसके व्यक्तित्वके माध्यमसे तन्मयताके क्षणोंका विस्मरण तो व्यंजित हो पाता है, उनकी सार्थकता नहीं। भक्तिके क्षेत्रमें यह आत्म-विस्मरण अपने-आपमें सार्थक उपलब्धि माना जा सकता है, क्योंकि वहाँ समर्पणकी चरम परिणति प्रेमकी परम सार्थकता मानी जाती है। लेकिन प्रस्तुत सन्दर्भमें तन्मयताके क्षणोंकी सार्थकताका प्रश्न है और वह सार्थकता केवल तन्मयताकी स्थिति नहीं है, उसकी उपलब्धि है, अतः विस्मरण सार्थक नहीं हो सकता, तन्मयताका असम्पृक्त बोध उपलब्धिके रूपमें सार्थक होता है। 'कनुप्रिया' में राधाका चरित्र 'पूर्वराग' तथा 'मंजरी-

परिणय' के खण्डोंमें अपनी भावविह्वलता, समर्पणकी आकांक्षा, परितृप्तिकी आतुरता, साक्षात्कृत क्षणोंका भय, संशय, उदासी और गोपन, प्रगाढ़ साहचर्य, रतिविलासकी अतृप्ति, प्रणय-संकेत तथा रीतनेकी सम्पूर्णताकी स्थितियोंमें (जो कैशोर्य-सुलभ मन:स्थितियाँ ही हैं) भी किसी स्तरपर प्रश्नशील तथा आग्रही रहा है। यह अवश्य है कि राधाके व्यक्तित्वके ये पक्ष इतने सशक्त और प्रभावशील हैं कि अनेक बार प्रश्न और आग्रह उनकी तन्मयतामें विलीन हो जाते हैं। स्वयं कवि इस बातके प्रति सचेष्ट है और इसी कारण आगे उसे कहना पड़ा है कि कनुप्रिया 'अपने अनजानमें ही प्रश्नके ऐसे सन्दर्भ उद्घाटित करती है जो पूरक सिद्ध होते हैं। पर यह सब उनके अनजानमें होता है, क्योंकि उसकी मूलवृत्ति संशय या जिज्ञासा नहीं, भावाकुल तन्मयता है।'

कितने ही अनजानमें क्यों न हो, पर भावाकुल तन्मयतामें डूब जाना क्षणकी उपलब्धि नहीं है, उसके लिए इस तन्मयताकी भी सजगता आवश्यक है। इसीलिए प्रथम चरणसे राधाकी किशोर मन:स्थितियोंमें प्रश्न और आग्रह सन्निहित हैं। 'पूर्व राग' के प्रथम दो गीतोंमें राधाकी भावविभोर मन:स्थितिका सूक्ष्म अंकन है, जिसमें वह अपने मन-प्राणोंमें अज्ञात प्रणय कामना करती है :

> यह जो अकस्मात्
> आज मेरे जिस्म के सितार के
> एक-एक तार में तुम झंकार उठे—

परन्तु साथ ही, इनमें राधाके मनका यह भाव भी व्यंजित है कि सर्जनप्रक्रियामें दोनों एक-दूसरेमें अन्तर्निहित हैं :

> तब तुमको मेरे इन जावक-रचित पाँवों ने
> केवल यह स्मरण करा दिया कि मैं तुम्हीं में हूँ
> और—सुनो ! सच बतलाना मेरे स्वर्णिम संगीत

इस क्षणकी प्रतीक्षा में तुम
कब से मुझ में छिपे सो रहे थे !

इसी प्रकार तीसरे गीतमें प्रणयारम्भ, चौथेमें यौवनागमनका स्फुरण तथा पाँचवेंमें समर्पित होनेकी आकांक्षाके साथ परितृप्तिकी आतुरता भी व्यंजित है। इन भावोंको कविने सहज रूपमें, जिस कोमलताके साथ व्यक्त किया है, वह इन्हें आधुनिक भावबोधका स्तर प्रदान करती है और :

मुझे क्या मालूम था कि वह अस्वीकृति ही
अटूट बन्धन बनकर

या

तब मुझे अंशतः ग्रहण कर
सम्पूर्ण बनाकर लौटा देते हो

में अपनी भावाकुलताके प्रति ही वह सजग प्रश्नशीलता है, जो इतिहास-को राधाके व्यक्तित्वकी चुनौती है। परन्तु इन गीतोंमें मधुमास आनेपर जावकरचित पाँवोंके ताड़नसे अशोक वृक्षका लाल गुच्छोंमें डाल-डालपर पुष्पित हो जाना, एक-एक अंगकी, एक-एक गतिका पूरी तरह बँध जाना, लाजसे आरक्त मुँह छिपाकर तमके प्रगाढ़ परदेमें मिलना, जिस्मके एक-एक कणमें सम्पूर्णताका बराबर टीसता रहना, और :

मानो यह यमुना की साँवली गहराई नहीं है
यह तुम हो जो सारे आवरण दूर कर
मुझे चारों ओर से कण-कण रोम-रोम
अपने श्यामल प्रगाढ़ अथाह आलिंगन में पोर-पोर
कसते हुए हो !

ऐसा आभासित होना, ऐसे वातावरण और भावबोधको व्यक्त करता है, जिसमें राधाके व्यक्तित्वका यह अंश दब गया है और परम्परावाला अंश

अधिक सबल हो गया है। यहाँ भी कविकी भाषा-शैली भावाभिव्यक्तिके स्तरको रोमैण्टिक होनेसे बचा लेती है।

'मंजरी-परिणय' खण्डमें विकसित मन:स्थितियोंका अंकन है, पर संवेदनाका स्तर पहले खण्डसे भिन्न नहीं है, इसी कारण भारतीने भी इसे प्रथम चरणके अन्तर्गत माना है। साक्षात्कारके सुखमय क्षणोंके मधुर भय, अनजान संशय, आग्रह-भरे गोपन तथा निर्व्याख्या वेदना और उदासीसे अभिभूत राधाके मनमें यह चेष्टा बनी हुई है—'तुम्हारी जन्म-जन्मान्तरकी रहस्यमयी लीलाकी एकान्त सहचरी मैं'। साथ ही आम्र-मंजरियोंके नीचे यमुनाके तटपर गोधूली वेला कृष्णकी राधाकी आतुर प्रतीक्षा, कदम्बके नीचे पोईके फलके लाल रंगसे लाजसे धनुषकी तरह दोहरी होती राधाके पैरोंमें कृष्णका महावर लगाना और फिर रातके गहरा आने-पर राधाका उसी आम्र डालीको बाँहोंमें घेरे रोते रहना, पहले खण्डके समान ही वातावरण और भावबोध प्रस्तुत करता है। 'आम्र-बौरका अर्थ' के अन्तर्गत प्रणय-संकेत, प्रणयकी चरम पूर्णता, शारीरिक सूक्ष्म अनुभूति और प्रणय-निवेदनकी कोमल व्यंजनामें एक ओर यह भाव उभरता है :

मेरे लीलाबन्धु, मेरे सहज मित्रकी तो पद्धति ही यह है
कि वह जिसे भी रिक्त करना चाहता है
उसे सम्पूर्णता से भर देता है।

तो दूसरी ओर संझा बिरियाँ बुलानेके लिए अर्द्धोन्मीलित कमलका संकेत, अँजुरियोंमें भरनेके लिए अँजुरी-भर बेलेके फूलोंका संकेत तथा सहकारके नीचे महावर लगानेके लिए अगस्त्यके दो फूलोंका संकेत मध्ययुगीन वातावरणकी सफल अवतारणा करता है। साथ ही शिथिल आलिंगनमें रीतता जाना, चन्दन कसावके बिना देह-लताके बड़े-बड़े गुलाबोंका टीसना और निभृत एकान्तमें सारे जिस्ममें आमके बौरका टीस उत्पन्न करना, जिस भावावेगको प्रकट करता है उसकी सार्थकता 'सम्पूर्णत: बाँधकर भी सम्पूर्णत: मुक्त' छोड़ देनेमें है।

राधाके मनका प्रश्न 'तुम मेरे कौन हो' में अधिक मुखरित हुआ है और इसी कारण आधुनिक संवेदनाकी प्रस्तावना इसमें देखी जा सकती है। यह कनुप्रिया है जो शक्तिके संचरणमें निखिल पारावारमें परिव्याप्त होकर विराट्, सीमाहीन, अदम्य तथा दुर्दान्त हो उठती है और फिर कान्हके चाहनेपर वही अकस्मात् सिमटकर सीमामें बँध जाती है। यह व्याख्या पौराणिक सन्दर्भके निकट है, पर इसकी परिणति नये आयामको व्यंजित करनेमें समर्थ हुई :

तुमने चाहा है कि मैं इसी जन्म में
इसी थोड़ी-सी अवधि में जन्म-जन्मान्तर की
समस्त यात्राएँ फिर से दोहरा लूँ
और इसीलिए सम्बन्धों की इस घुमावदार पगडण्डी पर
क्षण-क्षण पर तुम्हारे साथ
मुझे इतने आकस्मिक मोड़ लेने पड़े हैं

और ये सम्बन्धोंके मोड़ हैं, जिसमें कृष्ण कभी सखा, कभी बन्धु, कभी आराध्य, कभी शिशु, कभी दिव्य और कभी सहचर हो जाते हैं, और, राधा सखी, साधिका, बान्धवी, माँ, वधू और सहचरी बन जाती है। इन सम्बन्धोंकी स्थिति नयी नहीं है, पर इनका एक बिन्दुपर सन्तुलित होना और हर सम्बन्धको स्त्री-पुरुषके भावबोधके इसी स्तरपर स्थापित करना नया है :

और मैं बार-बार नये-नये रूपों में
उमड़-उमड़ कर
तुम्हारे तट तक आयी
और तुमने हर बार अथाह समुद्र की भाँति
मुझे धारण कर लिया—
विलीन कर लिया—
फिर भी आकुल बने रहे

अपनी भावनाओंके विकासके दूसरे चरण 'सृष्टि-संकल्प' में राधाके मनके प्रश्न और जिज्ञासा अधिक स्पष्ट हैं। उन्होंने सर्जन-प्रक्रियाके क्रीड़ा-विलासमें नया सन्दर्भ ढूँढ़ा है। 'सृजन-संगिनी' के रूपमें राधा कृष्णकी समस्त इच्छा और संकल्पके अर्थके रूपमें अपनेको पाती है, जिस संकल्पसे सृष्टि होती है, जो कृष्णके अस्तित्वकी अकेली सार्थकता है। और यह सृष्टि क्या है ? :

यह प्रवाह में बहती हुई
तुम्हारी असंख्य सृष्टियों का क्रम
महज़ हमारे गहरे प्यार
प्रगाढ़ विलास

और अतृप्त क्रीड़ाकी अनन्त पुनरावृत्तियाँ हैं—पर निखिल सृष्टिको लीला-तनके रूपमें अनुभव करनेवाली राधाको सर्जनके अज्ञात रहस्य 'आदिभय' से आकुल करते हैं। उद्दाम क्रीड़ाकी वेलामें सर्जन-प्रक्रियामें परिव्याप्त अपने विराट् अस्तित्वको अनुभव करके भी राधा प्रश्नशील है :

अगर यह निखिल सृष्टि
मेरा लीलातन है
तुम्हारे आस्वादन के लिए,
तो यह जो भयभीत है—वह छायातन
किसका है ?
किसके लिए है—मेरे बन्धु मित्र ?

लीला-क्षणोंमें भी यह भय राधाको क्यों घेरे रहता है ? लीला-केलि इच्छा है, संकल्प है, अतः उसका संशयाकुल और भयाकुल होना सहज है। इस प्रसंगको प्रणय-केलिके गहन सूक्ष्म सन्दर्भोंमें कविने अत्यन्त कोमलतासे अंकित किया है। प्रणयका अन्तिम उन्मेष 'केलिसखी' में व्यक्त हुआ है। यह भय तो जैसे केलिमें अधिक आवेगसे प्रेरित करनेके लिए ही हो। इस

केलिमें शिथिल बन्धनोंवाली राधा अधिकाधिक विसर्जित होती जाती है— एकमेक होनेकी उद्दाम आकांक्षाके साथ, जिसके अन्धे और उन्माद-भरे कसावमें कृष्ण भी व्याकुल हो उठते हों, जैसे :

अथाह समुद्र की उत्ताल, विक्षुब्ध
हहराती लहरों के निर्मम थपेड़ों से—
छोटे से प्रवाल-द्वीप की तरह
बेचैन—

और व्यक्तित्वकी उपलब्धिके इन्हीं क्षणोंमें राधा इतिहासको चुनौती देती है कि जबतक मैं अपने प्रगाढ़ केलि-क्षणोंमें अस्थायी विराम-चिह्न न दूँ, तबतक :

कह दो समय के अचूक धनुर्धर से
कि अपने शायक उतार कर
तरकश में रख ले
और तोड़ दे अपना धनुष
और अपने पंख समेट के द्वार पर चुपचाप
प्रतीक्षा करे—

अभीतक राधाके चरित्रमें उन प्रश्नों और जिज्ञासाओंका विकास ही हुआ है जिनके माध्यमसे कवि राधाके माधुर्य, आश्रयी और रोमैण्टिक भावाकुल व्यक्तित्वको आधुनिक भावबोधके स्तरपर नये सन्दर्भोंसे युक्त कर सका है और नये आयाम दे सका है। 'पर इतिहास' खण्डमें राधाके व्यक्तित्वका यही स्तर अधिकाधिक उद्‌घाटित हुआ है। राधा विरह-वेदनामें जिस प्रकार माधुर्य भक्तिका चरम उत्कर्ष पा सकी है, उसी प्रकार कनुप्रिया विरहके अवसाद और कसकमें व्यक्तिकी उपलब्धि और इतिहासकी सार्थकताके संघर्षको झेल सकी है। यह समानान्तरता आकस्मिक नहीं है, यह राधाके संगठित व्यक्तित्वकी अपनी परिणतिके कारण ऐसा हुआ है।

'इतिहास' के अन्तरालमें राधा अपनी उपलब्धिके क्षणसे दूर हट चुकी है, अब रीते हुए पात्रकी आख़िरी बूँद-सा उसका तन और संशय शेष रह गया है। पर इस अवसाद और कसकके बीच उसके मनका यह प्रश्न आग्रही हो उठा है :

कौन था वह
जिसने तुम्हारी बाँहों के आवर्त में
गरिमा से तन कर समय को ललकारा था।
कौन था वह
जिसके चरम साक्षात्कार का एक गहरा क्षण
सारे इतिहास से बड़ा, सशक्त था।

उसकी वेदनामें अनकहा उपालम्भ अनुगूँजित है कि कृष्णने लीलाभूमि और युद्धक्षेत्रके अलंघ्य अन्तरालको पार करनेके लिए उसे सेतु-भर माना है जो उनके चले जानेके बाद निर्जन और निरर्थक छूट गया है। अपनी पुरानी सुधियोंमें लीन राधाके मनमें बार-बार यह भाव उठता है कि अपनी बेसुधीके एक क्षणमें समस्त जगत्को लीन करनेका उसका दावा सच था या नहीं। यद्यपि इस क्षण उसके मनमें अपनी तन्मयताके क्षणोंकी उपलब्धिके विषयमें दुविधा है, पर उसके मनका विश्वास इस प्रश्नमें सन्निहित है :

तुम्हारे महान् बनने में
क्या मेरा कुछ टूट कर बिखर गया है कनु !

आगे राधा कुरुक्षेत्रके युद्धकी अमंगल छायाका अनुभव करती है और कृष्णकी युद्धोन्मत्त सेनाओंको गुज़रती देखकर उनकी भीड़-भाड़में अपनेको और अपने प्यारको अपरिचित छूटा हुआ पाती है। युद्धकी इस भूमिकामें 'इतिहासका प्रश्न' मुखरित हो उठता है। एक बार यह मान लेनेपर भी कि व्यक्तिकी उपलब्धि, उसके क्षणकी तन्मयता, मात्र भावावेश है, कल्पना

है, अर्थहीन आकर्षण था और यह मान लेनेपर कि पाप-पुण्य, धर्माधर्म, न्याय-दण्ड और क्षमा-शीलका दायित्व सत्य है, तो भी जिसने उस उपलब्धिकी सार्थकताका अनुभव किया है उसके लिए इस युद्धघोष, क्रन्दन-स्वर, अमानुषिक घटनाओंवाले इतिहासकी सार्थकता समझ पाना कठिन है। व्यक्तिकी उपलब्धिकी सार्थकताके बिना दायित्वकी व्याख्या करनेवाले 'शब्द : अर्थहीन' हैं, इसीलिए राधा इन शब्दोंकी व्याख्याके स्थानपर कृष्णकी वाणीको अधिक महत्त्वपूर्ण मानती हैं, क्योंकि वह साक्षात्कार है। अगणित शब्दोंका मात्र अर्थ है—मैं, और इस 'मैं' के बिना इतिहास भी समझा नहीं जा सकेगा।

'समुद्र-स्वप्न' के अन्तर्गत राधाने इसी प्रश्नको व्यापक सर्जन-प्रलयके रूपकके माध्यमसे रखा है। दायित्वके निर्वहणके लिए सारा इतिहास गतिशील होता है, युद्धोंकी विभीषिका झेली जाती है, प्रलय और संहार सहा जाता है, पर इसके बाद क्या निर्णय हो पाता है। यह सापेक्ष है। इसी कारण सम्पूर्ण संघर्ष झेलनेके बाद कृष्ण असफल इतिहासको जीर्ण वसनके समान त्याग कर राधाकी आकांक्षा करते हैं। यह व्यक्तित्वकी खोज है :

> गहरी पुकार हो
> सब त्याग कर
> मेरे लिए भटकती हुई····

और यहींसे 'समापन' प्रारम्भ होता है जिसमें इस विकसित प्रश्नका समाधान व्यंजित है। दायित्वसे श्रान्त, क्लान्त और उदास कृष्ण जब राधा (व्यक्तित्व) को पुकारते हैं, तब वह सब छोड़-छाड़कर प्रस्तुत हो जाती है। राधाने कृष्णमें विलीन न होकर तथा उनकी कालावधिहीन रासको अस्वीकार कर अपने व्यक्तित्वकी रक्षा कृष्णको ऐसे क्षणमें समर्पित करनेके लिए ही की है। जन्मान्तरोंकी अनन्त पगडण्डीके कठिनतम मोड़पर खड़ी

होकर राधा कृष्णकी प्रतीक्षा कर रही है, जिससे इस बार इतिहासको गति देते समय वे अकेले न छूट जायें। राधा इस बार तन्मयताके क्षणकी लय मात्र न रहकर, अपने व्यक्तित्वकी उपलब्धिमें इतिहासको सार्थकता प्रदान करनेके संकल्पके साथ प्रस्तुत है :

मैं आ गयी हूँ प्रिय !
मेरी वेणी में अग्निपुष्प गूँथने वाली
तुम्हारी उँगलियाँ
अब इतिहास में अर्थ क्यों नहीं गूँथतीं ?

इसके इस प्रश्नमें उत्तर सन्निहित है, जो आत्म-विश्वासकी दृढ़ताके साथ व्यंजित है।

सवाल उठता है कि इतिहासकी दायित्वपूर्ण प्रक्रिया और व्यक्तिके चरम तन्मयताके क्षणोंके सामंजस्यकी कोई भावभूमि इस कथाकृतिमें क्या प्रस्तुत हो सकी है ? किसी काव्यकृतिसे तार्किक निष्पत्ति तक पहुँचनेकी आशा करना संगत नहीं है। वह मनुष्यके जीवनके गहन और सूक्ष्म स्तरोंको उद्घाटित कर भावबोधको संवेदित करती है। पर प्रस्तुत काव्य-में अन्तर्निहित प्रश्नके उत्तरकी व्यंजनाकी आशा की जाती है, और जैसा कहा गया है व्यंजित है भी। कृष्ण राधाके माध्यमसे इतिहासको अर्थ दे सकेंगे, जीवनके प्रत्येक दिये गये क्षणकी स्वीकृति इतिहासकी सार्थकता है। व्यक्तिको अलग कर उसके (इतिहास) दायित्वका सारा बोध झूठा पड़ जाता है, अतः व्यक्तिकी उपलब्धिके साथ दायित्वकी भावना भी अर्थवान् हो सकेगी। यह तो है, पर राधाके चरित्रका विकास जिस भावस्तरपर हुआ है, वहाँ यह व्यंजना साफ़ उभर नहीं भी पायी है। एक ओर भक्तिकी दृष्टिसे राधाका समर्पण और दूसरी ओर राधाकृष्णका प्रकृतिपुरुषका रूपक, व्यक्तिको अपने व्यक्तित्वके सन्दर्भमें भी विस्मरणकी उस स्थितिमें पहुँचा देता है जहाँ वह इतिहास और उसके दायित्वसे

पूर्णतः विच्छिन्न लगता है। क्षणकी तन्मयताका विस्मरण नहीं, वरन् सजग उपलब्धि ही व्यक्तित्वको वह आयाम दे सकती है, जिसमें इतिहास भी सार्थक हो सके।

आधुनिक काव्यके सम्बन्धमें भाषा, शैली और छन्दका प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण और मौलिक है कि उसके साथ न्याय करनेके लिए विस्तार और किंचित् व्यापक सन्दर्भकी आवश्यकता है। 'कनुप्रिया' की भाषा सरल सहज होकर भी काव्य-भाषा है, एक प्रकारसे इस काव्यकी यही उपयुक्त भाषा है, क्योंकि उसके माध्यमसे कविने इस उदात्त तथा भावाकुल कथा-को आधुनिक भावबोधके स्तरपर व्यंजित किया है। काव्य जिस संवेदनके स्तरपर अवतरित होता है, भाषा उसीपर प्रस्तुत हो जाती है, क्योंकि भाषा जीवनकी प्रक्रियाका अंग है। भाषाके इसी रूपमें शब्दोंको नयी सार्थकता मिली है जिनसे भावबोधके नये स्तर उद्‌घाटित हो सकें। शब्दोंकी इस नयी व्यंजना-शक्तिने प्रतीक-योजना, चित्रमयता और अलंकरणके नवीन विधान प्रस्तुत करके भी इसी संवेदनमें सहयोग दिया है। इसी प्रकार आधुनिक कविने जिस सहज स्तरपर भाषाको स्वीकार किया है, उसी स्तरपर उसने अपने छन्दका आविष्कार भी किया है। इसको ग्रहण करनेमें कठिनाई इस कारण है कि यह प्रचलितसे भिन्न है। अनेक लोगोंको इसी कारण इस काव्यके पठित रूपमें और लेखक-द्वारा प्रस्तुत किये गये (श्रव्य) रूपमें अन्तर लगा है, यह स्थिति नये काव्य-मात्रकी है।

■

नयी कविताकी समस्या

'तीसरा सप्तक' के प्रकाशनकी प्रतीक्षा थी। 'तार सप्तक' के आजसे सत्रह वर्ष पहलेके प्रकाशनसे आधुनिक काव्यकी जिस नयी प्रवृत्तिका परिचय मिला था, उसके सम्बन्धमें इस नये सप्तकके माध्यमसे हम किसी निश्चित दिशाका निर्देशन ले सकेंगे, ऐसी आशा थी। पिछले दो दशकोंमें इस काव्य-प्रवृत्तिकी बहुत अधिक चर्चा हुई, यह इस काव्य-प्रवृत्तिकी शक्ति और महत्त्वका प्रमाण है। 'तार सप्तक' काव्यके क्षेत्रमें जिस अन्वेषण और प्रयोगका आग्रह लेकर प्रस्तुत हुआ था, उसका तीखा विरोध परम्परावादी प्रतिष्ठित समालोचकों और प्रगतिवादियोंने किया। 'तार सप्तक' के सम्पादकने स्पष्ट शब्दोंमें घोषित किया था कि हमारा कोई वाद नहीं, हम केवल अपने मार्गोंके अन्वेषी हैं। परन्तु इस कविताके विरोधियोंने 'प्रयोगवाद' नामके नये मतवादके प्रवर्तनका दायित्व, अनचाहे और अकारण ही, सम्पादकके मत्थे मढ़ दिया। इस कविताको व्यक्तिनिष्ठ, समाजविरोधी, उच्छृंखल, नीरस, चौंकानेवाली, अहंवादी, पलायनवादी, अनास्थावादी आदि कहा गया। परन्तु, चतुर्दिक् विरोधके बावजूद अपनी प्राणशक्तिके बलपर यह अग्रसर होती रही है।

'दूसरा सप्तक' का प्रकाशन सन् '५१ में हुआ और इस समय तक प्रयोगशील कविता अपनेको प्रतिष्ठित कर चुकी थी। सम्पादकने 'भूमिका'-में आत्मविश्वास और दृढ़ताके साथ अपनी बातको स्थापित किया—'प्रयोगका कोई वाद नहीं है। न प्रयोग अपने-आपमें इष्ट या साध्य है।' अज्ञेयजीने प्रयोगको दोहरा साधन माना है—'क्योंकि एक तो वह उस

---

१. 'तीसरा सप्तक' की भूमिकाके परिप्रेक्ष्यमें।

सत्यको जाननेका साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषणकी क्रियाको और उसके साधनोंको जाननेका भी साधन है। अर्थात् प्रयोग-द्वारा कवि अपने सत्यको अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है।' यह भूमिका आरोपोंके उत्तर रूपमें नहीं है, पर उनको ध्यानमें रखकर अवश्य लिखी गयी है। इसी कारण इसमें संगत प्रश्नोंको उठाकर, उनका समाधान प्रस्तुत किया गया है। और इस रूपमें यह प्रयोगशील काव्यकी स्थापना मानी जा सकती है। उनका कहना है कि प्रयोगोंके माध्यमसे 'आजका जीवित सत्य अभिव्यक्ति खोज रहा है, भले ही अटपट शब्दोंमें।' इस प्रसंगमें उन्होंने साधारणी-करणके सिद्धान्तको भी उठाया है। उनके अनुसार इससे 'प्रयोगोंकी आवश्यकता सिद्ध होती है। राग वही रहनेपर भी रागात्मक सम्बन्धोंकी प्रणालियाँ बदल जाती हैं।....जैसे-जैसे (यह) बाह्य वास्तविकता बदलती है, वैसे-वैसे उससे हमारे रागात्मक सम्बन्ध जोड़नेकी प्रणालियाँ (काव्य प्रयोग) बदलती हैं—और अगर नहीं बदलतीं तो उस बाह्य वास्त-विकतासे हमारा सम्बन्ध टूट जाता है।' भाषाके प्रश्नको भी अज्ञेयने उठाया है – '(शब्दका) चमत्कार मरता है और चामत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता रहता है। यों कहें कि कविताकी भाषा निरन्तर गद्यकी भाषा होती जाती है। इस प्रकार कविके सामने हमेशा चमत्कारकी सृष्टि-की समस्या बनी रहती है।'

इस प्रकार 'दूसरा सप्तक' की भूमिकामें अज्ञेयने 'तार सप्तक' की स्थापनाओंकी व्याख्या की है। और इसमें काव्यकी अभिव्यक्तिकी ओर उनका ध्यान अधिक रहा है। ऐसा नहीं कि काव्य-अभिव्यक्तिकी सजगता उनमें नहीं है। जब वह कहते हैं – 'प्रयोगोंका महत्त्व कर्ताके लिए चाहे जितना हो, सत्यकी खोज, लगन उसमें चाहे जितनी उत्कट हो, सहृदयके निकट अप्रासंगिक है' – उस समय उनका बल अभिव्यक्त सत्य (मोती) पर है। 'तथ्य' और 'सत्य' के अन्तरको स्पष्ट करनेके प्रसंगमें उन्होंने यह

प्रतिपादित किया है कि आजकी वास्तविकतासे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके ही आन्तरिक सत्यकी उपलब्धि सम्भव है। उनको इस बातका आभास भी है कि उन्होंने व्यक्ति-सत्यकी स्थापना करके भी आजके काव्यके सम्बन्धमें उसकी संगति प्रतिपादित नहीं की, उनका कहना है–'दूसरा सप्तक' की भूमिकाको इससे आगे जाना चाहिए। बल्कि यहाँसे उसे आरम्भ करना चाहिए।' लेकिन ऐसा कहकर भी उन्होंने 'भूमिका'को आगे विस्तार नहीं दिया, संकलित कवियोंके विषयमें केवल इतना कहकर ही यह 'भूमिका' समाप्त हो गयी है–'प्रयोगके लिए प्रयोग इनमें-से किसीने नहीं किया है पर नयी समस्याओं और दायित्वोंका तक़ाज़ा सबने अनुभव किया है।'

इस प्रकार अज्ञेयने प्रयोगशील कविताके बारेमें 'दूसरा सप्तक' तक कुछ मौलिक स्थापनाएँ की थीं। यह भी माना जा सकता है, कि उन्होंने इससे अधिक इस कविताके प्रतिमानोंकी व्याख्या अपेक्षित न समझी हो। शायद इसलिए कि इस कवितामें अनेक दिशाएँ समाहित हैं, अनेक सम्भावनाएँ निहित हैं, अनेक दृष्टियाँ उभर रही हैं, जीवनको न जाने कितने परिप्रेक्ष्य मिल रहे हैं, और यह भी सम्भव है कि वह अपनी काव्य-दृष्टिको किसी सीमामें बाँधना ही नहीं चाहते। 'दूसरा सप्तक' और 'तीसरा सप्तक' के प्रकाशनके बीचमें इस काव्य-धाराने उपलब्धिको निश्चित दिशाएं ग्रहण की हैं। अज्ञेयने 'दूसरा सप्तक' में यह कहा था कि 'यह नये हिन्दी-काव्यको निश्चित रूपसे एक क़दम आगे ले जाता है।' पर 'तीसरा सप्तक' में उन्होंने मूल्यांकनके प्रतिमान खोजनेकी चेष्टा की है। वस्तुतः इस बीच इस काव्य-प्रवृत्तिकी स्थापनाके स्थानपर उसके मूल्यांकनकी समस्या अधिक महत्त्वपूर्ण हो गयी है। विरोध इसका चाहे जिसने किया हो, और चाहे जितना किया हो, पर यह क्रमशः प्रतिष्ठित होती काव्य-धारा है। कई नये कवियों और समीक्षकोंने सप्तकके प्रकाशनके पूर्व नयी कविताके परिवेश, उसकी संवेदनीयता तथा उसके प्रतिमानों आदिपर विचार किया है।

'तीसरा सप्तक' की प्रतीक्षामें यही आशा अन्तर्निहित थी कि इस काव्य-धाराका प्रारम्भसे नेतृत्व करनेवाले अज्ञेय आजकी नयी कविताके मूल्यों तथा प्रतिमानोंकी भूमिका भी प्रस्तुत करेंगे । यहाँ यह कह देना भी अप्रासंगिक नहीं है कि इधर नयी कविताके आदि कविकी खोज और स्थापनाएँ भी होने लगी हैं । इस विवादमें बिना पड़े यह कहा जा सकता है कि किसी प्रवृत्तिकी कविता आगे-पीछे लिखना अलग बात है और नेतृत्वके अनुकूल गत्यात्मक व्यक्तित्व (काव्य-व्यक्तित्वसे भाव है) होना अलग बात है । इस दृष्टिसे अज्ञेयकी स्थिति विवादसे परे है । 'भूमिका'-के प्रारम्भसे ही लेखकका ध्यान नयी कविताके मूल्यांकनकी समस्यापर केन्द्रित है । पर 'तीसरा सप्तक' का सम्पादक दुविधा और संकोचका अनुभव कर रहा है । यह तो उसने प्रारम्भमें स्पष्ट कर दिया है कि दुविधामें पड़नेका कारण कवियोंकी उपलब्धिके प्रति कम आशावान् होना नहीं है। इसके विपरीत वह उलटा ही सच मानता है । इस दुविधा और संकोचका कारण बतानेका प्रयत्न लेखकने अवश्य किया है, पर वह पर्याप्त नहीं जान पड़ता है । यह ठीक है कि प्रयोगशीलताकी 'प्रारम्भिक अवस्थासे नयी कविता काफ़ी आगे बढ़ चुकी है । नयी कविताका अपने पाठकके और स्वयं अपने प्रति उत्तरदायित्व बढ़ गया है ।' और यह भी मान लिया जाये, तो भी ठीक है कि 'तीसरा सप्तक' तक पहुँचते-न-पहुँचते 'इस बातका अधिक महत्त्व हो गया है कि संकलित रचनाओंका (आजकी नयी कविताका) मूल्यांकन सम्पादक स्वयं न भी करे तो कमसे कम पाठककी सहायता अवश्य करे। तब भी सम्पादककी दुविधा और संकोचका कारण तो स्पष्ट नहीं हो सका है । 'कृतिकारोंका अनुधावन करनेवाली, स्वल्प पूँजीवाली प्रतिभाओं'से भी चिन्तित होने-जैसे बात नहीं हो सकती है, यदि हम उसकी (नयी कविताकी) वास्तविक उपलब्धिके प्रति आश्वस्त हैं ।

इस दुविधा और संकोचपर विचार करनेके पूर्व हम अज्ञेयकी नयी कविताके मूल्यांकनसम्बन्धी स्थापनाओंको सामने रखना चाहेंगे। इस

'भूमिका' में अज्ञेयने तीन समस्याएँ उठायी हैं, भाषा, सम्प्रेष्य वस्तु तथा शिल्पकी। इनमें-से पहली और तीसरीका सम्बन्ध अभिव्यक्ति पक्षसे अधिक है और दूसरीका अभिव्यक्तसे, यद्यपि इनको काव्यमें इस प्रकार अलग-अलग करके समझा नहीं जा सकता। अज्ञेय स्वीकार करते हैं कि 'प्रत्येक शब्दका प्रत्येक समर्थ उपयोक्ता उसे नया संस्कार देता है। नये कविकी उपलब्धि और देनकी कसौटी इसी आधारपर होनी चाहिए।' नये कविको 'नयी शिल्प दृष्टि मिली है। वह नयी वस्तुको ग्रहण और प्रेषित करता हुआ शिल्पके प्रति कभी उदासीन नहीं रहा है, क्योंकि वह उसे प्रेषणसे काटकर अलग नहीं करता है।' भाषा और शिल्पसम्बन्धी इन स्थापनाओंमें अज्ञेयने अपनी पूर्व स्थितिकी व्याख्या की है। उन्होंने स्वयं इस शिल्पके सम्बन्धमें नयी दृष्टिको महत्त्व दिया है। सम्भवतः उनका इस नयी दृष्टिसे अर्थ है, 'कवियोंमें अपने कवि-कर्मके प्रति गम्भीर उत्तरदायित्वका भाव हो, अपने उद्देश्योंमें निष्ठा और उन तक पहुँचनेके साधनोंके सदुपयोगकी लगन हो।' यहीं प्रश्न उठता है कि यह उत्तर-दायित्व क्या है? क्या उद्देश्य है? इसके सम्बन्धमें लेखकका कहना है, 'जहाँ प्रयोग हो वहाँ कवि मानता हो कि वह सत्यका ही प्रयोग है। ....देखना यह होता है कि वह सत्यके साथ खिलवाड़ या 'फ़्लर्टेशन मात्र न हो।'

अन्ततः सम्प्रेष्य वस्तुका प्रश्न आता है। काव्यके इस परिप्रेक्ष्यमें नयी कविताके मूल्यांकनकी सम्भावनाएँ हो सकती हैं, क्योंकि भाषा और शैलीके सन्दर्भमें प्रयोगशील काव्यकी पहली भूमिकाओंमें भी चर्चा की जा चुकी थी। और भाषा तथा शैलीके प्रयोगशीलताका प्रश्न आजकी कविता ही क्यों, युग-युगकी कविताके साथ लगा हुआ है। इस सम्बन्धमें जो बात नये कविके विषयमें कही गयी है, वही प्रत्येक युगके नये कविके बारेमें सही मानी जा सकती है। अज्ञेयने 'दूसरा सप्तक'की भूमिकामें इसी बातको विस्तारके साथ प्रतिपादित भी किया है। प्रेषणीयता और साधारणीकरणकी समस्याओंको पहले भी उठाया गया था पर सम्प्रेष्य

वस्तुका प्रश्न इस भूमिकामें अधिक स्पष्टताके साथ सामने लाया गया है। लेखकने इस तथ्यपर बल देनेकी आवश्यकताकी ओर ध्यान आकर्षित किया है कि 'काव्यका विषय और काव्यकी वस्तु (कण्टेण्ट) अलग-अलग चीजें हैं।' यह विभेद महत्त्वपूर्ण है और लेखकने इसके माध्यमसे नयी कविताके समझनेका सूत्र दिया है। लेखकके अनुसार नया विषय चुननेपर भी वस्तु पुरानी रह सकती है और विषय पुराना रहनेपर भी वस्तु नयी हो सकती है। इसका मतलब यह हो सकता है कि आधुनिक शीत-युद्ध, अनास्था तथा शान्ति आदिकी समस्याएँ यद्यपि नये विषय हैं पर कविकी संवेदनीयता इनके प्रति मध्ययुगीन आदर्शवादी हो सकती है। इसी प्रकार 'महाभारत'की कथाकी पुरानी समस्याओं (विषय) को आधुनिक संवेदनीयताके आधारपर काव्यकी वस्तु बनाया जा सकता है। परन्तु, लेखकने वस्तुकी नवीनताकी ही नहीं, उसकी मौलिकताकी माँग कविसे की है, 'विषय केवल नये हो सकते हैं, 'मौलिक' नहीं—मौलिकता वस्तुसे ही सम्बन्ध रखती है।' आगे वस्तुको ही सम्प्रेष्य मानकर मौलिकताको पुनः वस्तुकी प्रेषणीयता (अभिव्यक्ति पक्ष) से जोड़ दिया गया है—'नये (या पुराने भी) विषयकी, कविकी संवेदनापर प्रतिक्रिया, और उससे उत्पन्न सारे प्रभाव जो पाठक-श्रोता-ग्राहकपर पड़ते हैं, और उनके प्रभावोंका सम्प्रेष्य बनानेमें कविका योग (चेतन, अचेतन और अवचेतन हो सकता है)—मौलिकताकी कसौटीका यही क्षेत्र है।'

लेखकके दृष्टिकोणपर इस सीमा तक विचार करनेके बाद उसकी दुविधा और संकोचका वास्तविक कारण स्पष्ट होने लगता है। नये कवियोंमें अनेक हैं जिन्होंने नये विषयको ही नयी वस्तु समझ लिया है और इस प्रकारके विषय स्वीकार कर लेने-भरसे अपने कवि-कर्मके दायित्वका निर्वाह मान लेते हैं, यही उनकी मौलिकता मान ली जाती है। पर नयी कविताकी यह वास्तविक दृष्टि नहीं है, इससे उसके बारेमें विभ्रम ही उत्पन्न होता है। यहाँ ऐसे कवियोंका भी उल्लेख किया जा सकता है जो नयी भाषा

तथा शैली (अन्य कवियोंसे उधार लेकर) में वस्तुकी मौलिकताका आभास देते हैं। इन दोनों वर्गोंके कवियों और कविताओंको एक साथ लिया जा सकता है। वस्तुतः नयी कविताके सम्बन्धमें यह विभ्रमकी स्थिति उसके समीक्षकको सन्देह और दुविधाकी स्थितिमें डाल सकती है, और 'तीसरा सप्तक' के संकलनमें अज्ञेयकी यह मनःस्थिति है तो आश्चर्य नहीं। लेकिन यह स्थिति बड़ी चिन्ताकी बात नहीं मानी जा सकती, क्योंकि समसामयिक काव्य-प्रवृत्तिके सम्बन्धमें यह सहज बात है, और यही अन्तर्दृष्टिकी बात है कि इस झाड़-झंखाड़के बीचसे मौलिक तत्त्वोंका समुचित प्रतिपादन किया जा सके।

पर वास्तवमें लेखककी दुविधाका एक गहरा स्तर भी खोजा जा सकता है। 'तार सप्तक' के प्रकाशनके समय अज्ञेयने अनुभव किया था कि संकलित कवियोंमें अन्वेषण और प्रयोगकी सम आधारभूमि है, यद्यपि अपने-अपने विचारों और मान्यताओंमें उनमें बहुत मतभेद है। सच बात है कि वह जिस नयी काव्य-प्रवृत्तिको अग्रसर तथा प्रेरित करनेका प्रयत्न करते आ रहे हैं, उसमें वर्तमान युगकी सम्पूर्ण विविधता प्रतिफलित हुई है। युरॅपके सम्पर्कसे भारतकी मध्ययुगीन चिन्ताधारामें बहुत बड़ी संक्रान्ति उत्पन्न हो गयी है। युरॅपमें आजकी स्थितिको लानेमें पिछले डेढ़-दो सौ वर्षोंका गत्यात्मक इतिहास क्रियाशील रहा है। और हम कुछ वर्षोंमें युरॅपकी आधुनिक मनःस्थिति तक अपनेको ले जाना चाहते हैं। इसलिए नहीं कि यह अनुकरणमें ऐसा किया जा रहा है, वरन् इतिहासकी शक्तियोंने संसारके सारे देशोंको एक स्थलपर लाकर खड़ा कर दिया है। और अब यह हमारे अस्तित्वकी रक्षाका प्रश्न भी है। युरॅपकी कई विचार-सरणियोंको हम एक साथ पार कर लेना चाहते हैं और यही कारण है कि हमारी विचार-पद्धतिमें भारी संक्रान्ति जान पड़ती है। अनेक बार हम अपनी परम्पराओंसे भी कुछ ग्रहण करते हैं और सब मिलाकर हम स्वयं ठीक नहीं समझ पा रहे हैं कि हम किस ऐतिहासिक क्रममें स्थित हैं।

साहित्यिक आन्दोलनोंके विषयमें भी यही सत्य है। युरॅपके आधुनिक साहित्यसे हमारे आधुनिक साहित्यकी इस अर्थमें समता नहीं हो सकती है। वहाँका आजका साहित्य अपने ऐतिहासिक क्रममें निश्चित भावबोधको व्यंजित करता है। आधुनिकताकी यही दृष्टि युरॅपके गहरे आघातके कारण हमारे सामने है, पर इसके साथ ही हमारे अन्दर अनेक विरोधी संस्कारोंकी स्थिति है, अनेक प्रकारकी चिन्ताधाराओंका संगम है। यही कारण है कि नयी कविताके अन्तर्गत 'जीवन', 'सत्य' अथवा 'वास्तविकता' के न जाने कितने आयाम एक साथ उभरते रहे हैं। इस नयी दृष्टिके अन्तर्गत नव्यमानवतावाद, नव्यस्वच्छन्दतावाद, नव्ययथार्थवाद, नव्यप्रगतिवाद, नव्यरहस्यवाद तथा नव्यप्रभाववाद आदि, जिन्हें अँगरेज़ीमें नियो-रोमैण्टिसिज़्म, नियो-रियलिज़्म, नियो-प्रोग्रेसिविज़्म, नियो-मिस्टिसिज़्म तथा नियो-इम्प्रेशनिज़्म कहते हैं, एक साथ उपस्थित हो गये हैं। अज्ञेयने नयी कविताके आन्दोलनके अन्तर्गत इन सभी प्रवृत्तियोंको एक साथ समाहित किया है। और उनके लिए यह कठिन भी नहीं रहा है। अन्ततः वह जिस शुद्ध कविताका प्रतिपादन करते हैं, उसमें 'वस्तुकी प्रेषणीयता' की मौलिकता ही बड़े कविकी कसौटी है। इसी कारण कविकी सफलताकी जाँच 'सम्प्रेषणके साधनों और तन्त्रके उपभोगकी पड़ताल' से की जा सकती है। उन्होंने काव्यका जो मानदण्ड प्रस्तुत किया है, वह युग-युगकी कविताके सम्बन्धमें समान रूपसे लग सकता है। आजकी कविताके सम्बन्धमें उनका कहना है कि आजका यथार्थ, क्योंकि बदल गया है, अतः वस्तु-सत्यके रूपमें उसे प्रेषणीय बनानेके लिए नये प्रयोगोंकी आवश्यकता है।

इधर कई नये कवियों तथा नयी कविताके समीक्षकोंने आधुनिकताके सन्दर्भमें नयी कवितापर विचार करनेका प्रयत्न किया है; उन्होंने आधुनिकताको मात्र 'बदलती हुई बाह्य वास्तविकता' न मानकर, आजके यथार्थ जीवन ('जीवित सत्य') की उपलब्धिके रूपमें ग्रहण करनेकी कोशिश की

है। आधुनिकताके मूल्यगत प्रश्नके साथ मानव-मूल्योंका सवाल भी उठता है। यहाँ अज्ञेयके साथ यह माना जा सकता है कि मूल्य काव्य-वस्तुके रूपमें ही नयी कविताकी मौलिकताके प्रतिमान हो सकते हैं, मात्र विषयके रूपमें नहीं। जीवनका यथार्थ काव्य-विषय भी होता है और काव्य-वस्तु भी, अर्थात् यथार्थको संवेदित तथा प्रेरित करनेवाले मूल्योंको वस्तुसे अलग नहीं किया जा सकता। यह अवश्य है कि मूल्योंके प्रश्नपर उलझकर कुछ कवि तथा समीक्षक सामाजिक मूल्योंके आधारपर ही काव्यके मूल्यांकनका आग्रह प्रकट करते जान पड़ते हैं, जो निश्चय ही नयी कविताके सहानुभूतिपूर्ण कवि-समीक्षकको संकोचमें डालनेकी बात है।

प्रस्तुत संकलनकी 'भूमिका' हमको नयी कविताको समझनेमें अधिक दूर तक सहायक सिद्ध होती, यदि इसमें अन्तर्निहित दृष्टिकी आधुनिकताके सन्दर्भमें किंचित् अधिक व्याख्या होती। काव्यकी मौलिक प्रवृत्ति क्या है? और काव्यका नया रूप ऐसा क्यों है? इन प्रश्नोंका उत्तर इससे मिल जाता है। पर आजकी नयी कविता आधुनिक दृष्टिमें पिछले युगोंसे किन अर्थोंमें भिन्न है, उसकी मौलिक प्रकृति क्या है, उसकी प्रेरणाके स्रोत कौन-से मूल्य हैं, उसका दायित्व क्या है और वह पिछले युगोंकी कवितासे किस प्रकार भिन्न मानी जा सकती है, उसकी यथार्थ-ग्रहणकी प्रक्रिया क्या है, आदि अनेक प्रश्न हैं, जिनको 'शुद्ध कविता'के प्रश्न नहीं हैं, कहकर टाला नहीं जा सकता। इस 'भूमिका' में ऐसे सूत्र हैं, जिनके माध्यमसे इन प्रश्नोंकी व्याख्या की जा सकती है, क्योंकि लेखककी दृष्टि व्यापक और गहरी है। पर ऐसा जान पड़ता है कि लेखक दुविधा और संकोचमें है कि इन प्रश्नोंकी ओर बढ़ते ही नयी समस्याएँ सामने आ सकती हैं।

'तीसरा सप्तक'में संकलित कवियोंके विषयमें स्वतः सम्पादकका यह दावा नहीं है कि 'जिस काल या पीढ़ीके ये कवि हैं, उसके यही सर्वोत्कृष्ट या सबसे अधिक उल्लेख्य कवि हैं।' पर इतना तो माना ही जायेगा कि ये

सब नयी कविताके उन्मेषके महत्त्वपूर्ण कवि हैं। इस विषयमें भी मतभेद हो सकता है, व्यक्तिगत रुचिका भी और आधुनिकता-सम्बन्धी दृष्टिका भी। क्योंकि सम्पादकने आधुनिकताके विषयमें 'वस्तुकी प्रेषणीयताकी मौलिकता'से अधिक व्याख्या नहीं करना चाहा है, अतः इस चुनावके सम्बन्धमें क्या कहा जाये! यही बात कविताओंके चुनावके बारेमें भी कही जा सकती है। लेकिन कविताओंके बारेमें 'भूमिका'से यह सहायता ली जा सकती है कि कुछ कवियोंकी कई कविताओंमें भाषा-शैली मात्र नयी है; विषय भी पुराना, वस्तु भी पुरानी। नया विषय, पर पुरानी वस्तु तो अनेक कविताओंमें मिलेगी। कमसे कम एक या दोको तो संकलित कविताओंके आधारपर इस दृष्टिसे भी नया कवि मानना कठिन हो जायेगा। पर यदि कोई यह दलील दे कि आजके जीवनमें जो भी है (रूमानी प्रेम, आदर्श, रहस्य, आकर्षण आदि) वह नया विषय है और आज जिस स्तरकी भी हमारी संवेदना है, वह नयी वस्तु हो सकती है, तो फिर आगे कुछ भी कहना कठिन हो जायेगा। हाँ, यह विश्वासके साथ कहा जा सकता है कि इस संकलनमें ऐसी कविताएँ नहींके बराबर हैं जिनमें विषयको ही वस्तु समझा गया हो। सम्भवतः इसी कारण मदन वात्स्यायन और सर्वेश्वर दयालकी कुछ उत्कृष्ट कविताएँ इस संकलनमें स्थान न पा सकी हों, क्योंकि उनमें विषयका (आधुनिक यथार्थका) आग्रह अधिक जान पड़ता है।

इस संकलनकी योजनामें कवियोंके वक्तव्यका भी महत्त्व कई दृष्टियोंसे है। आधुनिक कविताको समझनेके लिए कविकी रचना-प्रक्रियाका अनुसरण करना सहायक माना जाता है और ऐसी स्थितिमें कविके व्यक्तित्वका निकटका ज्ञान भी उपयोगी होगा। इस दृष्टिसे 'तार सप्तक' से 'दूसरा सप्तक' और 'दूसरा सप्तक' से 'तीसरा सप्तक' के वक्तव्य क्रमशः कम महत्त्वके हैं, जब कि स्थिति उलटी होनी चाहिए थी। 'तीसरा सप्तक' के कवि अपने 'आत्म-परिचय' तथा 'वक्तव्य' दोनोंमें अधिक सचेष्ट हो

गये हैं। इस कारण न उनका सहज व्यक्तित्व उभर सका है और न अपने वक्तव्योंमें उनकी अपनी दृष्टिका स्पष्ट रूप व्यक्त हो सका है। प्रायः तो नयी कविता-सम्बन्धी वाद-विवादकी ओर इनका ध्यान चला गया है, या ये कविताके विवेचनमें उलझ गये हैं। मदन वात्स्यायनका वर्गीकरण और विजयदेवनारायण साहीका शील-निरूपण नयी कविता अथवा उनकी कविताको समझनेमें पाठकको कहाँतक सहायक हो सकते हैं? केदारनाथ सिंह 'आजके काव्यके मूल्यांकनका प्रतिमान बिम्ब-निर्माणकी प्रक्रिया' को मानते हैं और उनका सारा वक्तव्य इसीकी व्याख्या है। कुँवरनारायणका वक्तव्य, उनकी अपनी कविता तथा नयी कविताको समझनेकी दृष्टिसे अधिक महत्त्वका है। आजकी कवितामें वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार वह 'सहिष्णु और उदार मनोवृत्ति है जो जीवन-को किसी पूर्वग्रहसे पंगु करके नहीं देखती बल्कि उसके प्रति एक बहुमुखी सतर्कता बरतती है।' और काव्यमें भी विज्ञानका यह पहलू उन्हें पसन्द है, जो किसी भी सत्यको स्वयंमें अन्त न मानकर उसे अगले सत्य तक पहुँचने-का साधन मानता है। साहीके शील-निरूपणमें शैलीके कारण ठीक परिप्रेक्ष्य नहीं उभर सका है पर उन्होंने नयी कविताके विषय और वस्तुसे सम्बन्धित कई मूल्योंका निर्देश करना चाहा है, वस्तुकी मौलिकता, मानव विवेक, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, व्यक्तित्वकी गरिमा, दूसरेकी स्वतन्त्रताकी रक्षा-का दायित्व आदि। परन्तु इस प्रकारकी घोषणाओंसे सहमत-असहमत होना कठिन हो जाता है, क्योंकि सन्देह है कि इनसे पाठककी संवेदनीयताको सहायता मिल सकती है। सर्वेश्वरके वक्तव्यका पहला अंश तो जैसे नयी कविताके बचावमें लिखा गया हो, जिसका कोई प्रसंग नहीं था। अन्तमें उन्होंने अपनी तीन मान्यताओंको रखा है, 'विषय वस्तुको रूप-विधानसे अधिक महत्त्व देना, विषयके अनुरूप लयका प्रयोग तथा व्यापक संवेदना और ऊपरी आक्रोशके कारण बोलचालकी भाषाका माध्यम।' कीर्ति चौधरीके वक्तव्यसे स्पष्ट है कि उनको इस प्रकारकी व्याख्याओंसे चिढ़ है,

वस्तुतः अपनी रचना-प्रक्रियाकी व्याख्या करना सबके वशकी बात है भी नहीं। प्रयागनारायणने कविताकी व्याख्या 'अभिव्यक्ति' के रूपमें करके कहाँतक नयी कविताको समझा या समझाया है, कहा नहीं जा सकता।

इस संकलनकी अधिकांश कविताएँ ऐसी हैं जिनसे नयी कविताकी उपलब्धिके किसी-न-किसी आयामको समझनेमें सहायता मिलती है। इनके माध्यमसे आधुनिकताके उभरते हुए नये-नये परिप्रेक्ष्य हमारे सामने आते हैं। परन्तु जिस प्रकार आजकी नयी कवितामें दृष्टि नयी होते हुए भी अनेक स्तरकी संवेदनाएँ मिल-जुल गयी हैं, इस संकलनमें उन सभी स्तरोंका प्रतिनिधित्व है। इस प्रकार प्रस्तुत संकलन नयी कविताके विकास-क्रममें अपना महत्त्व रखता है और यह सम्पादककी सफलता है[१]।

■

१. यहाँ संकलनकी कविताओंपर विचार नहीं किया गया है। इनमें अधिकांश कविताएँ हमारी परिचित हैं और नयी कवितासम्बन्धी अनेक विचार-विनिमयोंमें इनका सन्दर्भ दिया गया है। प्रस्तुति समीक्षा-दृष्टिमें कविताएँ नहीं वरन् संकलन रहा है।

युग-जीवनकी सम्पृक्ति[1]

हिन्दी साहित्यके इधरके दशकोंमें आधुनिक भावबोधके स्तरोंमें भारी व्यतिक्रम और परिवर्तन परिलक्षित होता है। विशेषकर यह स्थिति काव्यमें अधिक है। इसका कारण है कि आधुनिक हिन्दी काव्य, विकासकी अनेक सरणियोंको सीमित अवधिमें पार करनेमें प्रयत्नशील रहा है। उसका यह प्रयास भावबोधके व्यवधानको दूर करनेमें जितना संलग्न रहा है, उतना ही शैली, शिल्प और अभिव्यक्तिके क्षेत्रमें भी सक्रिय देखा जा सकता है। यद्यपि इस विकास-कालके संहति (कम्प्रेस) करनेकी प्रक्रिया पाश्चात्त्य काव्य-धाराओंकी संवेदनाओंके समवर्त्ती होनेके कारण अधिक सक्रिय है, पर मुख्यतः इसकी मूल प्रेरणा कविको अपने युगके सन्दर्भमें विकसित होते भावबोधसे मिली है। हमारा जन-जीवन भले ही संसारव्यापी मानवीय मूल्योंके संकट, उनकी संक्रान्ति और नये मूल्योंके अन्वेषणकी छटपटाहटसे अपरिचित रहा हो, पर हमारा उद्बुद्ध साहित्यकार इनके प्रति जागरूक ही नहीं है, संवेदनशील भी हुआ है। पाश्चात्त्य काव्यमें भावबोधके विकसित होनेमें और काव्यकी उपलब्धिके रूपमें उसके प्रतिष्ठित होनेमें अपेक्षाकृत समय लगा है, यद्यपि आधुनिक युगमें वहाँ भी वैज्ञानिक प्रगतिके साथ सामाजिक मूल्योंके संक्रमणकी जो स्थिति रही है, उससे काव्यानुभूतिमें क्षिप्र और तीखे अन्तर आते गये हैं। किन्तु हमारे साहित्यमें केवल ऐसा ही नहीं हुआ कि वह सारा क्रम कम अवधिमें प्रतिघटित हुआ हो, इसमें अनेक स्थितियाँ काव्यबोधके एक ही स्तरपर सक्रिय हुई हैं।

---

१. सर्वेश्वरके माध्यमसे।

ऐसा इसलिए भी हुआ कि हमारे युग-जीवनमें युरॅपके सम्पर्कके कारण विकासकी अनेक स्थितियाँ अनेक स्तरोंपर एक साथ आभासित हुई हैं। पर हमारे कविने अपने युग-जीवनकी शिथिल प्रक्रियासे कहीं व्यापक परिवेशसे अपनी काव्य-प्रेरणाएँ ग्रहण की हैं। इस कारण उसके काव्यमें यह भावबोधके संक्रमणकी स्थिति विषम रूपसे मिलती है। इसके परिणामस्वरूप एक ओर हिन्दी नये काव्यके भावबोधका स्तर सामान्य युग-जीवनके स्तरके आगेका है, जिसका सहभोग कविके समान अधिक प्रखर संवेदनवाले पाठक ही कर पाते हैं; और दूसरी ओर काव्य-प्रवृत्तिको निश्चित भावबोधके स्तरपर उपलब्ध होनेका पूरा अवसर नहीं मिल पा रहा है। नयी कवितामें जितनी शीघ्रतासे इन स्तरों और आयामोंका परिवर्तन देखा जा सकता है, उतनी ही सरलतासे अपने लिए अपनी रूढ़ियाँ बनानेकी स्थिति भी देखी जा सकती है। यह उसकी प्रक्रियाका ही जैसे अंग हो गया हो।

कुछ विचारक हिन्दीके प्रयोगशील काव्य और जिसको अब नया काव्य कहने लगे हैं, इनमें अन्तर करना पसन्द नहीं करते। प्रयोगकी सम्भावनाओंकी दृष्टिसे इस काव्यमें प्रयोगशीलताकी स्थिति आज भी परिलक्षित है, क्योंकि जिस क्षिप्रतासे काव्यमें भावबोधके नये आयामोंको उद्घाटित करनेका कवि प्रयत्न कर रहा है, उसीके अनुसार उसे शैली तथा शिल्पके अन्वेषणमें संलग्न रहना भी है। परन्तु एक अन्तर हिन्दीके ऐतिहासिक स्थिति प्राप्त प्रयोगशील काव्य और आजके नये काव्यमें ज़रूर है। यह अन्तर किन्हीं विशिष्ट कवियोंसे कुछ कवियोंको अलग करके देखनेके लिए महत्त्वका नहीं है, क्योंकि वे विशिष्ट कवि इन काव्यान्दोलन-के साथ आज भी सम्पृक्त हैं। यह हिन्दी काव्यके मनोभावको समझनेके लिए ही अधिक सार्थक है।

छायावादी काव्यकी काल्पनिक आदर्शोन्मुखी गम्भीरता और गरिमा तथा छायावादोत्तर रोमैण्टिकों और प्रगतिवादियोंका यथार्थोन्मुखी,

अगम्भीर तथा काल्पनिक भावावेशसे मुक्त होकर सहज और यथार्थ काव्य-भूमिका अन्वेषण पहले प्रयोगशीलोंकी दिशा थी। उद्देश्यकी महिमामयी गम्भीरता, यथार्थोन्मुखी आदर्शकी स्थापना तथा काल्पनिक यथार्थवादिता और शक्तिहीन भावावेशको स्थितियोंसे काव्यको व्यक्ति और युगके जीवन-पर प्रतिष्ठित करनेका आग्रह भी इस प्रयोगशीलताका प्रधान लक्षण था। इसी कारण प्रयोगशीलोंमें सभी मतों और विश्वासोंके कवि अन्वेषणकी दिशामें एक साथ चल सके थे।

परन्तु नयी कवितामें अन्वेषणकी दिशाके साथ नये क्षितिज आविर्भूत हुए हैं, यथार्थकी नयी दृष्टि विकसित हुई है, संक्रमणके बीच नये मूल्योंकी सम्भावनाका आभास मिला है। इतना ही नहीं, नया कवि भावबोधके इन नये स्तरों और आयामोंको उद्घाटित करनेके उपयुक्त भाषा, शैली तथा शिल्पका अन्वेषण करनेमें सफल भी हुआ है। इस स्थितिको इस प्रकार भी रखा जा सकता है कि जब आधुनिक काव्य प्रयोगशीलताकी दिशामें इस सीमापर पहुँचता है, तो उसे 'नयी कविता' कहा जाने लगा है।

सर्वेश्वरका काव्य-व्यक्तित्व 'नयी कविता' के इन तत्त्वोंको समझनेमें पूर्णतः समर्थ है। वस्तुतः सर्वेश्वरकी कविता प्रयोगशील काव्यके इस नये मोड़का प्रतीक है, उसने प्रयोगशीलताको वहाँसे ग्रहण किया है, जहाँसे वह काव्यकी नयी भाव-भूमियोंमें प्रवेश करती है। यह ठीक है कि काव्यकी दृष्टिमें मूल्योंका अन्वेषण और उनकी उपलब्धि, दिशाओंकी खोज और क्षितिजोंका आविर्भाव, भूमियोंकी खोज और उनपर संचरण, समान महत्त्व रखते हैं। पर काव्य-परम्पराको समझनेके लिए यह अन्तर ध्यानमें रखना होगा। सर्वेश्वर तथा उन-जैसे कुछ कवियोंके काव्यके आधारपर इस अन्तर या मोड़को समझा जा सकता है और एक प्रकारसे नये काव्य-तत्त्वोंका विकास इन्हीं कवियोंमें प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है।

सर्वेश्वरने 'काठकी घण्टियाँ' में अपनी कविताओंके चयनके बारेमें मोहसे काम लिया है। कविके संघटित व्यक्तित्वकी दृष्टिसे शायद इससे कुछ

हानि हो, पर उसके विकास-क्रमको समझनेके लिए दृष्टि भी मिलती है। सर्वेश्वरकी प्रारम्भिक काव्य-भूमि रोमैण्टिक भावावेशके भ्रम टूटनेसे शुरू होती है। छायावादोत्तर रोमैण्टिकोंने भावावेशका बड़ा बवण्डर बाँधा था, जो वर्तमान युगकी कठोर यथार्थ-भूमिसे टकराकर गैस निकल जानेके बाद पिचके गुब्बारेके समान लगता है। रोमैण्टिक भावावेगकी इस परिणतिमें कवियोंके मनका रोमैण्टिक मनोभाव विषाद, अवसाद, निराशा तथा खिन्नतासे युक्त हो गया। हिन्दीके गीतकारोंने जिस प्रकार उस रोमैण्टिक भावावेगको एक छिछले स्तरपर ग्रहण किया था, उसी प्रकार वे इस मनः-स्थितिका ऊपरी स्पर्श-मात्र कर सके। इससे अधिक उनसे आशा की भी नहीं जा सकती थी, इसकी रूढ़ियोंका विकास वे भले ही आज भी करते आ रहे हैं।

परन्तु रोमैण्टिक अवसादका यह मनोभाव आधुनिक युगके कवियोंमें वैयक्तिक जीवनकी यथार्थ विषमतासे उद्भूत है, युग-जीवनकी कठोरतासे व्यक्तिकी कोमल भावनाओंकी टकराहटका परिणाम है। सर्वेश्वरने रोमैण्टिक मनोभावोंको निर्भ्रान्तिकी इसी स्थितिसे ग्रहण किया था। प्रारम्भमें यह भ्रम टूटनेकी स्थिति आधुनिक जीवनके यथार्थसे सम्पृक्त दृष्टिका परिणाम थी, जो वस्तुओं और स्थितियोंके प्रति काल्पनिक मोह तथा आकर्षणसे मुक्त करनेमें सहायक हो सकती है। परन्तु प्रयोगशील तथा नये कवियोंमें अधिकांशके मनमें यह निर्भ्रान्ति स्वतः अपने मोह तथा आकर्षणमें रोमैण्टिक मनोभावमें प्रतिघटित हो गयी है। इस क्षेत्रमें सर्वेश्वरकी स्थिति बहुत कुछ ऐसी है और यह मनोभाव निरन्तर उसके काव्यमें लगा चला आ रहा है, जैसे कविको इससे मुक्ति नहीं। ऐसा लगता है जैसे कवि अपने इस भावसे मुक्त होना चाहता भी नहीं।

कहीं-कहीं इस रोमैण्टिक मनोभावके घने अवसादमें मृत्यु-जैसा ठण्डा-पन और निर्ममता है (ये तो परछाइँ है, मैंने आवाज दी है···यह साँझ आदि)। कहीं यह अवसाद, मात्र अतृप्ति और निराशाकी व्यंजना करता

है (यह भी क्या रात, सुहागिनका गीत, विवशता)। वस्तुतः 'बीसवीं शताब्दीके एक कविकी समाधिपर' नामक कवितामें ऐसे ही रोमैण्टिक कविकी असफल भावनाओंकी व्यंजना है :

फिर उस युग के कवि !
दर्द दर्द जिनकी कविता,
गोधूली की थी महज़ गर्द
जिनकी कविता।

प्यारकी पीड़ा और निराशाका स्वर भी मुखर हुआ है (एक प्यासी आत्माका गीत, फुलझरियाँ छूटीं)। और उसकी स्मृति तथा उसकी क्षणिकताकी कसक भी बार-बार कविको खिन्न करती है :

प्यार का उन्मेष कितना प्रबल
पर कितना क्षणिक है।

[शान्त ज्वालामुखी-सी तुम]

इसी प्रकार 'एक नयी प्यास', 'चाँदनीसे कहो' तथा 'प्रेम नदीके तीरा' आदि कविताओंमें बीते प्यारकी मधुर कसक जैसे कविको निरन्तर आकर्षित किये हुए है।

सर्वेश्वरका प्रकृतिसम्बन्धी दृष्टिकोण भी रोमैण्टिक भावनासे अनुप्राणित है। जिन कविताओंका ऊपर उल्लेख किया गया है, उनमें प्रकृतिके वातावरणका सहारा लिया गया है। 'सन्ध्याका श्रम', 'भोर' तथा 'कल रात'-जैसी कविताओंमें आरोपगत वैचित्र्य ही प्रधान है। पहली दोनों कविताओंमें आरोप भी परम्परागत नारीके रूपका है, तीसरी कवितामें भावबोध तथा प्रतीकयोजना नवीन है।

यहाँतक सर्वेश्वरके काव्यकी वह भावभूमि है जिसका सम्बन्ध पिछले युगसे है, पर यह उनकी कविताकी वास्तविक भूमि नहीं है। यह अलग बात है कि उनकी कवितामें इस बीते युगकी गूँज-अनुगूँज आती रहे।

समसामयिकताका दायित्व तथा लोक-सम्पृक्तिका भाव सर्वेश्वरकी कवितामें जिस आधुनिक संवेदनके स्तरपर व्यक्त हुआ है, वैसा आजके किसी कविमें नहीं मिलता। और इन दोनों प्रधान तत्त्वोंके अनुरूप सर्वेश्वरकी भाषा और शैली भी है। इस क्षेत्रमें वस्तु और शिल्पका इतना पूर्ण सामंजस्य कविकी प्रधान उपलब्धि है।

वस्तुतः समसामयिक होना-भर आधुनिकता नहीं है, और कुछ विचारक समसामयिकताको मात्र इतिहास मानकर काव्यानुभूतिके स्तरपर स्वीकार करनेमें हिचकिचाते हैं। इसका कारण है कि प्रगतिशील लेखकोंने सामाजिक यथार्थके नामपर समसामयिकताके संवेदनको विकृत किया है। परन्तु समसामयिक जीवन और उसकी समस्याओंकी ओर आकृष्ट होना, व्यक्तिगत संवेदन अथवा सामाजिक परिवेशके रूपमें, आधुनिक दृष्टि है। यह आधुनिक भावबोधका अंग तभी बन पाता है, जब कवि उसको भावावेश अथवा अतिरिक्त दायित्वके रूपमें न ग्रहण कर अपने काव्यानुभवका अंग बनानेमें समर्थ हो। कविके व्यक्तित्वमें संवेदन और भावबोधका परिवर्तन और विकास अपने युग-जीवनके सन्दर्भमें होता है। यह अलग बात है कि बदले हुए या नये भावबोधको अपने काव्यानुभवके रूपमें संप्रेषित करनेमें कवि समसामयिकतासे बँधकर रह न जाये। पर उसके अनुभवकी सीमा विस्तारके लिए आवश्यक नहीं है कि युग-जीवनके सन्दर्भोंसे काव्यको अलग रखा जाये। केवल आवश्यक है कि इन सन्दर्भोंको गहन आत्मानुभवके स्तरपर ही ग्रहण किया जाये।

सर्वेश्वर समसामयिक होकर भी अपने युग-जीवनकी गहरी सम्पृक्तिको गहन अनुभवके स्तरपर ग्रहण करनेमें समर्थ हो सकते हैं, नये काव्यमें उनकी यह बहुत बड़ी सफलता है। उनके अनुभवमें व्यक्ति और युग-जीवन इस प्रकार सम्पृक्त हैं कि चरम अनुभूति और संवेदनके क्षणोंमें भी युग-जीवनके स्पन्दन सम्मिलित हो गये हैं। 'ताँबेके फूल' तथा 'नीला अजगर'-जैसी कविकी व्यक्तिगत अनुभूतियोंको व्यक्त करनेवाली कवि-

ताओंमें यह भाव व्यंजित है। नये वर्ष पर' लिखी गयी कवितामें व्यक्तित्व-के गहनतम अनुभवोंको सामाजिक सन्दर्भके घने वातावरणके साथ इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि व्यक्तिके संवेदनमें युगका व्यापक संवेदन समाहित हो गया है।

आजके युगमें व्यक्ति अपने व्यक्तित्वके प्रति जागरूक है। यह व्यक्तित्वका बोध सर्वेश्वरमें भी मिलता है, पर कविने कभी अपने व्यक्तित्व-को समाजके, युगके परिवेशको चुनौती देनेवाले दर्पपूर्ण अहंके रूपमें नहीं देखा है। अपनी सारी आत्म-चेतनामें भी कवि अपने व्यक्तित्वको समष्टि-की व्यापक चेतनाकी अभिव्यक्तिका माध्यम स्वीकार करता है। 'काठकी घण्टियाँ' में अपने व्यक्तित्वका इसी माध्यम बननेके लिए आवाहन है—

> जितनी भी ध्वनि शेष है
> इन सूखी रगों में,
> तजो
> ओ काठ की घण्टियो,
> तजो।

'आत्मसाक्षात्कार'—जैसी कवितामें कवि अपने व्यक्तित्वका जो पुनः अन्वेषण करता है, उसमें सामाजिक भावनासे संघटित और स्पन्दित व्यक्तित्व ही उभरता है।

युग-जीवनकी सम्पृक्तिके कारण सर्वेश्वरमें दायित्वका सक्रिय-अनुभव मिलता है। यद्यपि उसने कभी इस दायित्वको अपनी सर्जन-प्रक्रियासे भिन्न नहीं माना। नयी कविताकी यह दृष्टि—कविका प्रथम और अन्तिम दायित्व कवि-कर्ममें ही है, सर्वेश्वरमें दायित्वकी भावनाको इसी स्तरपर संघटित करती है। उसने अपने संवेदन और अभिव्यक्तिके मूलमें ऐसे ही मूल्योंका स्रोत माना है जो बाह्यारोपित न होकर व्यक्तित्वका सतत

अन्वेषी अंश है और वस्तुतः युग-युगकी मानवताका प्रतीक है। यही है जो व्यक्त होकर कभी पूर्णतः व्यक्त नहीं हो पाता और मानवका व्यक्तित्व उसकी अनुकृति-मात्र है :

सब कुछ कह लेने के बाद
कुछ ऐसा है जो रह जाता है,
तुम उसको मत वाणी देना।

वह मेरी कृति है
पर मैं उसकी अनुकृति हूँ,
तुम उसको मत वाणी देना।

कवि युग यथार्थको ग्रहण करना अपना कवि-धर्म मानता है। रोमैण्टिकोंकी भाँति 'मर्म सहलाकर व्यथा सुला देना' या पिचके गुब्बारोंको गैसभर फुला देना' वह अपना कवि-कर्म स्वीकार नहीं करता (मैंने कब कहा) ! वह सत्यकी 'गहरी चोटका अनुभवी नया कवि' है। 'प्लेटफ़ार्म'के बिखरे हुए चित्रों और बिम्ब-विधानसे संवेदनकी जो सघनता उत्पन्न हुई है, उसका संकेत और व्यंजना व्यक्तित्वके मूल्य-वाहक होनेकी ही है। वह सघनतम क्षणोंमें अपने व्यक्तित्वकी सार्थकता इसीमें मानता है कि :

अनुभव करूँगा—
इन सबके साथ
कहीं मैं भी बँधा था,
कहीं मेरा भी योग था।

इस प्लेटफ़ार्मके व्यापक अनुभवमें ही उसका व्यक्तिगत अनुभव पूर्ण हो सका है। अपनी अभिव्यक्तिकी आकांक्षाके चरम क्षणोंमें भी कविने अपने पंखोंकी माँग ऐसे सर्जनके लिए ही की है :

ढाँक मैं जिससे सकूँ जलते हुए सम्पूर्ण वन को,
छाँह जिससे दे सकूँ, बेदम परिन्दों को, गगन को,
फिर न पलकें गिरा, आँसू छिपा, गरदन मोड़,
कहूँ, 'इस तूफ़ान ने मेरे दिये पर तोड़ ।'

सर्वेश्वरने विसंगत बिम्ब-विधान या प्रतीक-योजनाका आश्रय मर्म-स्थलोंपर लिया है । पर 'कॉफ़ी हाउसमें एक मेलोड्रामा' में इसी स्तरपर कवि आधुनिक मानव-मूल्योंकी व्यंजना करनेमें समर्थ हुआ है ।

सर्वेश्वरने नयी कविताके साथ जीवनकी दृष्टि जिन मूल्योंके आधार-पर संघटित करनेकी चेष्टा की है उसमें यथार्थका उल्लेख किया जा चुका है । यह यथार्थ वस्तुत: सारे जीवनका मौलिक भावबोध प्रस्तुत करता है । इस स्थितिमें पुराने मूल्योंका विपर्यय भी दिखाई देता है । 'सुबह हुई' में सुबह और शामके दो चित्रोंके माध्यमसे प्रगतिके दृष्टिकोणके अन्तरको व्यक्त किया है । सुबह गौरैयाके बच्चेका प्रयत्न है और शामको पीठपर चारा लादे ऊँट है । सुबह और शामकी प्रगतिके दृष्टिकोणको कवि यों रखता है :

आप इसे प्रगति कहें ?
मेरे लिए
स्वावलम्बी गौरैये का बच्चा ऊँट हो गया

इसके अतिरिक्त अस्तित्वकी सार्थकता (थरमस), सत्यका अन्वेषण (दो अगरकी बत्तियाँ), दर्दसे मँजकर सार्थक होना (आज पहली बार) तथा सहना ही जीवन स्वीकार करना (तुम कहो) आदि ऐसे मूल्योंकी व्यंजना हैं जो अपने संवेदनमें आधुनिक हैं और सन्दर्भमें नये हैं ।

आजका युग संक्रान्तिका है, अत: इसमें अनेक विरोधाभास, असंगतियाँ और विकृतियाँ हैं । युग-जीवनसे सम्पृक्त नया कवि इनका संवेदन बहुत गह-राईसे करता है, सर्वेश्वरमें न केवल समसामयिकताके भावबोधके गहनतम

स्तर उद्‌घाटित हुए हैं, वरन् उसमें इस युगकी समस्याओंके प्रति साहसिक जागरूकता है। और क्योंकि इन समस्याओं, स्थितियों और प्रश्नोंको कविने कवि-कर्मके अन्तर्गत संवेदन तथा अनुभवके स्तरपर ही ग्रहण किया है, अत: इसमें निहित असंगतियों, विकृतियों तथा विरोधाभासोंका विसंगतिजन्य व्यंग्य ही प्रधानत: उभरा है। इसी स्तरपर वह समसामयिकताको व्यापक आधुनिक काव्यानुभव बनानेमें समर्थ हुआ है।

आजकी दुनियामें मूल्योंका विपर्यय हो गया है। वह 'विवशता नहीं कुतूहल खरीदती है', 'शोख चेहरोंके आँसुओंपर दया' करना पसन्द करती है और ऊपरी दिखावटी संवेदनापर विश्वास करने लगी है। आजकी दुनियामें 'विवशता, भूख और मृत्यु' आकर्षक बनाकर सजानेपर ही पहचानी जाती हैं। इस सारी स्थितिको अन्तमें कवि व्यंग्यके साथ अधिक संवेदित कर देता है :

ओछी नहीं है दुनिया
मैं फिर कहता हूँ
महज़ उसका
सौन्दर्य-बोध बढ़ गया है।

[सौन्दर्य-बोध]

इसी प्रकार 'दो नेक सलाहें' में कवि आजकी प्रतियोगिताकी दिशापर व्यंग्य करता है, 'सरकण्डेको गाड़ी', 'आटेकी चिड़िया', 'बेबी टैंक', 'कलाकार और सिपाही', 'पीस पैगोडा' तथा 'घास काटनेकी मशीन'-जैसी कविताओंमें सर्वेश्वरने युद्ध, शान्ति, स्वातन्त्र्य, साम्यवाद-जैसी युगकी ज्वलन्त समस्याओंको ग्रहण किया है, मात्र समस्याओंके रूपमें नहीं। इसी कारण अपनी शक्ति-संवेग और संवेदनकी सघनतामें ये कविताएँ भावबोधके स्तरपर उसकी उत्कृष्ट रचनाओंमें हैं।

भाषा और शिल्पके क्षेत्रमें सर्वेश्वरकी उपलब्धि नयी कवितामें महत्त्व-पूर्ण है। भाषा तथा शिल्प-शैली बाह्य उपकरण हैं और शैलीका आन्तरिक सम्बन्ध भावबोधके स्तरसे होता है। इस कविकी लोक-सम्पृक्तिसे उसकी भाषा और शिल्पका गहरा सम्बन्ध है। साधारण भाषाको, उसके सामान्य प्रचलित शब्दों तथा प्रयोगोंको कविने काव्यानुभवके स्तरपर उठा दिया है। भाषाकी यह सरलता और बोधगम्यता जीवनकी साधारणसे साधारण और सहजसे-सहज स्थितिको काव्य-वस्तुके रूपमें स्वीकार कर लेनेके कारण सम्भव हो सकी है। और इन स्थितियोंको काव्यानुभवके स्तर तक उठा देनेके कारण इस भाषामें व्यंजना तथा सम्प्रेषणकी नयी शक्ति आ गयी है। सर्वेश्वरके प्रतीक नये हैं, पर वे साधारण जीवनसे लिये गये हैं। उनमें चमत्कृत करके आकर्षित करनेके भावके स्थानपर परिचय तथा सह-जताकी मार्मिक अनुभूति अधिक है। इन कविने विसंगतिके स्थानपर परिचित अनुभवोंकी मार्मिकताको अधिक ग्रहण किया है, इस कारण इसका बिम्ब-विधान परिचय तथा निकटताके आधारपर संघटित है। जीवनकी परिस्थितियोंकी सहजता और भाषा तथा शिल्पकी इस सरलता-को नये काव्यकी विशिष्टताके रूपमें स्वीकार कर अन्य नये कवियोंमें कुछ कवि आधुनिक भावबोधके नये आयाम उद्घाटित करनेमें समर्थ हुए हैं और कुछमें यह स्वयं एक रूढ़ि बन गयी है। वे इनको सर्वेश्वरके काव्या-नुभवके स्तर तक उठानेमें असमर्थ रहे हैं।

■

आधुनिक काव्यकी ऐन्द्रजालिक परिणति[1]

शमशेरकी स्थिति इतनी स्पष्ट और विशिष्ट रही है कि उनके कविको लेकर कभी प्रश्न नहीं उठाया गया, उनकी कविताके वारेमें कभी विवाद नहीं उठा। छायावादी, प्रगतिशील और प्रयोगशील सभी कवियोंने समान रूपसे शमशेरको स्वीकृति दी है। इसका कारण है उनका व्यक्तित्व और काव्यके वारेमें शुद्ध कविताका दृष्टिकोण।

जो व्यक्ति ग़ज़ल, मुक्तक, गीत, सॉनेट और छायावादी, रोमैण्टिक, सुर्रियलिस्ट, प्रयोगवादी तथा प्रतीकवादी काव्यकी रचना एक साथ करता रह सकता है, उसके लिए यह कह सकना सहज है, "मेरे कविने कभी किसी 'फ़ॉर्म', शैली या विषयका सीमा-वन्धन स्वीकार नहीं किया। फ़ैशन किन विषयोंपर लिखनेका है, कौन-सी शैली 'चल रही है', किस 'वाद' का युग आ गया है, या चल रहा है, मैंने कभी इसकी परवाह नहीं की।" ऐसे अन्य कवि भी हैं या हो सकते हैं, जिन्होंने विषय, वस्तु और शैली-सम्बन्धी परिवर्तित दृष्टिकोण अपने विकास-क्रममें स्वीकार किया हो अथवा ऐसे भी कवि हो सकते हैं, जो व्यक्तित्वमें काव्य-वोधके ऐसे कई स्तर स्वीकार करते हैं, जिनपर कवि विविध विषयोंको अनेक वस्तु-रूपों और शैलियोंमें समानान्तर ग्रहण करता चल सकता है। इनमें प्रथम वर्गके कवियोंकी स्थिति स्पष्ट है, वे एक स्थितिसे दूसरी स्थिति तक पहुँचते हैं और उस तक पहुँचनेके पहले पहली स्थितिकी सम्भावना उनके लिए समाप्त हो चुकी होती है। इन कवियोंकी उपलब्धिका मूल्यांकन इस वातपर

१. शमशेरके माध्यमसे।

निर्भर करता है कि उन्होंने किस सीमा तक पहली स्थितिकी सम्भावनाओं-का अन्वेषण और समुपयोजन किया है तथा दूसरी स्थितिको आत्मसात् कर सकनेका उनमें कितना सामर्थ्य और संवेदन रहा है। दूसरे वर्गके कवियोंकी स्थिति बहुत स्पष्ट नहीं है, क्योंकि समानान्तर काव्य-बोधके कई स्तरोंपर रचनाशील रहना या तो सम्भव नहीं है अथवा उससे कविके भावबोधकी अपरिपक्वता, अप्रौढ़ता और विश्रृंखलता ही प्रकट होती है। शमशेरकी स्थिति इन दोनों वर्गोंके कवियोंसे भिन्न है।

'कुछ और कविताएँ' में कविके वक्तव्यसे इस स्थितिपर प्रकाश पड़ सकता है : "जिस विषयपर जिस ढंगसे लिखना मुझे रुचा, मन जिस रूपमें भी रमा, भावनाओंने उसे अपना लिया, अभिव्यक्ति अपनी ओरसे सच्ची हो, यही मात्र मेरी कोशिश रही – उसके रास्तेमें किसी भी बाहरी आग्रहका आरोप या अवरोध मैंने सहन नहीं किया।" इस वक्तव्यमें यह स्पष्ट हो गया है कि शमशेर यहाँ अपनी स्थितिका स्पष्टीकरण दे रहे हैं, पहले अंशमें जो किंचित् आरोप ध्वनित होता है, उसका समाधान इससे हो जाता है। शमशेर-जैसे व्यक्तिका ऐसा भाव नहीं हो सकता कि अन्य जो किसी विशिष्ट या निश्चित रूप और शैलीमें लिख रहे हैं, वे केवल किसी वाद, फ़ैशन या चलनके फेरमें ऐसा कर रहे हैं। उनका तात्पर्य केवल इतना ग्रहण किया जा सकता है कि वह अपने काव्यमें प्रमुखता देते हैं अपनी निजी संवेदनशीलता, भावशीलता और प्रभविष्णुताको, उनके लिए विषय, वस्तु, शैली और रूप-तत्त्व गौण हैं। परन्तु अपने इस वक्तव्य-में शमशेर वही बात स्वीकार कर लेते हैं, जिससे बराबर बचना चाहते हैं, क्योंकि उपर्युक्त स्थिति या तो रोमैण्टिक भाववादीकी हो सकती है अथवा व्यक्तिनिष्ठ प्रभाववादीकी। अन्यथा या तो विषयको महत्त्व देकर चलना होगा अथवा वस्तुके साथ शैली तथा रूप-तत्त्वपर बल देना होगा। यह भी हो सकता है कि विषयके वस्तु-रूपमें शैलीके तत्त्वको समाहित माना जाये अथवा शैलीके रूप-तत्त्वमें विषय-वस्तुकी अभिव्यक्तिको स्वीकार किया

जाये। पर व्यक्तिगत अनुभवकी विशिष्टता और भावात्मक अभिव्यक्तिको प्रभाववादी, प्रतीकवादी या रोमैण्टिक ही महत्त्व देता है।

शमशेरके शुद्ध कविका मूल प्रेरणा-स्रोत यही है और बावजूद अपने 'समाज-सत्यके मर्मको ढालने' के प्रयत्नके उन्होंने अपने कवि-कर्मके माध्यमसे अपनी भावनाओं, प्रेरणाओं और आन्तरिक संस्कारोंमें 'अपनेको ही पानेका प्रयत्न' किया है। पर यह अपनेको पाना क्या है, जिसकी अभिव्यक्तिको कवि जीनेके समान महत्त्वपूर्ण मानता है और अभिव्यक्तिके बाद प्रकाशनकी आवश्यकतापर बल नहीं देता ? फिर कलाको कलाकार-की बहुत 'निजी चीज़' स्वीकार करने और 'स्वतः प्रकाशित' घोषित करनेके पीछे क्या भाव हो सकता है? इस वक्तव्यमें अँगरेज़ीके रोमैण्टिकों, हिन्दीके छायावादियों और फ़्रान्सके प्रतीकवादियोंकी ध्वनियाँ और भाव-नाएँ अनुगूँजित मिलेंगी। पर शमशेरकी अपनी विशेषता है कि वह बड़ी सरलतासे सहज ही अपनी व्यक्तिनिष्ठताके साथ सामाजिक दायित्वको समायोजित कर लेते हैं और अपनी शुद्ध कवितावादी दृष्टिके कारण दोनों स्थितियोंके सामंजस्य या सन्तुलनकी अपेक्षा भी उन्हें नहीं होती, जिसका प्रयत्न अन्य प्रगतिवादियोंसे भिन्न मत रखनेवाले आलोचकों या कृतिकारों-ने किया है। वह स्वयं सारा भार प्रतिभा, शक्ति और सामर्थ्यपर डालकर श्रेष्ठ काव्यकी दुहाई देते हुए अलग हो जाते हैं। ऐसे कथनोंमें, जिनमें तर्क देने या मत स्थापनाके स्थानपर सहज अनुभव या अनुभूतिका स्वर अधिक उभरता हो, अन्तर्विरोधोंकी ओर ध्यान नहीं जाता। उनमें 'समाज-सत्यके मर्मको ढालना'', 'सामाजिक दायित्वके पक्षमें उत्कृष्ट र्‌हेटारिक या महान् छन्दोबद्ध जोशीली पत्रकारिताको श्रेष्ठ काव्यका रूप मानना', 'कवितामें सामाजिक अनुभूतिको काव्यपक्षमें ही महत्त्वपूर्ण स्वीकारना' और फिर अपनी ग़ज़लोंके समर्थनमें अपनी असाधारणताके दावेको पेश न करनेकी विनम्रता – सब एक साथ उपस्थित होकर आकर्षक हो उठे हैं। वास्तवमें यह शुद्ध कवि-दृष्टिका ऐन्द्रजालिक प्रभाव है, जो हमको अभिभूत करती है।

कवि-दृष्टिकी यह चर्चा शमशेरके काव्यको समझनेमें जिस प्रकार सहायक होगी, उसी प्रकार उनके व्यक्तित्वका उल्लेख करना भी संगत होगा। शमशेर ऐसे हैं कि उनको देखकर कवि कहनेका बरबस मन होता है, पन्तजी उनको 'शाइर' कहते हैं। ऐसा नहीं कि उनकी वेश-भूषामें कुछ हो, वरन् उनके व्यक्तित्वमें ऐसा आकर्षण है। जैसे उनका दृष्टिकोण शुद्ध कविका है, वैसे ही उनके व्यक्तित्वकी अभिव्यक्तिमें भी शुद्ध कवि-भाव व्यंजित होता है। उनके सम्पर्कमें आनेपर सहज ही उनकी संवेदनशीलता, आर्द्रता, जोश और तपाक अभिभूत करते हैं, व्यक्तित्वका यह संस्पर्श आकर्षित करता है और प्रभावित करता है। उनकी संवेदनकी शक्ति इतनी तीक्ष्ण और प्रखर है कि बोलते, बात करते, व्यवहार करते, सदा लगता है कि वह अनुभव कर रहे हैं, अपने व्यक्तित्वके किसी गहरे स्तरसे सारी स्थितिको संवेदनके साथ ग्रहण कर रहे हैं। वह पात्रों, स्थितियों, दृश्यों, यहाँतक कि दूसरोंके व्यक्तित्वों और भावनाओंपर अपने संवेदित व्यक्तित्वको ही प्रक्षेपित करते हैं। लगता है जैसे वह प्रत्यक्ष-बोध, विचार, चिन्तन, कल्पना सभीको अनुभूतिके माध्यमसे ही ग्रहण करते हों।

इस प्रसंगमें एक बातकी चर्चा करना कविके भाव-बोधको समझनेमें सहायक हो सकता है। शमशेर कविता (किसी भी कला-कृति) का आस्वादन अनुभवके स्तरपर ही करते हैं। ऐसा तो किसी संवेदनशील पाठकके बारेमें कहा जा सकता है कि काव्यका प्रथम प्रभाव उसके मानसपर संश्लिष्ट रूपमें पड़ता है, विश्लेषणकी प्रक्रिया बादमें शुरू होती है। पर शमशेरके बारेमें यह इस प्रकार समझा जा सकता है कि वह काव्यके प्रभावको अपनी संवेदनाकी प्रक्रियासे इस प्रकार सम्बद्ध कर देते हैं कि इसको उनका अपना ही विशिष्ट अनुभव समझना चाहिए। आगे उनके काव्यकी चर्चामें हम देखेंगे कि ऐसी अनेक कला-कृतियोंको देखकर उन्होंने अपने प्रभावको काव्यात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। अनुवाद करनेमें

यह प्रक्रिया और भी स्पष्ट देखी गयी है। कविताके अनुभवके आधारपर पहले उन्होंने चित्र बनाया और फिर चित्रके माध्यमसे अनुवाद पूरा करनेमें सफल हुए। उनका यह व्यक्तित्व आत्मकेन्द्रित होनेपर भी सामाजिक दायित्वके सिद्धान्तको सहज ही ग्रहण कर सका है। इस अन्तर्विरोधकी स्थितिका समाधान उनके व्यक्तित्वके संवेदनशील ऐन्द्रजालिक आकर्षणमें निहित है। उनके बिम्बों, प्रभाव-चित्रों, कल्पना-तरंगों तथा ध्वनि-बिम्बोंमें उनके व्यक्तित्वका यह आकर्षण पाठकके मनको संवेदित न करके सम्मोहित करता है और इस मनःस्थितिमें व्यक्तिनिष्ठा और सामाजिकता एक ऐन्द्रजालिक लीलाके अंग जान पड़ते हैं।

शमशेरकी काव्यगत धारणा उनकी दो कविताओंसे स्पष्ट की जा सकती है। 'कुछ कविताएँ' की 'राग' और 'कुछ और कविताएँ' की 'बात बोलेगी' नामक कविताओंमें कवि अपनी काव्याभिव्यक्ति सम्बन्धी भावनाको प्रभावात्मक बिम्बोंमें व्यंजित करनेका प्रयत्न करता है। शमशेर आन्तरिक अनुभवकी सहज अभिव्यक्तिको काव्य मानते हैं :

मैंने कहा—
शाम ने मुझसे कहा :
राग अपना है!

यह 'राग' अपना है अर्थात् काव्य आत्मिक होता है। अनुभवकी स्थितिके लिए कवि 'सरलताका आकाश' और 'नींदकी इच्छाएँ' कहकर उसकी सहजताको स्वीकारता है। फिर 'समय अपना राग है' से भी प्रत्यक्ष अनुभवकी पुष्टि होती है। इसी कवितामें कवि 'धरतीके पद्यकी सहजताको प्राण' मानता है और कहता है :

तुमने अपनी यादोंकी पुस्तक खोली है?
जब यादें मिटती हुई एकाएक स्पष्ट हो गयी हों?
जब आँसू छलक न जाकर

आकाश का फूल बन गया हो ?
····वह मेरी कविताओं-सा मुझे लगेगा :

इस प्रकार कवि अनुभूतिकी सँजोयी हुई मार्मिकताको कल्पनाके माध्यमसे काव्याभिव्यक्तिके रूपमें स्वीकार करता है। आगे वह कहता है कि इन कविताओंका मतलब कुछ नहीं है, ये स्वयं लिख जाती हैं, ये साँसकी तरह सहज ही प्राणोंकी अभिव्यक्ति हैं। कविताका शब्दार्थ नहीं ग्रहण किया जाता, उसमें तो आत्मसाक्षात्कार होता है :

क्यों फिर उसने मेरा संग्रह
अपनी धुँधली गोद में खोला और
मुझसे कुछ भी पूछना भूल गया।

कवितासे सीधा सम्बन्ध स्थापित होनेके बाद अर्थ पूछनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इस कविताके आठवें भागमें शमशेरने कविताके साक्षात्कारका भाव-चित्र प्रस्तुत किया है, जिसमें स्पष्टतः भावावेशकी स्थितिको ही व्यंजित किया गया है, यह अवश्य है कि इस कवितामें रहस्यका ऐसा वातावरण प्रारम्भसे निर्मित है, जो इस अन्तिम भावात्मक अनुभूति-जन्य परिणतिमें अधिक आकर्षक हो उठा है। यह शमशेरकी काव्यदृष्टि है और शैली भी। 'बात बोलेगी' में इस भावको दूसरे सन्दर्भमें कहा गया है। इसमें सामाजिक दायित्वको काव्यगत सत्यके रूपमें व्याख्यायित करनेका प्रयत्न है। यह यथार्थ काव्यमें स्वतः व्यंजित होगा, ऐसा कविका विश्वास है। इसमें कवि अल्पकथन करता है, और संक्षिप्त विरोधी बिम्बोंसे वैचित्र्यकी सृष्टि करनेमें भी सफल हुआ है, पर सैद्धान्तिक आग्रह संवेदन-तत्त्वको कुण्ठित करता है।

शमशेरने छायावादी काव्यको उत्तराधिकारमें ग्रहण किया है, भाषा, शिल्प, अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे। परन्तु उनकी प्रेरणा और प्रभावका क्षेत्र बहुत विस्तृत रहा है। एक ओर यदि वह उर्दू ग़ज़लोंमें रमते हैं, तो

दूसरी ओर फ़्रान्सके प्रतीकवादियोंसे प्रभावित हैं। यदि उनको रोमैण्टिक काव्य अभिभूत करता है, तो बिम्बवादी तथा सुर्रियलिस्ट काव्य कम आकर्षित नहीं करता। यदि रीतिकाव्यके मुक्तक काव्यका आस्वादन करनेमें समर्थ हैं, तो वह संस्कारी क्लैसिकल काव्यके गाम्भीर्यकी अनुभूति-के स्तरपर ग्रहण कर सकते हैं। इन विविध और विभिन्न काव्यबोधके स्तरोंपर समान रूपसे संचरण कर पाना सरल नहीं है, पर शमशेर अपनी शुद्ध काव्य-दृष्टि और संवेदनशील व्यक्तित्वके माध्यमसे ऐसा करनेमें सहज समर्थ हैं। ऐसा नहीं है कि इन विभिन्न काव्य-रूपों, काव्य-शैलियों तथा काव्याभिव्यक्तियोंके अनुभावनमें शमशेरमें कहीं कोई आन्तरिक संघटन न हो। वह स्वयं अपने सूक्ष्म संवेदनके माध्यमसे प्रत्येक कोटिके काव्य-बोधसे प्रभाव ग्रहण करते हैं और यह उनका प्रभावानुभव अप्रतिम तथा विशिष्ट होता है। कला-कृतिकी सौन्दर्यानुभूतिकी यह प्रभाववादी प्रक्रिया है, जिसमें कवि आत्मप्रक्षेपण-द्वारा किसी भी काव्य या कलाकृतिमें अपने निजी अनुभवको ही संवेदित करता है। जिस प्रकार प्रत्येक विषय कवि-की अपनी अनुभूतिके माध्यमसे काव्य-वस्तु बनता है, उसी प्रकार यहाँ प्रत्येक काव्य या कला कृति उसके लिए उसके अपने अनुभवका विषय हो जाती है। वह रचना अपने स्रष्टाकी अभिव्यक्तिको सम्प्रेषित करनेके बजाय मात्र प्रभावके रूपमें संवेदित होती है। यही कारण है कि शमशेरके लिए इस बातका अधिक महत्त्व नहीं रह जाता कि कवितामें भाव-बोधका कौन-सा स्तर अभिव्यक्त है अथवा काव्य-बोधकी अपनी विशिष्टता क्या है? वह अपनी भावशीलताकी परिधिमें किसी भी काव्य-कृतिको खींचकर अपने संवेदनके इन्द्रजालके ताने-बाने बुनते-पिरोते हैं।

किसी युग, किसी देश, किसी प्रवृत्ति, किसी रूप या शैली और भाव-बोधके किसी विशिष्ट स्तरके काव्यको समझने-समझाने और उसके अनु-भावनकी एक शास्त्रीय और ऐतिहासिक प्रणाली भी होती है। वस्तुतः इसी आधारपर विविध और विभिन्न काव्य-रूपों और उनके भाव-बोधके स्तरों-

का अनुभावन और व्याख्यान किया भी जा सकता है, किया जाता है। इसके अनुसार युग-विशेषके परिसर और उसके सामाजिक परिवेशका विश्लेषण-विवेचन करना होगा, काव्यविशेषके भाव-बोधको समझना होगा, काव्य-रूपके प्रकार और उसकी शैलीकी विशिष्टताकी व्याख्या करनी होगी, उसमें प्रयुक्त अप्रस्तुतों, सन्दर्भों, प्रतीकों और बिम्बोंकी व्यवस्था करनी होगी; और फिर अन्य काव्य-परम्पराओंके साथ रखकर उसकी विशिष्टताका विवेचन किया जा सकेगा। इसके विपरीत दूसरी पद्धति है पुनर्रचना, या पुनस्सर्जनकी, जिसके अनुसार पाठक या भावक किसी भी रचनाविशेषका आस्वादन अपने युगके भाव-बोधके सन्दर्भमें अपने मनस्में उसकी पुनर्रचना करनेमें प्राप्त करता है। इस स्थितिमें किसी भी कृतिका अनुभावन युग-युगमें परिवर्तित होता रहता है। किसी महान् कला-कृतिकी विशिष्टता इस बातमें नहीं है कि वह युग-युग तक एक ही भाव-बोधमें ग्रहण की जाती है, वरन् इस बातमें है कि वह युग-युगमें भाव-बोधके नवीन आयाम उद्घाटित करनेमें सक्षम है, वह आगत युगोंके भावकोंको बाँधती नहीं, वरन् मुक्त करती है।

शमशेरका प्रभावानुभव इस दूसरी कोटिके अनुभावन अर्थात् पुनस्सर्जनकी प्रक्रियाका आभास देकर भी उससे भिन्न है। इस प्रक्रियामें अपेक्षित तटस्थता और वस्तुपरक संयोजन होता है, जब कि शमशेर प्रभाववादियोंके समान अपने व्यक्तित्वकी भावप्रवणतामें कला-कृतिको समाहित कर उससे अपना निजी अनुभव ग्रहण करते हैं। पुनस्सर्जनकी प्रक्रियामें भावक अपना व्यक्तित्व कृतिपर प्रक्षेपित नहीं करता, वह कृतिके अन्तर्निहित भावको एक नये सन्दर्भ और आयाममें ग्रहण करता है, जब कि प्रभाववादी अपने संवेदित व्यक्तित्वके माध्यमसे कृतिको अपने अनुभवसे अनुरंजित कर देता है। इस प्रकार शमशेरके लिए भिन्न और कभी-कभी विरोधी काव्य-बोधके स्तरों और रूपोंसे आकर्षित और प्रभावित होना सहज हो जाता है।

शमशेरके काव्यकी चर्चा करते समय काव्यास्वादन या काव्य-प्रेरणा-पर विचार करनेका प्रयोजन है। इससे उनको अपनी सर्जन-प्रक्रियाको समझनेमें आसानी होगी। प्रायः शमशेरको छायावादी कवियोंके भाव-बोध और काव्य-शिल्पसे विद्रोह करनेवाले प्रयोगशील कवियोंमें रखा गया है। परन्तु काव्यगत प्रयोगकी बात यदि छोड़ दी जाये, तो अपनी स्थापनाओंमें शमशेर प्रयोगशील नहीं रहे हैं, और जहाँ काव्यगत प्रयोगका प्रश्न है, अधिकांश प्रयोगशील कवियोंके समान उन्होंने भी प्रयोग 'कुछ निश्चित पाने'के उद्देश्यसे किया है। प्रयोग करते-करते कुछ पा लेना है, यह स्थिति प्रयोगशील कवियोंसे लेकर नये कवियों तकके सामने स्पष्ट नहीं है। इस अर्थमें शमशेरको प्रयोगशील भी नहीं कहा जा सकेगा, नये कवि तो वह नहीं ही हैं। उनके सामने कथ्य, वस्तु और उद्देश्य भी प्रत्यक्ष रहा है। उनके सामने अनुभवकी सचाई और अभिव्यक्तिकी ईमानदारीका सवाल मुख्य रहा है। छायावादी कवि वस्तुके यथार्थ अनुभवके स्थानपर उसके काल्पनिक अनुभवको व्यंजित करनेका अधिक प्रयत्न करता था, और इसी कारण ! उसकी अभिव्यक्तिमें वायवी रंग-रूप, यहाँतक कि भावनाओंका अयथार्थ अंकन अधिक हुआ है। छायावादी कवियोंमें निराला ही एक ऐसे कवि हैं, जो अपने सौन्दर्य-बोधके स्तरपर भी यथार्थ जीवन तथा अनुभवको ग्रहण करनेका ओजस्वी प्रयत्न करते रहे हैं। यह आकस्मिक स्थिति नहीं है कि शमशेर 'निरालाके व्यक्तित्व और उनके काव्य'का आह्वान करते हैं :

हाँ, तुम्हीं हो, एक मेरे कवि :
जानता क्या मैं—

हृदय में भर कर तुम्हारी साँस···

इस प्रकार कविने एक ओर छायावादी काव्य-परम्परा और उसके सौन्दर्य-बोधको स्वीकारा है और दूसरी ओर कल्पनाके माध्यमसे अनुभवकी यथार्थताको ग्रहण करनेका आग्रह भी प्रकट किया है। 'निरालाके प्रति' कवितामें शमशेरने छायावादी शैली (शब्दों, उपमानों, प्रतीकों और लाक्ष-

णिक प्रयोगों) से निरालाके काव्यव्यक्तित्वको संघटित कर अनुभवकी यथार्थतापर बल दिया है :

छू, किया करते
आधुनिकतम दाह मानव का
साधना स्वर में
शान्ति-शीतलतम ।

इस दृष्टिसे 'निराला' इस प्रकारके विद्रोही कवि रहे हैं, जो अपनी परम्परासे भी विद्रोह करनेमें सक्षम होते हैं। भाषा, शैली, छन्द, प्रतीक, बिम्ब, व्यंग्य आदिके विविध प्रयोगोंमें उनका यह विद्रोह व्यक्त हुआ है, पर उनकी दिशा सदा जीवनके यथार्थ-बोधसे अनुप्रेरित मानी जायेगी। शमशेर 'निराला' के काव्यके इसी तत्त्वसे सर्वाधिक प्रभावित हैं।

प्रायः छायावादी काव्यकी दो प्रतिक्रियाएँ बतायी जाती हैं, जिनको प्रगतिशील और प्रयोगशील काव्य-प्रवृत्तियोंके रूपमें विवेचित किया गया है। इनके साथ उत्तर छायावादी रोमैण्टिक कवियोंको भी लिया जा सकता है, क्योंकि उन्होंने छायावादकी परम्परामें ही रोमैण्टिक प्रेम और सौन्दर्य-की अधिक सीधी और ऐन्द्रिक अभिव्यक्ति की है, जो छायावादी काल्पनिक तथा वायवी सौन्दर्यकी प्रतिक्रिया मानी जायेगी। यद्यपि यह प्रतिक्रिया विद्रोहकी न होकर मूल प्रवृत्तिका प्रसार कही जायेगी। शमशेर इनमें-से किसी एकके साथ जोड़े नहीं जा सकते, और एक स्तरपर इन तीनों प्रवृत्तियोंको उनमें देखा भी जा सकता है। किंचित् गहराईसे देखनेपर ये तीनों प्रवृत्तियाँ एक दूसरेमें अतिव्याप्त जान पड़ेंगी, पर इनकी अलग स्थिति भी परिलक्षित होती है। एक प्रवृत्तिका कवि दूसरीसे अतिछादित होकर भी अपनी निश्चित स्थितिको अभिव्यक्त भी कर सका है। पर शमशेरकी स्थिति इन सबसे भिन्न है और प्रारम्भमें उद्धृत उनके कथनसे इसकी पुष्टि होती है।

ऐसा भी नहीं है कि इन विभिन्न प्रवृत्तियोंको शमशेरमें अलग-अलग देखा जा सकता है, इन प्राय: विरोधाभासी प्रवृत्तियोंका ऐसा परिपाक उन्होंने किया है कि अपनी इस काव्यात्मक अभिव्यक्ति और शैलीमें वह सबसे अलग और अप्रतिम लगते हैं। छायावादोत्तर रोमैण्टिक आकांक्षा, ऐन्द्रिक सौन्दर्य-भावना, प्रणयजन्य निराशा, अवसाद और भावाकुलता, प्रगतिवादियोंकी सामाजिक दायित्वकी भावना, शोषित-वर्गके पक्षसे उसके प्रति गहरी सहानुभूति, व्यक्तित्वका समर्पण और निहित स्वार्थों और स्थापित वर्गके प्रति विद्रोह, और साथ ही प्रयोगशील काव्यकी व्यक्तित्वके प्रति जागरूकता, उसकी मुक्तिकी आकांक्षा, यथार्थको सीधे ग्रहण करनेकी चेतना, और उसके लिए प्रयोग तथा अन्वेषणका मार्ग—इन सबको—शमशेर किस ऐन्द्रजालिक प्रक्रियासे अपने काव्यमें समाहित कर लेते हैं, इसको समझ लेनेपर उनके काव्यके आकर्षणका रहस्य भी उद्‌घाटित हो सकता है।

१९वीं और २०वीं शतीके योरोपीय साहित्यके सन्दर्भमें शमशेरकी स्थिति समझना अधिक आसान हो जाता है। वस्तुत: आधुनिक कवियोंमें यदि फ़ान्सके विभिन्न काव्यान्दोलन सम्बन्धी वादोंके सन्दर्भमें अध्ययन किये जानेकी सर्वाधिक अपेक्षा हिन्दीका कोई कवि रखता है, तो वह शमशेर हैं। फ़ान्समें उन्नीसवीं शतीके मध्यमें रोमैण्टिक आन्दोलन ह्रासोन्मुखी हो चुका था, इन कवियोंमें निराशा, अवसाद, मृत्युको आकांक्षा अधिकाधिक अभिव्यक्त हुई है। इसके बाद फ़ान्समें प्रतीकवादियोंसे लेकर अतियथार्थ-वादियों तक अनेक काव्यान्दोलन चले, जिनका प्रभाव समस्त युरॅपके काव्यपर पड़ा है। इन सभी काव्यवादोंकी मूल भावना एक प्रकारसे शुद्ध काव्यकी खोज रही है। प्रत्यक्ष यथार्थ अनुभव और उसकी काल्पनिक उद्‌भावना, जिसपर रोमैण्टिक काव्य अत्यधिक बल देता रहा था, इस युगमें अस्वीकृत हो गये। कविने अनुभवातीत यथार्थको ग्रहण करनेका उपक्रम किया, जो प्रत्यक्षके परे है। शमशेरकी शुद्ध काव्यदृष्टि और

उनका आन्तरिक गहराईसे यथार्थको ग्रहण करनेका प्रयत्न बहुत कुछ ऐसा ही है। प्रतीकवादियोंके समान ही वह विषय-विषयी, आन्तर-बाह्यका विभेद नहीं करते। उनको भी सौन्दर्य सम्प्रदायके प्रत्ययवादियोंमें सहज ही रखा जा सकता है, क्योंकि उनमें एक तात्त्विक विश्व परिकल्पनाका विश्वास रहस्यात्मक स्तरपर व्यंजित होता है।

यद्यपि प्रतीकवादियोंसे लेकर अतियथार्थवादियों तक सभीने अनुभवसे परे तर्कातीत यथार्थको अभिव्यक्त करनेका प्रयत्न किया है, पर शमशेर प्रतीकवादियोंके अधिक निकट हैं। उनके काव्यके विश्लेषण और विवेचनसे यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि उसमें अन्य वादोंके तत्त्व और प्रेरणाएँ अन्तर्भुक्त हैं। उसमें स्वतःचालित शुद्ध मानसिक प्रक्रिया मिलती है, जिसका निर्देशन तर्कके नियन्त्रणसे बाहर, सौन्दर्य-परक तथा नैतिक सभी पूर्वनिश्चित धारणाओंसे परे हैं। अनेक स्थलोंपर स्वप्न-लोककी सृष्टि और तर्ककी उद्देश्यहीन प्रक्रियाके माध्यमसे उस यथार्थको व्यंजित करनेका उपक्रम भी है। हर्बर्ट रीडके इस कथनसे शमशेरकी रचना-प्रक्रियाको समझा जा सकता है, "यह नामहीन और उद्देश्यहीन प्रक्रिया कविको स्वेच्छित सम्मोहनमें डालकर प्रत्यक्षतः अर्थहीन शब्दों और वाक्योंकी शृंखलाकी रचनाकी प्रेरणा देती है। इस पद्धतिसे वह भौतिक तथा मानसिक, चेतन तथा अचेतन, आन्तरिक तथा बाह्यके भेदक प्रतिबन्धोंको तोड़ देता है; और ऐसे अतियथार्थकी सृष्टि करता है, जिसमें यथार्थ तथा अयथार्थ, धारणा तथा क्रिया मिल-जुलकर समस्त जीवनको अतिक्रान्त करते हैं।"

परन्तु वैचारिक स्तरपर शमशेरमें एक विरोधाभास सदा बना रहा है। जिस प्रकार तर्कातीत यथार्थके अनुभवके साथ कविमें रोमैण्टिक भावावेश, ऐन्द्रिक सौन्दर्यानुभूतिकी आकांक्षा तथा प्रेमजन्य आशा-निराशाका द्वन्द्व बना हुआ है, उसी प्रकार व्यक्तित्वकी प्रखर चेतनाके साथ उसमें सामाजिक दायित्वका आग्रह भी है। इस प्रकारका आन्तरिक द्वन्द्व युरॅप

तथा पश्चिमके ओडेन, स्पेण्डर, पावलो नरूदा, लोर्का तथा आॅरेगॉ-जैसे अनेक कवियोंमें पाया जाता है, अपने-अपने ढंगसे उन्होंने जिसका समाधान करनेका प्रयत्न भी किया है। परन्तु जिनमें यह द्वन्द्व वैयक्तिक चेतना और सामाजिक दायित्वकी भावनाका है, उनको शमशेरकी तरह शुद्ध कवि-दृष्टि और प्रभावानुभवमें पलायन करनेकी सुविधा नहीं मिल सकी। अपने दायित्वके प्रति जागरूकता प्रकट करनेकी दृष्टिसे कवि सामाजिक यथार्थके नामपर कुछ व्यक्तित्वों, स्थितियों और परिस्थितियोंको अपने अनुभवसे संवेदित करता है, पर यह साक्षात्कार तर्कातीत अनुभूतिके रूपमें ही व्यंजित हुआ है। प्रतीकवादियोंके समान वह समस्त इन्द्रियोंसे यथार्थका अनुभव रूप, रस, गन्ध स्पर्श, ध्वनिमें संयोजित करता है, और चेतनाके गहरे स्तरोंपर काव्यमें उसे सम्प्रेषित करता है। यही नहीं, शमशेरमें काव्यको संगीतमें अन्तर्भुक्त करनेका प्रयत्न भी मिलता है, उन्होंने 'निराला' के समान मात्र अपनी भावाभिव्यक्तिकी मुक्त अवतारणाके लिए छन्दोंका बन्धन नहीं तोड़ा है, वरन् छन्द, लय, ताल, संगीत और सामंजस्य सभीका अतिक्रमण करके संगीतके अमूर्तन विधानके आधारपर मुक्त तथा तरल संगीत तत्त्वका उपयोग किया है। इस तत्त्वके साथ प्रतीक शैलीका सन्तुलन ठीक बैठ जाता है। रूपकों तथा अप्रस्तुत योजना-के अन्य विविधरूपोंमें अर्थ-व्यंजना तथा भाव-संयोगोंके निश्चित विधान सामने आ जाते हैं, परम्परा और पूर्व प्रयोगोंके आधारपर उनके सन्दर्भ और प्रसंग निर्धारित होते हैं। इसके विपरीत प्रतीकमें प्रयोगजन्य अर्थकी अनेक सम्भावनाएँ निहित रहती हैं। प्रतीकोंका चुनाव कवि मनस्परक संवेदनके आधारपर करता है, जिससे कल्पनाका क्षेत्र मुक्त रहता है और संयोगों तथा अर्द्ध-छायाओंकी व्यंजनाके लिए असीम सम्भावनाएँ रहती हैं, परन्तु इसी कारण इस काव्यकी भाषा, शैली तथा बिम्बविधान दुरूह भी लगता है।

उपर्युक्त विवेचनसे शमशेरका काव्य-शिल्प बहुत कुछ फ़्रान्सके प्रतीक-

वादियों (अन्योंका भी सीमित प्रभाव है) के समान लगता है। परन्तु अपने भाव-बोधके स्तरपर उनमें रोमैण्टिक भावना और सामाजिक दायित्वका आग्रह सर्वत्र मिलता है। जब प्रेम और सौन्दर्य (नारी अथवा प्रकृति) सम्बन्धी भावावेशको चेतनाके गहरे स्तरपर व्यंजित किया जाता है, अथवा सामाजिक यथार्थको व्यक्तित्वके संस्पर्शमें अनुभूत किया जाता है, उस समय प्रतीकात्मक बिम्ब-विधान काव्यके आन्तरिक संयोजनकी माँग न रहकर ऐन्द्रजालिक प्रभाव उत्पन्न करनेकी शैली अधिक हो जाता है, जिसकी काल्पनिक जटिलता और भावात्मक आवेशमें कवि अपने अन्तर्विरोधके समाधानमें सहज सफल हो गया है।

पहले भी कहा गया है कि शमशेर रोमैण्टिक संवेदनके स्तरपर छायावादियोंकी परम्परामें आते हैं, केवल उनमें प्रेम और सौन्दर्यकी मांसलता, ऐन्द्रिकता तथा आवेश अधिक है। भाव-बोधके स्तरपर उनमें और छायावादोत्तर रोमैण्टिक कवियोंमें समता है, पर वह सारे अनुभवको संवेदनके गहरे स्तरपर ग्रहण करनेका प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्नमें वह प्रतीक-शैलीके विशृंखल और ध्वन्यात्मक बिम्बोंका आश्रय ग्रहण कर अपनी प्रभावोत्पादक अस्पष्टतामें दूसरोंसे अलग हो जाते हैं। युँरपीय संगीत सुनकर इसी प्रकारका प्रणय और विरहका रोमानी चित्र कवि अंकित करता है :

> रात की हँसी है तेरे गले में
> सीने में,
> बहुत काली सुरमई पलकों में,
> साँसों में, लहरीली अलकों में :
> आयी तू, ओ किसकी !
> फिर मुसकरायी तू
> नींद में····खामोश····वस्ल।

इसमें शेरोंका मध्ययुगीन रोमान्स प्रभावानुभवके रूपमें इस प्रकार व्यंजित किया गया है कि वह अपनी विशृंखलता और विसंगतिमें नया और आकर्षक हो उठा है। कभी अधिकांश कवितामें छायावादी शब्द-योजना और बिम्ब-विधानका आश्रय लेकर किसी प्रयोगके वैषम्यसे शमशेर छायावादी स्वप्निल प्रणयको अधिक स्पष्ट आधार दे सके हैं। 'मौन आहोंमें बुझी तलवार' में 'बादलोंके पार', 'ऊषाभ आशा अधर', 'ज्योतिका परिधान', 'मधुरतम उर', 'धैर्य-वलयित हृदय' आदि प्रयोगोंके साथ मुख्य व्यतिरेकी प्रयोग 'आहोंमें बुझी तलवारें, तो है ही, जो छायावादी कोमल अभिव्यक्तिके विरोधमें है, पर इसके साथ ही 'चूमना', 'गले लगाना', 'कसकना' और 'उभरना' आदि सीधे और स्पष्ट क्रिया-पदोंका प्रयोग प्रभावको गहरा बनानेमें सहायक हुआ है। शमशेरकी ऐसी अनेक कविताएँ हैं जिनमें शुद्ध रोमैण्टिक भावना अभिव्यक्त हुई है; कल्पनाकी मुक्त उड़ान, सौन्दर्यकी पिपासा, प्रणयाकांक्षाकी रंगीनी और भावोद्वेलन इनमें देखे जा सकते हैं, 'छिप गया मुख', 'गीली मुलायम लटें,' न पलटना उधर' आदिमें। पहली कवितामें प्रकृतिके बीच छायावादी कवियोंके समान नारीकी कल्पना निहित है, पर कविने छायावादी सूक्ष्म लाक्षणिक बिम्बों – 'सीपसी रंगीन लहरोंके हृदयमें', 'हास्यके अनमोल मोती', 'हवाके उन्मुक्त उरमें', 'रिक्त रक्तिम हृदय आँचलमें समेटे', 'भूल-धूमिल जाल मानस', 'छाँह जीवन-वनकुसुम'के साथ 'आज काजल रात-भर बरसा करेगा क्या ?', 'अपने-आप कैसे टूटते हैं', 'बोलको तरसा करेगा' घिरा नारी-मन उचाटोंमें'-जैसे सीधे और सहज कथन भी किये हैं। इतना ही नहीं मूल बिम्बोंको भी 'ढँक लिया जल आँचलोंने बादलों' के रूपमें अधिक स्पष्ट कर दिया गया है और यह भाषाको बोलचालके निकट लानेके कारण सम्भव हुआ है; 'रंगीन', 'अनमोल', 'मोती, 'उचाट', 'नागफन' आदि शब्द तो ऐसे हैं ही, क्रियापदोंका प्रयोग अधिकांश बोलचालसे ग्रहीत है। यह शमशेरकी व्यापक प्रवृत्ति है। अन्य आधुनिक कवियोंने काव्य-भाषाको बोलचालकी

भाषासे विकसित करनेका प्रयत्न किया है, कुछने छायावादी भाषाको अधिक सीधे और व्यंजक रूपमें प्रयुक्त करनेका प्रयत्न भी किया है, पर शमशेरने छायावादी भाषाका इस प्रकार विशिष्ट उपयोग कर लिया है। इससे रोमैण्टिक आकांक्षाकी अभिव्यक्ति अधिक आकर्षक हो गयी है :

वास्तव को स्वप्न ही परसा करेगा क्या ?

इसके विपरीत 'गीली मुलायम लटें' में भाषाका सीधा और बोल-चालका रूप है, पर प्रभाववादी शैलीमें अस्फुट और विशृंखल बिम्बोंमें नारी सौन्दर्यकी मांसलता तथा प्रेमकी आकांक्षाको स्पष्ट और आकर्षित कर दिया गया है जिससे रोमैण्टिक भाव एक ऐन्द्रजालिक कुहासेसे आच्छन्न हो जाता है :

ओ
सुदूरपन
ओ केवल
लयगति····

ऐसे अनेक चित्र मिलेंगे जिनमें सौन्दर्यकी तीखी कल्पनामें रोमान्सकी आकांक्षा व्यंजित हुई है, पर इनमें भी कविने बिम्बोंके प्रतीकात्मक संयोजन और विशृंखल प्रभावांकनसे और कभी-कभी भाषा तथा शैलीके व्यतिरेक-से अभिव्यक्तिमें नवीनता और आकर्षण उत्पन्न किया है। 'दिन किश-मिशी-रेशमी, गोरा' में नारी-सौन्दर्यकी स्वप्निल तथा भावमय कल्पनाके साथ आकांक्षा और स्वप्नको प्रत्यक्ष पानेकी विकलता है :

गोद या
रेशमी गोरी, अस्थिर
अस्थिर
हो उठती

आज

किसके लिए ?

फिर उस बीती बहारको निराश विदा देकर कवि कहता है, 'ये स्वप्न न दिखा'। फिर शैलीके वैषम्यसे उस भाव-स्थितिको चमत्कृत भी कर देता है, 'जाविदानी है अगर्चे, जाविदानी है अगर्चे ज़िन्दगी, फिर भी, रहम कर।' कभी वैचित्र्य-सृष्टिके लिए कवि ऊषा, सूर्य, इन्द्र, विष्णु, यूनानी, अपोलो, देवापगा तथा सरस्वतीके विविध पौराणिक सन्दर्भोंकी कल्पना एक साथ करता है, फिर इनके विरोधमें 'गुलाबकी टहनियों' में 'छिपी हुई बसी हुई बुलबुले'-से वह एक ओर फ़ारसकी मध्ययुगीन कल्पनाका बिम्ब सामने लाकर आकर्षण उत्पन्न करता है और दूसरी ओर रोमैण्टिक भाव सौन्दर्यकी अदृश्य आकांक्षा व्यंजित करता है।

शमशेर रोमैण्टिकोंके समान अतीतको वापस लानेकी आकांक्षासे उद्वेलित होते हैं, क्योंकि अतीतके प्रति कविके मनमें सम्मोह है। वह अपने अतीतके स्वप्नोंसे पुनः सम्पर्कित होना चाहता है :

लौट आ, ओ फूल की पँखुड़ी

फिर

फूल में लग जा

और अतीतके सन्दर्भमें वह अपनेको 'समयकी लम्बी आह, मौन लम्बी आह' मानकर वेदनाका अनुभव करता है :

चूमता है धूल का फूल

कोई हाय।

इसी प्रकार रोमान्सकी आकांक्षा और प्रेम-सम्बन्धी निराशासे उत्पन्न अवसाद, पीड़ा, व्यथा, उत्पीड़न और मार्मिक अनुभूति 'शाम और रात', 'ज़िन्दगीका प्यार', 'टूटी हुई, बिखरी हुई', 'सावन' आदि कविताओंमें कई

रूपोंमें व्यंजित हुई है । कहीं तो यह अभिव्यक्ति अलग-अलग असम्बद्ध बिम्बोंमें हुई है (शाम और रात), कहीं सीधी कथन शैलीके साथ उर्दू शैलीका वैषम्य उत्पन्न कर (जिन्दगीका प्यार), और कहीं विस्तृत और असम्बद्ध चित्रोंको एक ही बिम्ब-विधानके संघटनमें संयोजित कर यह आकर्षक प्रभाव पैदा किया गया है (टूटी हुई, बिखरी हुई) ।, 'सावन'-जैसी कविताओंमें प्रारम्भ प्रकृतिके प्रभाववादी चित्रणसे किया गया है, पर क्रमशः उसमें रोमैण्टिक भावका विकास उसकी इच्छा-आकांक्षाओं, प्रेम-विरह और पीड़ा-वेदनाकी विविध मनःस्थितियोंके अंकनके रूपमें परिलक्षित होता है । इन लम्बी कविताओंमें असम्बद्ध और विशृंखल प्रभाव-बिम्बोंसे संवेदनका संयोजन और संघटन तथा बोलचालकी भाषाका सीधा प्रयोग आजकी कविताकी भाषा-शैलीके समान है । परन्तु शमशेरकी इन कविताओंमें समस्त रोमैण्टिक भाव, उसका सौन्दर्य, प्रेम-प्रणय, आकांक्षा, आशा, निराशा, वेदना, स्वप्न, स्मृति आदि प्रस्तुत बिम्ब-विधानके अन्तर्गत ऐन्द्रजालिक वातावरणके वैचित्र्यपरक प्रभावमें समाहित हो जाता है :

> बहुत-से तीर बहुत-सी नावें, बहुत-से पर इधर
> उड़ते हुए आये, घूमते हुए गुज़र गये
> मुझको लिये, सबके सब । तुमने समझा
> कि उनमें तुम थे । नहीं, नहीं, नहीं ।
> उनमें कौन था । सिर्फ़ बीती हुई
> अनहोनी और होनी की उदास
> रंगीनियाँ थीं । फ़क़त ।

[टूटी हुई, बिखरी हुई]

प्रकृतिको भी कविने भाव-बोधके कई स्तरोंपर ग्रहण किया है, और इस कारण उसके अंकनकी शैलियोंमें अन्तर परिलक्षित होता है । कभी अलंकरण शैलीमें उपमानोंकी नवीनतासे चित्र अधिक व्यंजक हो सका है :

प्रात नभ था बहुत नीला शंख जैसे
भोर का नभ
राख से लीपा हुआ चौका
(अभी गीला पड़ा हो)

इसी प्रकार, 'ऊषा' के चित्रमें आकाशकी लालीके लिए 'बहुत काली सिल ज़रा-से लाल केसरसे कि जैसे धुल गयी हो' अथवा 'स्लेटपर या लाल खड़िया चाक मल दी हो किसीने' ऐसे बिम्ब-चित्र अधिक प्रत्यक्ष और व्यंजक हैं। पर कवि 'नीली झीलमें किसीकी गोरी झिलमिल देहके हिलने' की कल्पनासे चित्रमें रोमैण्टिक सौन्दर्य अन्तर्निहित करता है, फिर अन्तमें सूर्योदयके संकेतसे विपर्ययके वैचित्र्यकी सृष्टि कर देता है।

और—
जादू टूटता है इस ऊषा का अब
सूर्योदय हो रहा है !

कभी प्रकृतिके प्रभावानुभवको कवि चित्रित करनेके लिए ऐसे बिम्बों और प्रतीकोंका आश्रय लेता है जो अनुभूतिके व्यापक परिवेशकी व्यंजना करनेमें समर्थ है। पर शमशेर शुद्ध अनुभूतिके स्थानपर रोमैण्टिक भावसे अधिक अभिभूत हो जाते हैं और इस दृष्टिसे उनकी संवेदना आधुनिक भाव-बोधसे अलग पड़ जाती है, मध्ययुगीन रोमान्ससे प्रेरित जान पड़ती है। 'पूर्णिमाका चाँद' का अनुभव कवि 'गल रहे आसमान' तथा 'पीले गुलाबोंके उमड़ते हुए दरिया' के रूपमें करता है, पर 'झिलमिलाते स्वप्न जैसे पाँव' की कल्पनामें छायावादी स्वप्निल सौन्दर्यका आभास मिलता है। प्रायः कवि प्रकृतिके प्रभावात्मक बिम्ब-चित्र प्रस्तुत करता है, परन्तु अधिकांशमें प्रणय, वासना, भावावेश, सौन्दर्याकांक्षा, उद्वेग, आशा तथा वेदना आदि भावोंकी व्यंजना भी सन्निहित है। रोमैण्टिक प्रकृति तथा प्रेमसम्बन्धी साधारण भावाभिव्यक्तिसे यहाँ अन्तर इस बातका है कि इन

अस्फुट, विशृंखल और विसंगत (कभी-कभी) बिम्ब-चित्रोंकी अस्पष्टता छायावादी रहस्य भावनाके समान सारे वातावरणको जादुई आकर्षणसे भर देती है। 'एक पीली शाम' के चित्रमें 'पतझरका ज़रा अटका हुआ पत्ता' एक अनुभवका वस्तुपरक बिम्ब प्रस्तुत करता है, और उसके साथ :

अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आँसू
सान्ध्य तारक-सा
अतल में।

इस बिम्बका पूर्ण संयोजन है, क्योंकि सन्ध्याके तारेका पतझरके पत्ते-सा अटका होना और उसकी 'अब गिरा अब गिरा' की स्थिति पूरी कविताको आन्तरिक संगति देती है। पर इनके बीच 'आँसू' और उसके गिरनेकी स्थितिकी कल्पना सारे चित्रको एक भिन्न सन्दर्भमें प्रस्तुत कर देती है, और फिर 'एक पीली शाम' का अनुभव अलग पड़ जाता है, अर्थात् शाम एक पूर्व भावकी मात्र पीठिका रह जाती है और 'भावनाओंमें कृश क्लान्त हारा-सा मुख कमल' प्रमुख हो जाता है।

प्राय: शमशेर प्रकृतिके अनुभूतिपरक बिम्ब-चित्रोंमें भावशीलताका मोह नहीं छोड़ पाते, इस कारण प्रकृतिके वस्तुपरक अनुभवके स्थानपर कविका भावारोप प्रधान हो जाता है और कविताका प्रतीकात्मक संयोजन या उसकी आन्तरिक संगति शिथिल हो जाती है। 'दूब', 'सागर-तट'की अपेक्षा अधिक छोटी कविताओं 'सुबह' तथा 'रात्रि' में इस दृष्टिसे अधिक पूर्ण संगति है। 'दूब' में :

पलकों पर हौले-हौले
तुम्हारे फूल-से पाँव
मानो भूल कर पड़ते
हृदय के सपनों पर मेरे !

इस चित्रका भाव सारे अनुभवको एक भिन्न दिशामें ले जाता है। 'सागर-तट' के अन्तमें कवि एक ऐसा बिम्ब दे देता है :

> चाँदनी की उँगलियाँ चंचल
> क्रोशिये से बुन रही थीं चपल
> फेन झालर बेल, मानो !

जो मूल अनुभवसे किंचित् विमुख करता है, पर भावावेगको बचा लेनेसे यह चित्र अन्ततः कविताके संघटनमें संयोजित हो सका है। 'सुबह' में एक ही बिम्ब पूर्ण अनुभवको व्यक्त करनेमें सफल हुआ है :

> जो कि सिकुड़ा हुआ बैठा था, वो पत्थर
> सजग-सा होकर पसरने लगा
> आपसे-आप।

ऐसी प्रकृति सम्बन्धी कविताओंकी स्थिति अलग है, जिनमें प्रकृतिके साथ मानवीय ऐन्द्रिक तथा मांसल सौन्दर्यकी आकांक्षा तथा रोमैण्टिक भावावेश व्यंजित हुआ है और इनको प्रेम तथा सौन्दर्यके काव्यके रूपमें माना जा सकता है। इस दृष्टिसे 'वसन्त आया' शुद्ध प्रेम-प्रणय तथा यौवनोन्मादकी कविता है :

> यौवन की उमड़ती हुई यमुनाएँ
> फन-मणि की गुँथी हुई लहर-कलियाँ
> रस-रंग में बौरी हुई राधाएँ
> रस-रंगमें माती हुई कामिनियाँ
> फिर लायीं वसन्त।

'धूप' में इसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म स्तरपर प्रेम, सौन्दर्य तथा प्रणय-सम्बन्धी प्रभाव-बिम्बोंको संघटित किया गया है और सारा वातावरण

प्रकृतिके चित्रोंसे निर्मित है। कहीं 'केलेके खम्भोंपर धूप थपेड़े मारती हैं', 'बादलोंके लहरोंमें नावें उछलती हैं', कहीं 'चुम्बनकी मीठी पुचकारियाँ, खिला रहीं कलियाँ फूलोंको हँसा रहीं' और कहीं 'कुसुमोंसे चरनोंका लोच लिए, थिरक रही हैं भीनी-भीनी सुगन्धियाँ' या 'सोनीली माटी आँख मींच धूपकी चुस्कियाँ पिये जाये', इन भाव-चित्रोंके साथ 'एक चिकनाहटका खसर्-खसर् हवामें मक्खन-सा घुलना', 'आलसकी भोरका कुंज गदराना' 'यौवनके सपनोंका अनजान होना', मगन-मगन सीटियाँ बजाते हुए बेगानी तानोंमें गुनगुनाना', खिल् खिल् खिल्कर नाचना' और 'थप् थप् केलेके पातोंपर हाथोंसे हाथ थपथपाना' आदि मानवीय भाव व्यंजनाओंका संकेत देनेवाली क्रियाएँ संयोजित हैं। इसी प्रकार 'सलोना जिस्म' नामक कविता-में प्रकृति और मानवीय भावोंको एक ही प्रभाव-बिम्बमें संगुम्फित कर दिया गया है। ऐन्द्रिक-सौन्दर्य और प्रकृतिका भाव-सौन्दर्य बिम्बोंमें मिल-जुलकर रोमैण्टिक प्रभावको तीखा करते हैं, और ये बिम्ब-चित्र अपनी विशृंखलतामें आकर्षक हो गये हैं। कभी यह रूमानी भावुकता बहुत सादगीके साथ प्रस्तुत की गयी है, जैसे 'चाँदसे थोड़ी-सी ग़प्पें' कवितामें।

प्रारम्भसे शमशेरमें व्यक्ति और समाजको लेकर अन्तर्द्वन्द्व रहा है और इसका कोई समुचित समाधान सर्जनके स्तरपर वह नहीं कर सके हैं। इस अन्तरालको उन्होंने भावुकता, भावावेश, शुद्ध कवि-दृष्टि, सामा-जिक यथार्थकी स्वीकृति, सामाजिक दायित्वके समर्थन तथा विरोधी तत्त्वों और शैलियोंके प्रयोगसे उत्पन्न आकर्षण तथा ऐन्द्रजालिक प्रभावसे भरनेका निरन्तर प्रयास किया है। संवेदन और आन्तरिक अनुभवके स्तरपर कभी-कभी कविने व्यक्तिके इस एकाकीपनको समाजके सन्दर्भमें स्वीकारा है :

मैं समाज तो नहीं : न मैं कुल
जीवन :

कण-समूह में हूँ मैं केवल
एक कण।
कौन सहारा!
मेरा कौन सहारा!

जैसे अपनी दायित्वकी चेतनासे प्रेरित होकर कवि समाजके साधारण वर्गके जीवनके प्रति संवेदनशील होता है। पर शमशेरमें प्रभाव ग्रहण करनेकी सहज क्षमता है, इस कारण ऐसे चित्रोंमें मार्मिक अनुभूति व्यंजित है। 'शाम होनेको हुई' में ऐसे ही वर्गोंके सान्ध्यकालीन जीवनका चित्रण है, पर कविने उनकी मानसिक स्थितियोंके प्रभाव-चित्रोंके साथ अन्तमें प्रकृति-के निरपेक्ष चित्रसे वैचित्र्यका प्रभाव कवितामें संयोजित कर दिया है :

रात हो आयी, चमक उट्ठे कई
बल्ब, ऊपर अग्रहायण, दूर–
नभ में। दूर तक उट्ठे अधीर
भाव···कैसे सहज, कैसे क्रूर!

प्राय: शमशेर समसामयिक घटनाओं और परिस्थितियोंके प्रति संवेदित हुए हैं, इनमें-से कतिपय साम्यवादी आन्दोलनों तथा शहादतोंसे सम्बन्धित हैं। पर इन कविताओंमें कविकी प्रतिक्रिया तथा सहानुभूति अधिक व्यंजित हुई है, जो सामाजिक चेतनाकी अपेक्षा वैयक्तिक अधिक है। अथवा फिर ये नारोंको ध्वनित करके रह गयी हैं। 'ये शाम हैं' में ग्वालियरकी एक शामका भाव-चित्र है, जिसमें मज़दूरोंके जुलूसपर गोली चलनेकी घटनासे प्रभावित होकर कविने बिम्ब-चित्रोंमें उसकी संवेदनाको ग्रहण करनेका प्रयत्न किया है :

व' शाम है
कि आसमान है पके हुए अनाज का।

लपक उठीं लहू-भरी दरातियाँ,
कि आग है।

पर कवितामें नारोंकी ध्वनि अधिक है। इस प्रकार बिम्बोंको प्रस्तुत करनेमें प्रतीकात्मक चित्रोंसे कविताका संयोजन कभी आकर्षक और वैचित्र्यपरक हो जाता है। भारद्वाजकी शहादतसे सम्बन्धित कविताके प्रारम्भमें 'ऊषा' और 'सूर्योदय'के प्रतीक चित्र और अन्तमें 'अक्षयवट, कुम्भ तथा गंगाकी धार'के माध्यमसे बृहद् पर्वके पौराणिक प्रतीक-चित्रसे :

हरहरा कर उठ रहा है
नव
जनमहासागर।

के साथ 'भारद्वाजका है – लाल निशान'का अधिक संगत सामंजस्य स्थापित हो सका है और कविताका आन्तरिक संघटन भी एक सीमा तक रक्षित है। अधिकतर कवि अपने व्यक्तित्वको ऐसी परिस्थितियों, घटनाओं और पात्रोंपर आरोपित तथा प्रक्षेपित करता है, अतः कविताओंमें भावुकता और भावावेशका वातावरण अधिक है। कम ही स्थलोंपर विचार तथा सिद्धान्तकी प्रमुखता है, पर ऐसी कविताओंमें किसी-न-किसी प्रकारके वैचित्र्यका समावेश ज़रूर किया गया है, जैसे 'चीन' नामक कवितामें चीनी अक्षरोंकी चित्रमयताका आश्रय। कुछ समसामयिक कविताओंमें मात्र कथ्य प्रमुख है, शैलीमें सूक्तियों-जैसा चमत्कार ज़रूर मिलता है (अज्ञेयसे)। इनके अतिरिक्त सुभद्राकुमारी चौहान तथा कल्याणी बाईपर लिखी गयी कविताओंमें कविकी आत्मीय संवेदना विभिन्न बिम्ब-चित्रोंमें व्यंजित हुई है, इन चित्रोंमें विशृंखलताका आकर्षण है, पर 'माई' कवितामें कलात्मक संगति अधिक पूर्ण है।

प्रारम्भमें इस बातका निर्देश किया जा चुका है कि शमशेर प्रभाव-

वादियोंके समान अपने बिम्बविधानमें अनुभूतिके शुद्ध तथा तात्त्विक स्वरूपको व्यंजित करनेका प्रयत्न करते हैं। अनुभूतिकी सघनतामें अस्तित्व और प्रकृति एक ही प्रतीक-योजनाके अंग हो जाते हैं :

एक नीला आइना
बेठोस-सी यह चाँदनी
और अन्दर चल रहा हूँ मैं
उसी के महातल के मौन में।

जहाँ व्यक्तित्वकी यह अनुभूति प्रकृति तथा अन्य बिम्ब-चित्रोंके साथ एक रस हो सकी है, कविता अपने आन्तरिक संयोजनमें उत्कृष्ट बन पड़ी है। 'एक मौन' में ऐसी ही सफल योजना और संगति है :

सोने के सागर में अहरह
एक नाव है
(नाव वह हमारी है)
सूरज का गोल पाल सन्ध्या के
सागर में अहरह
दोहरा है....
ठहरा है....

'घनीभूत पीड़ा' (एक सिम्फ़नी), अतियथार्थवादी चित्र, प्रभाव-बिम्बोंके आधारपर लिखी गयी एक लम्बी रचना है, जिसमें रेखाओंके सांकेतिक बिम्बोंका ध्वनि तथा शब्द-बिम्बोंसे सामंजस्य स्थापित किया गया है और स्फुट तथा विशृंखल बिम्ब कल्पनाको उत्तेजित करते हैं। परन्तु कवितामें अस्पष्टताका वातावरण अर्थकी व्यंजनाको प्रसार देनेमें सहायक होने तथा अनुभवको सघनता तथा गहराई देनेकी अपेक्षा ऐन्द्रजालिक प्रभाव अधिक उत्पन्न करता है, इसके अतिरिक्त रोमैण्टिक अनुभवके निहित संकेतोंसे

यह प्रभाव सम्पुष्ट होता है, यद्यपि कविताकी आन्तरिक संरचनाको ये तत्त्व शिथिल और विश्रृंखल करते हैं। इसी प्रकारका प्रभाव 'चित्तप्रसाद-की 'बहार' शीर्षक कविता सुनकर' व्यंजित किया गया है, परन्तु इसके बिम्ब-चित्रोंसे प्रेम तथा रोमांसकी कल्पना अधिक उद्वेलित हुई है।

'अम्नका राग', 'टूटी हुई, बिखरी हुई' तथा 'सावन'-जैसी लम्बी कविताओंमें शमशेरने आधुनिक काव्यकी विश्रृंखल, असम्बद्ध तथा विसंगत शैलीका अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग किया है, पर इन तत्त्वोंका समुपयोग अनुभवको अधिक विशिष्ट तथा विचक्षण ढंगसे संघटित करनेमें नहीं हो सका है। 'अम्नका राग' में देश-कालकी सीमाओंका अतिक्रमण करके जो अनेक स्थितियोंको एक साथ प्रस्तुत करनेकी चेष्टा है, वह बिम्ब-योजनाकी अपेक्षा कथन अधिक है। परिणामस्वरूप स्थितियोंके बीचका अन्तराल न भर सका है और न अनुगूँजित हुआ है, जो इस प्रकारके प्रयोगोंकी विशेषता होती है। ऐसा नहीं कि कथनका सांकेतिक, प्रतीकात्मक अथवा बिम्बात्मक प्रयोग नहीं किया जा सकता, अनेक बार इन कविताओंमें ही ऐसा बन पड़ा है। ऐसी स्थितिमें एक सीमा तक कविताकी आन्तरिक संरचना और संगति भी देखी जा सकती है। दूसरी कविता 'टूटी हुई, बिखरी हुई' में स्थितियोंके विश्रृंखलित चित्र अधिक बिम्बात्मक तथा सांकेतिक हैं, उनमें आन्तरिक संयोजन भी अधिक कसा हुआ है। परन्तु इस रचनामें रोमैण्टिक मूड अपनी प्रेमाकांक्षा, आशा-निराशा, पीड़ा-व्यथा तथा अतीतके सुख-स्वप्नोंकी स्मृतिमें निरन्तर प्रस्तुत है, इस कारण विश्रृंखल तथा विसंगत बिम्ब-योजना शैलीगत चमत्कार मात्र उत्पन्न करती है। कविताकी मूल संवेदना वस्तु तथा स्थितिके शुद्ध अनुभवकी अपेक्षा रोमैण्टिक भावावेशको ही व्यंजित करती है। इसकी निरन्तरतामें विभिन्न चित्र एक दूसरेके पूरक जान पड़ते हैं, उनसे अनुभवकी अनुभूति-जन्य मीड़ें तथा अनुगूँजें नहीं उत्पन्न हो सकी हैं। 'प्यासके पहाड़पर झरनेकी तड़प', 'जंगली फूलोंपर ओसका टपकना', 'एक फूलका ऊषाकी

खिलखिलाहट पहनकर रातका कम्बल उतारना' आदि अनेक बिम्ब-चित्रोंमें बराबर एक रोमैण्टिक भावना विद्यमान है :

> और तब मैंने देखा कि मैं सिर्फ़ एक साँस हूँ जो उसकी
> बूँदों में बस गया।
> जो तुम्हारे सीनों में फाँस की तरह ख़ाब में
> अटकती होगी, बुरी तरह खटकती होगी।

'सावन' नामक कवितामें प्रारम्भिक चित्र अपनी संघटनामें अधिक पूर्ण हैं, आगेके प्रकृतिके समकक्ष प्रस्तुत भाव-चित्र वस्तु-स्थितिकी अपेक्षा पुनः कविताको समस्त योजनाको भावारोपित कर देते हैं। वास्तवमें कविके सम्मुख यह स्पष्ट नहीं है कि भावुकता तथा भावावेश उसकी आधुनिक शैली तथा शिल्पसम्बन्धी अभिरुचिके अनुकूल नहीं हैं अथवा यह नया शिल्प विधान उसके मूल रोमैण्टिक भावके साथ संगत नहीं है। वह एकसे भावनाके स्तरपर सम्बद्ध है और दूसरेसे प्रयोगके स्तरपर आकर्षित है। परिणामस्वरूप वह प्रभाववादियोंसे लेकर अति-यथार्थवादियों तकके बिम्ब-विधान तथा प्रतीक-योजनासे प्रेरणा ग्रहण करके भी मूल भावनाकी दृष्टिसे रोमैण्टिकों (बादके) से अलग नहीं हो पाया है। और अपनी विरोधाभासकी स्थितिसे बचनेके लिए उसने विषय, वस्तु तथा शिल्पके विपर्ययपरक प्रयोगोंसे ऐन्द्रजालिक प्रभाव उत्पन्न किया है, जिसके वातावरणमें पाठक प्रायः एक विचित्र रहस्यका अनुभव करता है। शमशेरकी यह विशिष्टता है और सफलताका कारण भी।

अन्तमें उस कोटिकी कविताओंको लिया जा सकता है, जिन्हें या तो स्वयं कविने अमूर्तन चित्र अथवा सुर्रियलिस्ट चित्र कहा है, या जिनमें प्रभाववादी बिम्ब-चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। इन विभिन्न शैलियों और प्रतीक-विधानोंका उपयोग तो कविने प्रायः किया है, पर अन्य कविताओंमें जैसा कि देखा जा चुका है, अन्य भाव-स्थितियों और काल्पनिक चित्रोंको

व्यंजित करनेकी प्रेरणा और उद्देश्य प्रधान रहा है। क्योंकि इन कविताओं-में वस्तुपरक अनुभवको व्यंजित करनेका प्रयत्न अपेक्षाकृत अधिक है, इस कारण इनकी आन्तरिक संरचनात्मक तथा संघटनात्मक एकता और संगति अक्षुण्ण है। 'होली : रंग और दिशाएँ' के सभी बिम्ब-चित्र स्पष्ट, वस्तुपरक तथा कविताके अनुभवको सम्पन्न करनेमें सहायक हैं :

दूर से आती हुई
एक चौपड़ की सड़क
अन्तस् में
खोयी जा रही है।

इस चित्रके साथ यह दूसरा चित्र :

जल
आइना।
सड़कें
विविध वर्ण :
बहुत गहरी।

असम्पृक्त होते हुए भी अनुभवके स्तरपर संघटित हो जाता है। कविता-के विभिन्न खण्डोंमें भी उसकी रक्षा हो सकी है, पर अन्तिम अंशमें बिम्बकी अपेक्षा कथन और अनुभवकी अपेक्षा मान्यता अधिक व्यंजित होने लगते हैं। फिर भी इससे कविताके प्रभावकी रक्षा हो सकी है। 'एक आदमी दो पहाड़ोंको कुहनियोंसे ठेलता', 'धूप कोठरीके आइनेमें खड़ी', 'ये लहरें घेर लेती हैं' तथा 'एक मौन'-जैसी छोटी तथा प्रभाव-बिम्बोंमें प्रस्तुत कविताएँ-अधिक सफल हैं; उनमें कहीं एक चित्रको विभिन्न स्थितियोंमें ग्रहण कर अनुभवके एक बिन्दुपर सन्तुलित किया गया है :

फिर क्यों
दो बादलों के तार
उसे महज़ उलझा रहे हैं ?

कभी प्रभाव-बिम्बोंके साथ एक प्रत्यक्ष स्थितिसे समस्त कविताको संवेदित किया गया है :

आज बचपन का
उदास माँ का मुख
याद आता है ।

अन्तमें इस प्रकारका भावात्मक संकेत समस्त कविताको कभी निश्चित दिशामें बाँध भी देता है, जो उसकी भाव-बोधकी सम्भावनाके लिए बाधक भी माना जा सकता है । 'ये लहरें घेर लेती हैं' का अन्तिम भाव संकेत ऐसा ही है :

अगिन व्यथा भर सहसा
कौन भाव
बिखर गया इन सब पर ?

इससे कविता संघटित हुई है, पर उसकी सम्भावना सीमित भी हो गयी है । 'एक मौन' का प्रभाव-चित्र अपने अनुभवमें पूर्ण उतरा है, यह अलग बात है कि कविके अनुभवमें रोमांसका मूड व्यंजित हो गया है । 'सींग और नाख़ून' तथा 'शिलाका ख़ून पीती थी' में कविने बिम्बोंका स्पष्ट विसंगत संयोग किया है, सम्भवत: इसीलिए उसने इन्हें सुरियलिस्ट चित्र माना है । पर इस प्रकारके प्रयोगसे वैचित्र्यकी सृष्टि अवश्य हुई है, अनुभवकी आन्तरिक एकतामें किसी प्रकारकी गहराई नहीं आ सकी है और न अर्थकी व्यंजनामें सम्पन्नता ही आयी है ।

■

आधुनिकताका नया स्वर

विपिन कवि है, वैज्ञानिक है और आधुनिक भी। उसकी आधुनिक दृष्टि साहित्यकी अपेक्षा विज्ञानसे अधिक विकसित हुई है। साहित्य उसने पढ़ा है, पर साहित्यके विद्यार्थीकी पद्धतिसे परम्पराओंके आधारपर नहीं। यदि कहीं परम्पराओंका उसको परिचय है तो विज्ञानकी, जहाँ आजकी तीव्र प्रगतिके सन्दर्भमें परम्पराओंको गहना अनावश्यक हो गया है। इसीलिए उसकी प्रवृत्ति वैज्ञानिक है और उसकी कविता प्रकृतितः आधुनिक है। कवितामें वैज्ञानिक मनोवृत्तिकी आधुनिकताका अर्थ इस युगके वैज्ञानिक आविष्कारों तथा प्राविधिक उन्नतिकी चर्चा करना नहीं है और न ही उनसे अनिवार्यतः रूपक अथवा प्रतीक ग्रहण करना ही, जैसा आज प्रायः समझ लिया जाता है। इस प्रकारके रूपक या प्रतीक हमको मध्ययुगीन मनोवृत्तिके आगे नहीं ले जा सकते।

वैज्ञानिक मनोवृत्तिके परिणामस्वरूप आधुनिकताकी एक विशेषता है, असंतृप्ति (डिस्सेटिस्फ़ैक्शन)। इस असंतृप्तिके कारण ही आधुनिक कवि परम्परासे विद्रोह करता है और नये मार्गका अन्वेषक बनता है। पिछले युगोंके काव्यके व्यतिरेक (एक्सिलेन्स), अभिस्यन्दन (एफ़्यूसन), अतिरेक (एक्स्ट्रावेगन्स), परिपूर्णता (पर्फ़ेक्शन) और कलाकौशलसे ही वह असंतृप्त है। उसके लिए वस्तुओंका अपने-आपमें कोई महत्त्व नहीं रह गया है, उनकी स्थितियोंका आकर्षण समाप्त हो गया है। उनका यथार्थ रहस्यात्मक, काल्पनिक या अतिरंजित रूपमें कविके अनुभवका विषय नहीं हो पाता। अतः आजके कविके लिए अनुभव सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। ऐसा नहीं कि पिछले कवियोंके लिए अनुभवका महत्त्व नहीं था, पर उनके

---

१. विपिनके माध्यमसे।

लिए वस्तु तथा स्थिति भी सार्थक थे, अतः उनका अनुभव भावाकुलता या भावशीलतामें प्रतिघटित होता था। यह भावावेश फिर अपनी अभिव्यक्तिके लिए अनेक ऐसे उपकरणोंका आश्रय लेता है, जिनसे कविता लिखी जाती रही है। आजके कविकी दृष्टिसे कविताकी इस पूर्णतामें, शिल्प-कौशलमें तथा भावावेगमें वास्तविक अनुभव बोझिल हो जाता है, खो जाता है। इसी कारण वह असन्तुष्ट है और अपने सर्जनात्मक अनुभवको संघटित करनेके अन्वेषणमें संलग्न है। विपिनने नये कविके इस अनुभवको 'मोटर, लाल बत्तियाँ और अभिमान' और 'ज़रूरतसे ज़्यादा'-जैसी कविताओंमें व्यक्त किया है। हमारी गति परछाइयोंसे व्यंजित होती है, मोटरकी लाल बत्तियाँ (गतिके अनुभवके आवेगपूर्ण उपकरण) हमारे इस अभिमानको खण्डित नहीं कर सकतीं :

बजाय रोशनी के
छाया से
जो बात कह ले
उसकी पहुँच ज़्यादा है।

यही भाव दूसरी कवितामें और भी स्पष्ट है, यद्यपि इसी कारण इसका आन्तरिक संरचनात्मक संघटन कम है :

निविड़ अन्धकार में भी
कभी-कभी
वस्तु का भार
आत्मा-सा
न जाने कैसे पुकार
राही को आगाह कर देता है !
सच मानो,
यह सब प्रकाश

रूप की मरीचिका-सा
ज़रूरत से ज़्यादा है !

विचक्षणता (एफ़िशिएन्सी) वैज्ञानिक युगकी पहली माँग है । आधुनिक दृष्टि परिपूर्णताके स्थानपर विचक्षणताको महत्त्व देती है, यह विचक्षणता ही उसका व्यतिरेक (एक्सेलेन्स) है और उसके साथ अतिरेक और अभिस्यन्दनकी संगति बैठ नहीं सकता । कमसे-कम समय, शक्ति तथा साधनके व्ययसे निश्चित उद्देश्य तक पहुँचना विचक्षणताका आदर्श है । इसी वैज्ञानिक दृष्टिसे आजका कवि अपने अनुभवकी समस्याको हल करनेमें संलग्न है । वह अपने इस काव्यात्मक अनुभवको वस्तु, स्थिति अथवा चरित्र आदिकी प्रतिक्रिया या भावशीलताके रूपमें नहीं मानता । वह सीधे अनुभवको उसी स्तरपर ग्रहण करता है और इसी कारण उसके अनुभव तथा काव्य-रचनामें कारण-कार्यका सम्बन्ध नहीं देखा जा सकता, वे दोनों उसकी सर्जन-प्रक्रियाके अभिन्न अंग हैं । इस निश्चित दृष्टिके कारण कथ्य और कथन अर्थात् वस्तु तथा शिल्प अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाते, जो महत्त्वपूर्ण तथा सार्थक है, वह अनुभवकी सीधी अभिव्यक्ति है । अनुभवको सर्जनात्मक क्षणके रूपमें प्रस्तुत करनेमें आजका कवि अपने सामने विचक्षणताका आदर्श रखता है । इस कारण कवि कवितामें वर्णित वस्तुओंकी किसी सार्थक या तार्किक परिणतिकी परिकल्पना लेकर नहीं चलता और न उसे किसी निश्चित अथवा सुन्दर बिम्ब-विधानकी आवश्यकता ही होती है । क्योंकि वह अनुभवको सर्जनके क्षणोंमें अब ग्रहण करनेमें प्रयत्नशील है, अतः वह उसके लिए विचक्षण (एफ़िसिएण्ट) उपायोंका प्रयोग करता है । विपिनमें निरन्तर ऐसा प्रयत्न पाया जाता है, यही कारण है कि उसमें परम्पराकी दृष्टिसे वस्तु तथा शिल्पकी नितान्त अवहेलना सदा मिलेगी । 'अभी' नामक कवितामें वस्तु और शिल्पसम्बन्धी यह दृष्टि देखी जा सकती है :

फेंकी हुई चकई की डोर-सी
तनी सड़कें
न जाने कब लिपट जायें ।
अपने दाँव की इन्तज़ारी में खड़े
हरे पेड़
कब बाँहें चढ़ा अपने कत्थई हाथों से
बीते वसन्त को दुलारते रह जायें ।
कौन जाने हम-तुम
बहुत खुश, कल
हँसने में शर्मायें ।

उपर्युक्त कवितामें प्रस्तुत विषय और उसकी व्यंजित करनेकी शैली अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण नहीं है, उनकी सार्थकता इसी बातमें है कि इनके-द्वारा कवि अपने सर्जनात्मक अनुभवको विचक्षण (एफ़िसिएण्ट) ढंगसे कह सकता है । कोई भी जीवनकी यथार्थ स्थिति नये कविको अनेक भावों-से संवेदित कर सकती है । परन्तु वह आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन, संचारी आदिके अवस्तुपरक आधारपर न कोई निरपेक्ष रस-दशा उत्पन्न करना चाहता है और न प्रभावात्मक शैलीमें पाठकमें उस भावनाको तीव्रताके साथ जाग्रत् करनेका उपक्रम ही करता है । क्योंकि इस प्रकारकी पद्धतियों-से नया कवि अपने उद्देश्यमें सफल नहीं हो सकता । वह तो सम्पूर्ण अनुभवकी अर्थात् अपने सर्जनात्मक अनुभवको, उसकी समग्र संवेदन-शीलताके साथ, इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि पाठक उसका सक्रिय सहभागी हो सके ।

अपने अनुभवको सीधे व्यक्त करनेमें तथा पाठकको उस तक पहुँचानेमें कविको काफ़ी आत्मनियन्त्रण करना पड़ता है, जिससे वह न स्वतः किसी भावुकतामें बह जाये और न अपने पाठकको भावातिरेक या भावावेशकी

स्थितिमें प्रेरित करे। एक प्रकारसे यह आत्मनियन्त्रण वैज्ञानिक दृष्टिको विलक्षणतासे सम्बद्ध है। इस नियन्त्रणका सफल प्रयोग विपिनकी कविताओंमें विशेष रूपसे देखा जा सकता है। नयी कविता (४) में संकलित 'अभागा' के इस वर्णनमें :

अपनी क़लम सफ़ेद कपड़े में लपेट
बाँहों पर टिका वीरान वादी की ओर
निकला सहसा चौराहे पर सहमा हो !

भावावेग तथा भावातिरेककी स्थितिसे बचाकर कविने कविताके सारे अनुभवकी रक्षा की है। यहाँ 'शव' के प्रत्यक्ष रूपकमें पाठकके उलझ जानेकी सम्भावनासे भी कविने अपने नियन्त्रणके कारण मुक्ति प्राप्त की है।

यह कवि जिस प्रकार भावोंके अतिरेकसे बचता है, उसी प्रकार कथनकी अतिशयोक्तिसे सतर्क रहता है। वस्तुतः उसके लिए कोई भी अनुभव मात्र काव्यकी प्रेरणा नहीं है, वह काव्य-सर्जनकी प्रक्रियामें उस अनुभवको पूर्णतः निष्पन्न करना चाहता है। वह देखता है कि विषय-वस्तु अथवा अनुभवकी स्थितिको महत्त्व देनेपर उसका वस्तुपरक बाह्य ढाँचा-भर खड़ा हो पाता है। यदि उससे सम्बद्ध भावनाओंको आवेगपूर्ण ढंगसे व्यक्त किया जाता है तो भावोद्वेलन-भर हाथ लगता है, अनुभवका अधिकांश अनकहा रह जाता है। इस स्थितिमें आजका कवि जिस प्रकार भावोंके अभिस्यन्दन (एफ़्यूसन) से बचता है, उसी प्रकार शैली और शिल्पके अतिरेक (एक्स्ट्रावेगेन्स) को सहन नहीं कर पाता है। अतः उसका मितभाषी होना उसके काव्यकी आन्तरिक संगतिकी माँग है। वह समझ चुका है कि भावोल्लासमें तथा कथनके उत्साहमें वर्णन प्रधान हो जाता है, महत्त्वपूर्ण लगने लगता है और अनुभव गौण हो जाता है; अतः मितव्ययिता (एकानॉमी) के साथ कम कथन (अण्डरस्टेटमेण्ट) करता

है। विपिनकी इस कवितामें निर्धनता, एकाकीपन, निरुपायता तथा आत्म-निष्ठ आदि भावोंको एक अनुभवमें समेट लिया गया है :

> अपने कमरे को बन्द कर
> दीवारों पर भयानक आकृतियाँ खींचकर
> जहाँ वातायन नहीं है वहाँ से
> बाहर देखने का प्रयत्न कर
> फ़र्श पर खड़िया से चौराहा बना
> उसके बीच खड़ा
> बिना कोहनी का कोट पहने
> मैं दुःखी अपाहिज अकेला ग़रीब
> कब से हिसाब लगा रहा हूँ
> कि हज़ार आँखें रोयें एक बार
> और एक आँख रोये हज़ार बार
> तो कौन-सा दुःख ज़्यादा है ?

वह मितकथन करता है, इसलिए नहीं कि उसका कथ्य ही सीमित है, उसका अनुभव ही संकुचित है। वरन् बात इसके विपरीत है। कवि जब अनुभवको महत्त्व देता है, कविताको भावात्मक प्रतिक्रियाके रूपमें स्वीकार नहीं करता, तब उसके अनुभवके क्षणके परिवेशमें उसके जीवन-का बहुत बड़ा विस्तार आ जाना स्वाभाविक है। आजकी कवितामें क्षणवादकी आलोचना करनेवाले प्रायः क्षणके अर्थको समझनेमें भूल करते हैं। इसी कारण क्षणके अनुभवका अर्थ प्रायः सीमित, संकुचित, भूत-भविष्यसे कटा हुआ तथा अर्थहीन अनुभव लेते हैं। जब वस्तुओं तथा स्थितियोंकी प्रतिक्रियाओं तथा प्रेरणाओंसे हटकर कवि सीधे उनके अनु-भवोंको सर्जनप्रक्रियामें ग्रहण करता है, उस समय क्षणका महत्त्व अपने-आपमें निर्धारित हो जाता है। पर इस क्षणके अनुभवमें अतीत, वर्तमान,

भूत उनका सारा इतिहास और पुराण समाहित हो सकता है। फलकके इस अपरिमित विस्तारके कारण भी कल्पना, व्यतिरेक, अभिस्यन्दन अथवा अलंकरणकी शैलियाँ नये कविके लिए अनुपयुक्त हैं। परन्तु उसका यह मितकथन (अण्डरस्टेटमेण्ट) अल्प (इन्सिग्नीफिकेण्ट) कथनमात्र नहीं है, इसके लिए अनुभवको संघटित करनेकी अपूर्व क्षमता अपेक्षित है। विपिनकी कविताओंमें अनुभवके विस्तृत परिवेशको इसी शैलीमें ग्रहण करनेका प्रयत्न है। 'न्यूयार्कपर तीन दृष्टियाँ' नामक कविताकी प्रारम्भिक पंक्तियोंमें न्यूयार्कका एक दर्शकके अनुभवके स्तरका चित्रण है।

अजब जंगल है—
धूप के क़तरे को तरसती
होड़ लेती
उठती मीनारों का !
बड़ा घना जाल है
मकड़ी के जालों का !
जानवरों के नाद से भी भयानक है
यह शोर—बिना गले की आवाज़ों का !
कैसा दम घुटता है,
हर क़दम पर जान का खतरा है।
यहाँ—
न सूरज है !
न चाँद है !
न हवा है !

आगे इस कवितामें क्षणके अनुभवके अन्तर्गत सम्पूर्ण यान्त्रिक तथा प्राविधिक सभ्यताकी विसंगति इतिहास-पुराणके माध्यमसे व्यंजित है, जिसमें अनुभवकी आन्तरिक संगति मितकथनके कुशल प्रयोगसे ही सम्भव हो सकी है।

उपर्युक्त वैज्ञानिक दृष्टिके विकासके साथ ही वस्तुओं या स्थितियोंको रहस्यात्मक, रोमैण्टिक या काल्पनिक भावशीलताके साथ ग्रहण करना सम्भव नहीं रह गया है। यह दूसरी बात है कि कोई अपने बचपनको छोड़नेसे इनकार कर दे या कैशोरावस्थासे आगे बढ़ना न चाहे अथवा स्वप्नोंमें जीना चाहे। यद्यपि आजके जीवनकी टकराहट इसकी मुक्ति देगी, इसमें सन्देह है। अतः आजके कविका प्रत्यक्ष सहज बोध (कॉमॅन सेन्स) का है, वह स्थितियोंको वस्तुके साधारण विवरणमें स्वीकार करता है। परन्तु इस प्रकारके विवरणोंको सामान्य विषय (कॉमॅन प्लेस)के स्तरसे उठाकर संघटित अनुभवका अंग बनाना आजके कविका प्रयत्न है। उसकी प्रत्यक्षीकरणकी यह सबल तथा सहज-बोध शैली आधुनिक काव्यात्मक मनोभावके जितने निकट तथा अनुकूल है, उतना ही इसमें खतरा है कि काव्य-वस्तु मात्र सामान्य विषय न रह जाये। इसी कारण ऊपरसे नयी कविता लिखना जितना आसान जान पड़ता है, उसकी उपलब्धि उतनी ही कठिन है। इस अन्तरको हृदयंगम न करनेसे कई नये कवि अनेक बार अपनी वस्तुको काव्यानुभूतिके स्तर तक उठा नहीं सके हैं। विपिनमें इसकी सजगता है, यह अलग बात है कि कविको समान सफलता सर्वत्र नहीं मिल सकी है। पर यह भी है कि उसने अपने असफल प्रयोगसे सफल उपलब्धि-का मार्ग अन्वेषित किया है।

यही बात विपिनके विसंगति (एब्सर्डिटी) सम्बन्धी प्रयोगोंके बारेमें भी कही जा सकती है। नये कवियोंमें अनेकने विसंगतिका प्रयोग किया है। ऊपरसे काव्यमें विसंगतिका प्रयोग कौतुक, वैचित्र्य, संक्षोभके द्वारा ध्यान आकर्षित करने तथा चोट पहुँचाकर व्यंग्य ग्रहण करनेके लिए जान पड़ता है। और अधिकांश कवियोंने नयेपनके आग्रहसे इनका प्रयोग इसी उद्देश्य तथा स्तरपर किया है। पर वस्तुतः विसंगति वैज्ञानिक दृष्टिसे भी सम्बद्ध है। हम जानते हैं कि वस्तुके प्रत्यक्ष और तात्त्विक ज्ञानमें अन्तर है। कविका क्षेत्र वैसे भी ज्ञान नहीं अनुभव है, फिर जब प्रत्यक्ष तथा तात्त्विक-

के बीच विज्ञानसे मनुष्यकी सापेक्ष सीमाओंके इतने व्यवधान प्रस्तुत कर दिये हैं, उसके पास सहज-बोधके स्तरके बाद दूसरा आधार विसंगतिका है। विपिन सदा ही विसंगतियोंका प्रयोग सहज-बोधके वर्णनके साथ या अन्तर्गत करता है, और इस प्रकार इनके माध्यमसे वस्तुओं, स्थितियों तथा उनके अनुभवोंके नये आयाम उद्घाटित होते हैं। यही कारण है कि विसंगतियोंका जैसा वैचित्र्यपूर्ण, आकर्षक तथा घटाटोप प्रयोग अन्य कवियोंमें मिलता है, विपिनमें नहीं है। उसकी कवितामें सहज-बोधके स्तरपर वस्तुओंका जैसा सरल वर्णन है, वैसा ही सरल प्रयोग विसंगतियोंका भी है। 'नयी कविता' (४) में संकलित—'अभागा' में :

एक नयी रचना करने के लिए
पेपरवेट के अन्दर से निकला हो।

ऐसा ही प्रयोग है। अपेक्षाकृत लम्बी रचना 'इस युगके दावेदार'में इस प्रकारके प्रयोगोंसे एक ओर सहज-बोधके स्तरपर सारी कविता प्रतिष्ठित है और दूसरी ओर अनुभवकी संवेदना साधारण विषयकी स्थितिसे कहीं गहरे उतरी है तथा व्यापक अनुगूँज उत्पन्न करनेमें समर्थ हो सकी है। परन्तु जहाँ विसंगतियाँ वस्तु-स्थितियोंके नवीन परिप्रेक्ष्यके आधारपर इस अनुगूँजको ध्वनित-प्रतिध्वनित नहीं कर पातीं, वहाँ इनमें साधारण वैचित्र्यका कौतुक या आकर्षण भी नहीं है।

विपिनकी भाषाकी स्थिति भी यही है। किसी काव्य-परम्परासे सम्बद्ध न होनेके कारण, उसको किसीका संस्कार नहीं मिला है। यह भाषा सीधे जीवनसे उठायी गयी है। इस कारण जहाँ काव्यात्मक संवेदनको भाषा वहन नहीं कर पाती, वहाँ बहुत ही साधारण तथा अकाव्यात्मक हो गयी है। परन्तु अपनी इस स्थितिमें उसे परम्परागत रूढ़ियोंसे सहज मुक्ति मिल जाती है, जो आधुनिक मनोवृत्तिके सन्दर्भमें नयी कविताके लिए अनिवार्य है। भाषाकी परम्परा उसको एक संस्कारमें बाँधती है और

परम्परागत संस्कार जिस प्रकार वर्णनकी शैलियोंको निर्धारित कर देता है, उसी प्रकार अनुभवकी कोटियोंको निश्चित करता है। किसी भी युगमें परिवर्तित सौन्दर्यबोधके कारण उस युगके कविको भाषा तथा शिल्पकी पिछली परम्पराओंसे विद्रोह करना पड़ता है और साथ ही अपना भिन्न मार्ग खोजना होता है। इस संक्रान्तिकी स्थितिमें कवि भाषासम्बन्धी साहसिक प्रयोग करता है, जिसका अपना स्वयं आकर्षण है। विपिनके सामने यह समस्या रही ही नहीं है। अतः जहाँ वह सफल हुआ है, वहाँ सहज ही और जहाँ असफल हुआ है, वहाँ कोई चमक या आकर्षण भी उत्पन्न नहीं कर सका है। यह अलग बात है कि साहसिक प्रयोग-द्वारा आकर्षित करना कविताका उद्देश्य नहीं हो सकता।

भाषाके साथ शिल्पका प्रश्न उठता है। काव्यकी वस्तु सम्बन्धी दृष्टिके साथ शिल्पका प्रश्न जुड़ा है। पिछले काव्यमें उपमानों तथा प्रतीकोंका जैसा प्रयोग हुआ है अथवा जिस पद्धतिसे लाक्षणिक तथा व्यंजक अर्थ ग्रहण किया जाता रहा है, उसकी एक निश्चित परम्परा बन गयी है। वस्तुतः ये शैलियाँ अनुभवको भावनाओंकी प्रेरणाके रूपमें मानकर चलती हैं, इस कारण अनुभवकी आधाररूप वस्तु-स्थितियोंका महत्त्व इनमें स्वतःसिद्ध हो जाता है। नया कवि भावनाओंको अनुभवके अन्तर्गत स्वीकार कर उसे ही काव्य-रचनाकी प्रक्रियामें ग्रहण करनेका उपक्रम करता है। इस स्थितिमें उसके लिए पहलेकी काव्यशैलियाँ अनुपयोगी सिद्ध होंगी। पिछले प्रयोग बार-बार उसको तथा उसके पाठकको परम्परागत अनुभवोंकी ओर खींचते रहेंगे, अतः कवि इन प्रयोगोंके माध्यमसे अपने अनुभवको व्यक्त करनेमें असफल होता रहेगा।

इस स्थितिमें नया कवि काव्य-व्यंजनाका नवीन शैलियाँ विकसित करता है, जिनका संकेत ऊपर किया गया है। इस प्रकारकी व्यंजनामें जीवनसम्बन्धी आधुनिक दृष्टि तथा उसपर आधारित सौन्दर्यबोधको व्यक्त करनेकी शक्ति है। इस व्यंजना शक्तिके अपरिचित लगनेका कारण प्रायः

इस नवीन दृष्टि तथा बोधकी सजगताकी कमी है। और वह इसी कारण परम्परागत उपमानों तथा प्रतीकोंकी सौन्दर्यमूलक तथा अतिशयोक्तिपूर्ण योजनाके स्थानपर साधारण जीवनके सहज प्राप्य नये उपमानों तथा प्रतीकोंका उपयोग करता है। इनके माध्यमसे कवि कल्पनाको नया विस्तार प्रदान करता है, अनुभवके काव्य-बोधके लिए कल्पनाका तत्त्व सदा अनिवार्य है। साथ ही इनसे जीवनका सन्दर्भ अनुभूतिके स्तरपर स्थापित होता है। जहाँ ये साधारण जीवनसे ग्रहण किये गये उपमान तथा प्रतीक अपने प्रयोगमें मात्र वैचित्र्य और कौतूहलकी सृष्टि करते हैं, नयी कविताका उद्देश्य असफल होता है। विपिनके इस प्रकारके प्रयोगमें इसको समझा जा सकता है :

थोड़ी-सी बुद्धि और
बड़ा-सा खाली दिमाग़ ले
विषय के प्रवर्तक
मंच पर खड़े हो
टीन के झुनझुने की तरह
अपना सिर हिलाने, डुलाने और बजाने लगे
और माइक अपनी गर्दन उठाये
वक्ता और श्रोताओं के बीच
प्रश्न-चिह्न-सा खड़ा
एक मुद्रा में उनको देखता रहा
और सोचता रहा उन सभी के बारे में
जो जन्म ले अब तक उसे
न जाने क्या-क्या समझा गये !

इस कवितामें 'टीनका झुनझुना' का उपमान रूपमें तथा 'माइक' का प्रतीक रूपमें प्रयोग वैचित्र्यकी दृष्टिसे नहीं हुआ है। इनके माध्यमसे कविने आधुनिक जीवनकी कल्पनाका विस्तार उद्‌घाटित किया है। यह

कल्पना भी अपने-आपमें सार्थक नहीं मानी जा सकती, जबतक कि वह कविताके काव्यात्मक अनुभवकी आन्तरिक संगतिका अंग नहीं हो जाती। यह अनुभवकी आन्तरिक संगति नयी कविताकी विशिष्टता है और इसकी उपलब्धि आजकी कविताकी सफलता है। इसको स्थितियोंकी और भावनाओंकी संगतिसे अलग करके समझा जा सकता है। आजकी कविता स्थितियों तथा भावनाओंमें अपनेको नहीं बाँधती, इसलिए अनुभवकी आन्तरिक संगतिमें ही वह सफल होती है। विपिनको, भाषा, शिल्प तथा विषयको अत्यन्त साधारण स्तरसे उठाकर इसी अनुभवकी आन्तरिक संगतिके बलपर कविता बनानेमें अनेक बार सफलता मिली है। पर जहाँ यह ऐसा नहीं हो सका है, वहाँ अनुभवके स्थानपर कथ्य या निष्कर्ष प्रधान हो जाता है। उपर्युक्त कवितामें आन्तरिक संगतिका अपेक्षित निर्वाह नहीं हो सका है :

मजमा उठ गया
श्रोता और वक्ता चले गये
दीवारें खड़ी सोचती रहीं
वह सब इश्तहार
जो आदमी ने इतनी मेहनत से
बनाये और लगाये थे
सहसा बेकार हो गये !

कवितामें इस स्थल तक संघटन रक्षित है, पर आगे :

बिजली के खम्भों ने सुना
माइक ने जाते समय
शहर की दीवारों से कहा
आज सब थक गये हैं
कल वक्ता बदलेंगे

और विज्ञापन बदलेंगे
कल फिर ज़िन्दगी के
हज़ारों दिन बीतेंगे
अनर्गल में।

इन अन्तिम पंक्तियोंमें कथ्यकी संगति अधिक पूर्ण हो जानेसे अनुभव-की आन्तरिक संगति विशृंखल हो गयी है।

इस आन्तरिक संगतिको प्राप्त करनेकी प्रक्रिया बौद्धिक है और इसी अर्थमें आधुनिक कविता बौद्धिक कही भी जा सकती है। जो आजकी कवितामें बौद्धिकताका यह अर्थ लेते हैं कि उसमें स्थितियोंकी, विचारोंकी तथा समस्याओंकी तार्किक निष्पत्तियोंका आग्रह है, वे या तो ग़लत रचना-को कविता मानते हैं या उनके मनमें कविताके बारेमें ही भ्रम है। नया कवि भी इस प्रकारकी निष्पत्तियोंको कविता नहीं मानता और न उसकी काव्य-रचनाका यह उद्देश्य ही है। अपनी काव्य-रचनाकी समग्र संवेद-नात्मक प्रक्रियामें वह बौद्धिक रूपसे जागरूक रहता है, जिसके द्वारा वह एक ओर अपनी रचनाके प्रति अपेक्षित सौन्दर्यानुभूतिकी दूरी (एस्थेटिक डिस्टेन्स) बनाये रहता है और दूसरी ओर अतिरिक्त भावावेगोंसे तथा अतिरंजित कल्पनाओंसे मुक्त हो पाता है। इस बौद्धिक प्रवृत्तिके कारण वह सम्पूर्ण समसामयिक जीवन और उसकी समस्याओंके प्रति जागरूक अवश्य हो सकता है, पर कविके रूपमें उनकी तार्किक संगतियाँ ढूँढ़ना, उनसे निष्कर्ष निकालना अथवा उनका समाधान प्रस्तुत करना उसका कार्य नहीं है। यह व्यापक जागरूकता उसके व्यक्तित्वमें अपेक्षित है, क्योंकि इस प्रकार वह अनुभवके व्यापक सन्दर्भोंको भलीभाँति निर्धारित कर सकता है। और इसके माध्यमसे वह अपने काव्यात्मक अनुभवमें अतिरिक्त महत्त्व-पूर्ण अंश (जिसे विपिनने धन + कहा है) कविताकी आन्तरिक संगतिमें व्यंजित कर सकता है, जो अपनी अनुगूँजमें सहभागी पाठकके लिए अर्थके नये क्षितिज खोल सके।

आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि अपनी सम्पूर्ण प्रगतिके बावजूद आजके युगको निश्चित दिशा नहीं दे पा रही है। हमारा प्रकृतिसम्बन्धी समस्त ज्ञान हमारी विजय तथा शक्तिका अनुभव तो है पर हमारी असीम निरुपायता-का एहसास भी कराता है। ज्ञान-विज्ञानकी दिशामें आगे बढ़ते रहनेपर भी हमारा असन्तोष कम नहीं होता। सम्पूर्ण वैज्ञानिक, प्राविधिक तथा यान्त्रिक उन्नतिके बावजूद हम किसी मानवीय उद्देश्य अथवा सार्थकताको खोज पानेमें असमर्थ हैं। इस मनोवृत्तिके युगकी कवितामें असन्तोष, अर्थ-हीनता तथा उद्देश्यहीनताका अनुभव प्रधान होना स्वाभाविक है। इसीके साथ आशाहीनता (निराशा नहीं), अ-नैतिकता (एमॉरलिटी) तथा निर्ममता (कैलयूस्नेस) का अनुभव भी सम्मिलित किया जा सकता है। विपिनकी कविताओंमें आधुनिक जीवनके इन्हीं अनुभवोंको व्यंजित किया गया है :

बहुत दिन पहले
हम अपनी-अपनी आत्माएँ ले
पृथ्वी पर चढ़े थे
दूर जाना था हमें
राह में भटके
यहाँ आ अटके
अपने को बहलाने को
ज़मीन पर बना लिये हैं
राहों के जाल
और गन्तव्यों के छत्ते
सफ़र अब भी करते हैं
असबाब बांध गाड़ियों पर चढ़ते हैं
पहुँचते हैं यहाँ-वहाँ
पर भूले हैं आत्मा की राह

कब चले थे

जाना था कहाँ ?

इस कवितामें अर्थहीनता तथा उद्देश्यहीनताको कुछ स्पष्ट ढंगसे व्यक्त किया गया है, इसी कारण यह उतनी सफल नहीं है, जब कि अन्य कई कविताओंमें इन्हीं अनुभवोंको अधिक गहरे स्तरोंपर संवेदित किया जा सका है। यहाँ यह कहना प्रासंगिक है कि किसी युगका कवि मूल्योंकी स्थापना नहीं करता, इसी प्रकार आधुनिक कवि भी आधुनिक जीवनके व्यापक तथा गहन अनुभवोंको अपनी रचना-प्रक्रियामें ग्रहण करनेका उपक्रम मात्र करता है। यह अलग बात है कि उसकी व्यंजनाके आधारपर आगत मूल्योंका संचरण हो सके। काव्यका उद्देश्य उपदेश देना या समस्याका समाधान प्रस्तुत करना कभी नहीं रहा है। आजकी कविताका लक्ष्य तो मनोरंजन करना या आनन्द देना भी नहीं है। आधुनिक पाठक कविकी सर्जन-प्रक्रियाका सहभागी होकर अपने अनुभव-क्षेत्रमें उसे पुनः संगठित करता है। वैसे तो सदा पाठककी परिभाषा की गयी है, किसी भी युगमें प्रत्येक व्यक्तिको काव्यकृतिके रसास्वादनका अधिकारी नहीं माना गया है। पर आजकी स्थितिमें तो कविके साथ पाठकका भावबोध प्रायः निर्धारित हो जाता है। आधुनिक कविके भाव-बोध और रचना-प्रक्रियाके स्तरका अनुभव और समसामयिक चेतनाकी माँग आजके पाठकसे अनिवार्यतः की जा सकती है। कवि अपनी काव्यात्मक संवेदना, आन्तरिक संगति तथा संरचनात्मक संघटनाके माध्यमसे पाठकके अनुभवको सक्रिय करता है, उसे कल्पनात्मक विस्तार देता है, जिससे वह कवितामें निहित संवेदनके गहन स्तरों तथा अतिरिक्त अनुगूँजोंके नये आयामोंका अन्वेषण कर सके।

विपिन-जैसे एकदम आधुनिक मनोवृत्तिके कवियोंकी उपलब्धिके बारेमें ठीक ढंगसे कह सकना आसान नहीं है। क्योंकि इस प्रकारकी कविताकी सफलता और उपलब्धिका ठीक अनुभव ऐसे ही पाठक कर सकेंगे, जिनमें

वर्तमान युगकी संवेदनशीलता विकसित हो। यह कविता परम्परागत शिल्प-विधानों तथा बाह्य आवरणोंसे इस सीमा तक मुक्त हो चुकी है और आन्तरिक तथा संरचनात्मक संगति तथा संघटनापर इस सीमा तक आश्रित हो गयी है कि एक तो परम्परागत तथा बाह्य नियमोंके आधार-पर इसका विवेचन किया ही नहीं जा सकता और यदि बाह्य लक्षणोंके आधारपर कुछ कहनेका प्रयत्न किया भी जाये तो उससे ऐसे हास्यास्पद परिणाम निकलेंगे, जिनकी प्राय: नयी कविताके बारेमें चर्चा की जाती है। अत: नयी मनोवृत्तिके पाठकको यह संस्कार इन कविताओंसे मिल सकेगा, जिससे वे इस कोटिकी उत्कृष्ट रचनाओंके भावबोधके गहन स्तरों तक पहुँच सकें और पुन: नये कवियोंकी सम्भावनाओं तथा उपलब्धियोंकी खोज इन्हीं पाठकों (आलोचकों) की संवेदनशीलताके आधारपर हो सकेगी। वस्तुत: यह स्थिति अन्योन्याश्रित है।

■ ■ ■
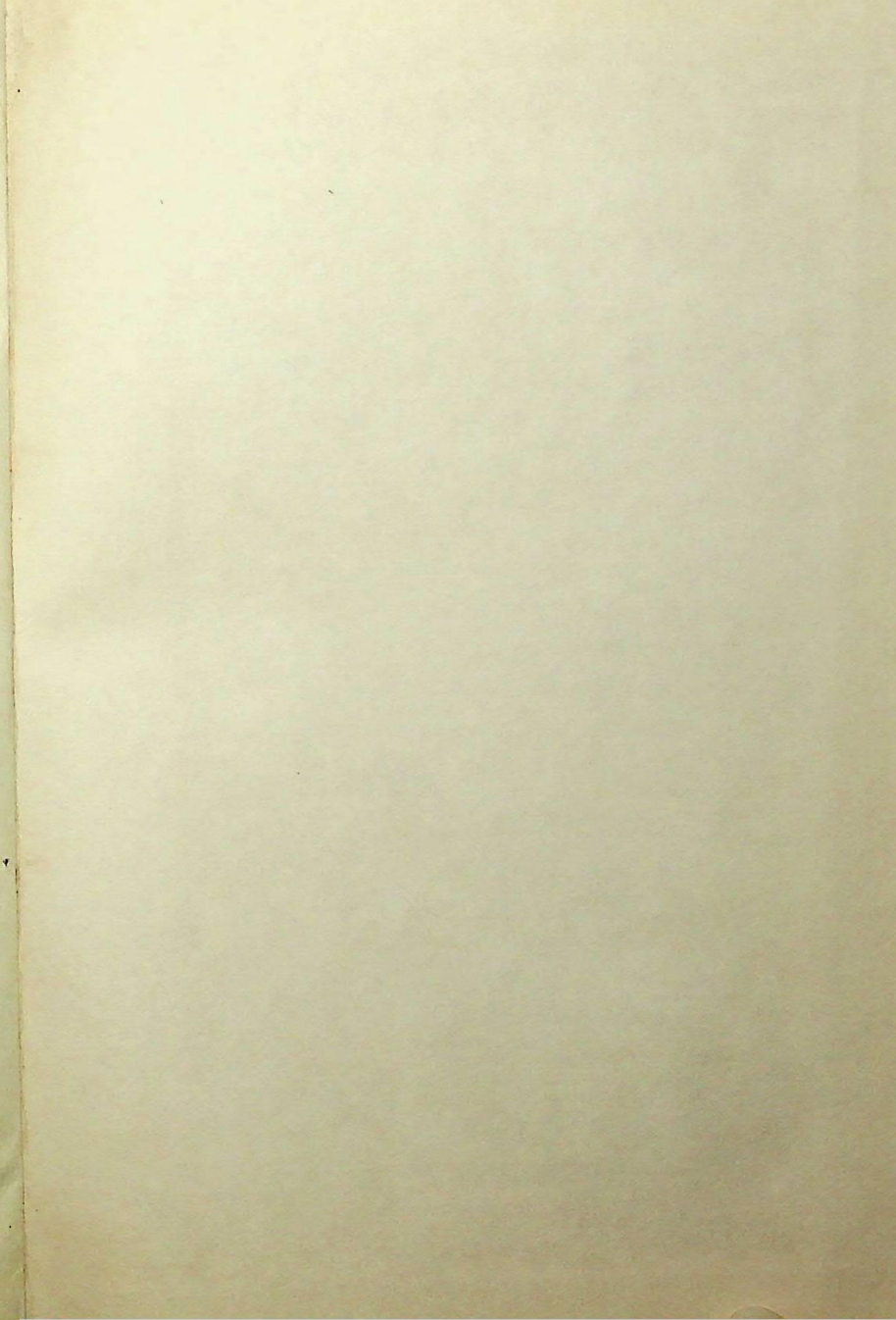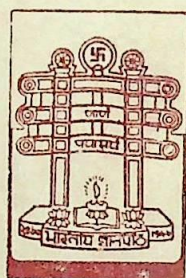
भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञानकी विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्रीका
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक-हितकारी
मौलिक-साहित्यका निर्माण

■

संस्थापक

साहू शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा

श्रीमती रमा जैन

■

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५